वेदों का दिव्य संदेश

वेदमूर्ति, तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

वेद परमपिता परमेश्वर की अमर वाणी हैं। वेदों के द्वारा हमको सांसारिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार का श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त होता है। वेदों का स्वाध्याय पापों से दूर रखकर हमारे जीवन में आशा एवं उल्लास की वृद्धि करता है। वेद-ज्ञान जीवन को शांत एवं पवित्र बनाकर कुपथ से सुपथ की ओर ले जाता है। यह व्याकुल एवं भ्रमित मन को सचेत करके उचित मार्गदर्शन भी देता है।

आप इस ग्रंथ का श्रद्धापूर्वक पठन-चिंतन-मनन करके कर्त्तव्य पथ पर आगे बढ़ने का निश्चय करें।

AG 31

वेदों का दिव्य संदेश

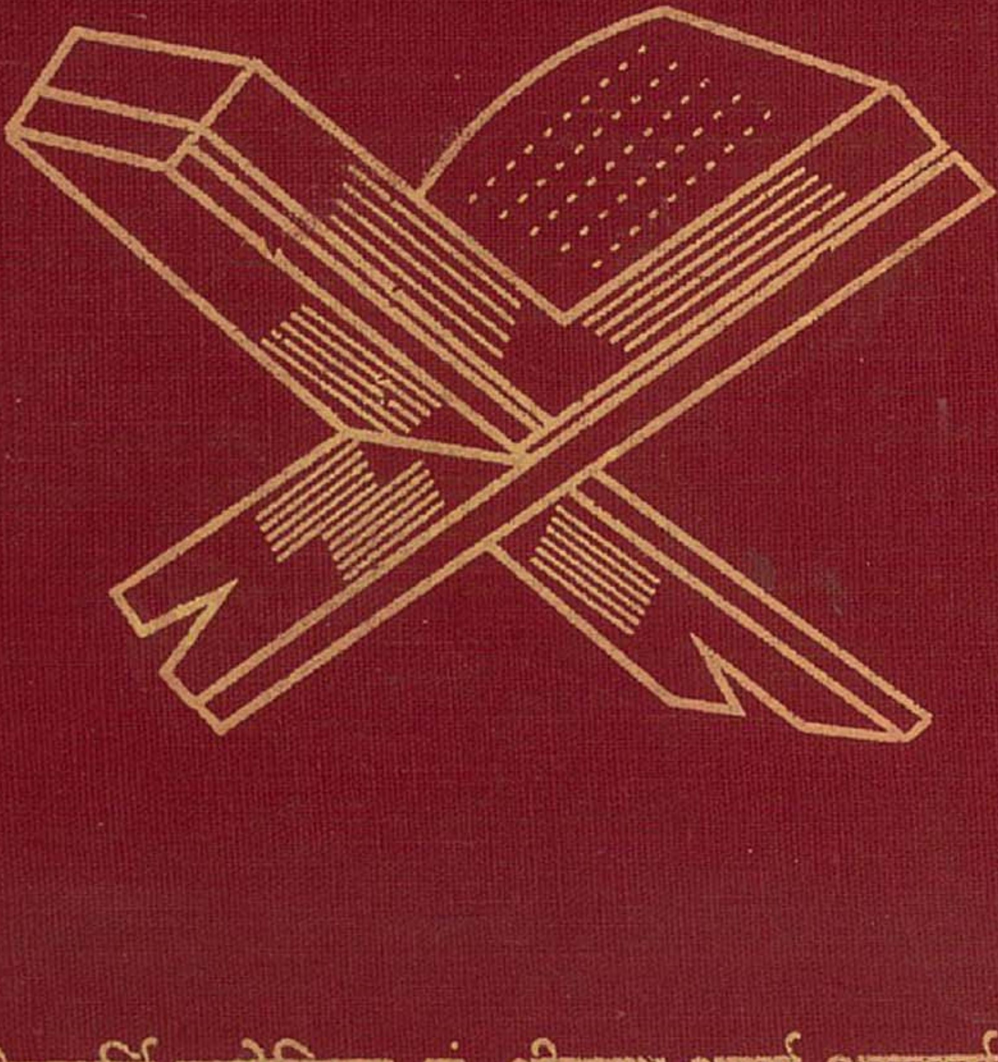

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ-पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

सप्रेम भेंट

....

....

हम प्रेम एवं स्नेहपूरित भावनाओं के साथ यह पुस्तक आपको भेंट कर रहे हैं । इसका स्वाध्याय आपके उज्ज्वल भविष्य की संभावनाओं को कई गुना बढ़ाने में सहायक होगा । प्रतिदिन केवल एक वेद मंत्र की व्याख्या का अध्ययन, उस पर गंभीर चिंतन-मनन और उसके संदेश को अपने जीवन में अपनाने का निष्ठापूर्वक प्रयास, आपके व्यक्तित्व को निखारने हेतु जादू का सा कार्य करेगा । परिवार के अन्य सदस्य और मित्र भी इससे लाभान्वित होंगे ।

परम पूज्य गुरुदेव का आशीर्वाद सदैव आपके साथ है ।

शुभेच्छु

....

....

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना, मथुरा

◉

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

◉

१९५८ : प्रथम संस्करण

१९९० : द्वितीय संस्करण

१९९५ : तृतीय परिवर्द्धित एवं संशोधित संस्करण

(पांच खंडों में)

१९९६ : गुजराती संस्करण (पांचों खंड सम्मिलित एवं सजिल्द)

१९९७ : अंग्रेजी संस्करण (पांचों खंड सम्मिलित एवं सजिल्द)

१९९७ : हिंदी संस्करण (पांचों खंड सम्मिलित एवं सजिल्द)

आवृत्ति **२००७**

◉

मूल्य : ५०–०० रुपये

◉

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस,

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

अनुक्रमणिका

प्रथम संस्करण (१९५८) की भूमिका	६
तृतीय संस्करण (१९९५) की भूमिका	८
लेखकीय समर्पण	१०
खण्ड १ ब्राह्मणत्व	११ से ८८
खण्ड २ आत्मबल	८९ से १६६
खण्ड ३ चरित्र निर्माण	१६७ से २४४
खण्ड ४ दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन	२४५ से ३२२
खण्ड ५ परिवार और स्वास्थ्य	३२३ से ४००

वर्ष १९५८ में प्रकाशित प्रथम संस्करण की भूमिका

वेद लौकिक और पारलौकिक ज्ञान के ग्रंथ हैं । यद्यपि उनकी भाषा के अति प्राचीन और अप्रचलित होने के कारण उनके अर्थ के संबंध में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है, पर इससे कोई इनकार नहीं कर सकता कि उनमें उच्चकोटि के आध्यात्मिक सिद्धांत, विद्या, कला और व्यवहार संबंधी ज्ञान का समावेश है । यद्यपि यह ज्ञान संक्षिप्त और सूत्र रूप से एक-एक, दो-दो ऋचाओं में दिया गया है, जिसका आशय प्रत्येक पाठक शीघ्र हृदयंगम नहीं कर सकता, पर उन्हीं का आधार लेकर विद्वानों ने बड़े-बड़े शास्त्रों और अध्यात्म विद्या के उन महान ग्रंथों की रचना की है, जो हजारों वर्षों से उत्थान मार्ग के पथिकों का मार्गदर्शन कर रहे हैं ।

वेदों के ज्ञान की एक विशेषता यह भी है कि वह किसी खास जाति, संप्रदाय, मत-मतांतर के अनुयाइयों की दृष्टि से प्रकट नहीं किया गया है । वरन उसका उद्देश्य और क्षेत्र सार्वभौमिक है और वह सभी देश तथा सभी समयों के सभ्य और सुसंस्कृत नरतनधारियों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है । उनमें जो उपदेश और मार्गदर्शन मिलता है वह मनुष्य मात्र के लिए कल्याणकारी और उद्धारक सिद्ध होता है ।

वेदार्थ के संबंध में जो मतभेद दिखाई पड़ता है, वह आधुनिक नहीं अति प्राचीन भी है । साधारण पाठक तो समझते हैं कि वेदों के महत्व को घटाने के लिए विधर्मी, विदेशी लेखकों ने उनके अर्थ का अनर्थ किया है और उन्हें अर्ध सभ्य पशुपालकों के गीत बताने की घृष्टता की है । पर अब से हजारों वर्ष पहले भी प्राचीन भारतीय विद्वानों ने वेदों के तरह-तरह के भाष्य किए हैं । धर्मप्रेमी सज्जनों ने उनका अर्थ आध्यात्मिक दृष्टिकोण से किया है और अन्य लोगों ने उन्हीं ऋचाओं को तोड़-मरोड़ कर उनका अर्थ वाममार्ग के सिद्धांतों

के अनुसार किया है । यह एक प्रसिद्ध तथ्य है कि रावण ने वेदों का भाष्य हिंसात्मक सिद्धांतों की पुष्टि करते हुए किया था, जिसका बहुत थोड़ा अंश अभी तक प्राप्त है ।

इस प्रकार इन मतवादी भाष्यकारों ने वेदों को बहुत क्षति पहुंचाई है और उनके सम्मान तथा उपयोगिता को सर्वथा घटा दिया है । जब एक ही मंत्र के तीन-चार तरह के अर्थ सुनने में आवें और एक विद्वान दूसरे से सर्वथा विपरीत आशय प्रकट करे तो इससे लोगों में शंका और अश्रद्धा पैदा होना स्वाभातिक ही है ।

पर अब मध्यकालीन अंधकार युग में फैली हुई इन विपरीत और परस्पर विरोधी व्याख्याओं के निराकरण का समय समीप आ गया है । आधुनिक विद्वानों ने वैदिक मंत्रों का विश्लेषण करके उनके मूल आशय को प्रकट किया है और उनमें निहित मुख्य-मुख्य शिक्षाओं, उपदेश तथा सत्य सिद्धांतों को ऐसे स्पष्ट तथा सरल रूप में प्रकट किया है कि सामान्य पाठक भी उनकी महत्ता को अनुभव कर सकते हैं और उनसे लाभ उठा सकते हैं । प्रस्तुत पुस्तक में ऐसी ही निष्पक्ष और यथार्थ आशय को प्रकट करने वाली व्याख्याओं के आधार पर कुछ चुनी हुई ऋचाओं का सारांश संग्रह किया गया है । उनका अनुशीलन करने से पाठकों को विदित होगा कि वेद वास्तव में विचार रूपी रत्नों की खान ही हैं । उनका अनुसरण करने से मनुष्य, जीवन के दोष और दुरितों से छुटकारा पाकर, उच्च जीवन पालन करने वाला बन सकता है । वेदों में सत्य, अहिंसा, क्षमा, दया, उदारता, परोपकार, सद्व्यवहार, संगठन और सहकारी जीवन आदि के विषय में जो अमूल्य उपदेश दिए हैं उनसे लाभ उठाकर प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन को सफल बना सकता है, इसमें संदेह नहीं ।

श्रीराम शर्मा आचार्य

परिवर्द्धित एवं संशोधित तृतीय संस्करण की भूमिका

वेद परमपिता परमात्मा की अमर वाणी है । संसार के सभी तत्त्ववेत्ताओं नें स्वीकार किया है कि वेद प्राचीनतम ग्रंथ हैं और समस्त विश्व साहित्य के मुकुटमणि हैं । वेदों में ज्ञान विज्ञान का अक्षय भंडार भरा है और उनके प्रत्येक शब्द से, एक-एक अक्षर से अमृत रस की धारा बहती है । वेद संसार की समस्त विद्याओं के मूल स्त्रोत हैं ।

ऐसे अमूल्य ग्रंथ का हमें प्रीतिपूर्वक, श्रद्धापूर्वक पाठ करना चाहिए । उन पर चिंतन मनन करके हमें अपने कर्तव्य का निश्चय करना चाहिए । वेद से हमें सांसारिक व आध्यात्मिक दोनों प्रकार का उच्चकोटि का ज्ञान प्राप्त होता है । वेदों का स्वाध्याय हमें पापों सें बचाता है । हमारे जीवन में आशा और उल्लास का संचार करता है । जीवन को शांत, पवित्र और निर्विकारी बनाता है । हमें कुपथ से हटाकर सुपथ पर चलाता है और जब हम विचलित होने लगते हैं तो हमें सचेत व सावधान भी करता है ।

वेद मंत्रों के अर्थ का जितना चिंतन किया जाए, वह जीवन की समग्रता को उतना ही अधिक आलोकित कर देता है । प्रत्येक मंत्र मनुष्य जीवन के सभी पक्षों को समुन्नत बनाने का पथ प्रशस्त करने में समर्थ है ।

परम पूज्य गुरुदेव ने चारों वेदों से चुने हुए मंत्रों का समावेश इस पुस्तक में किया था । जन सामान्य इन मंत्रों से क्या प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं इसी उद्देश्य से प्रत्येक मंत्र के भावार्थ के बाद, उनसे प्राप्त संदेश को सरल व बोधगम्य भाषा में प्रस्तुत किया गया है । पर ये संदेश उस मंत्र की सीमा नहीं हैं । गहन, चिंतन-मनन करने पर अनेकानेक संदेश व प्रेरणाएं उसी मंत्र से प्राप्त हो सकेंगी । कुल १८५ मंत्रों की व्याख्या पांच खंडों में प्रकाशित की जा रही है, जो इस प्रकार हैं-

खंड १. ब्राह्मणत्व : किसी कुल या जाति विशेष में जन्म ले

लेने से ही कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता । गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता और लोकहित के लिए अपने जीवन का समर्पण ही उसे ब्राह्मण बनाता है । इस खंड में ऐसे मंत्रों का संकलन है जो ईश्वर के अस्तित्व, उपासना और ब्राह्मण के दायित्वों पर प्रकाश डालते हैं ।

खंड २. आत्मबल : जीवन लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य को सतत संघर्ष करना होता है । संसार में व्याप्त कुरीतियों, दुष्प्रवृत्तियों और भ्रष्टाचार से लोहा लेकर सद्प्रवृत्तियों और ईमानदारी को जीवन में धारण करने के लिए प्रबल आत्मशक्ति की आवश्यकता होती है । इस लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक मंत्रों की व्याख्या ।

खंड ३. चरित्र निर्माण : आत्मोन्नति के लिए उत्कृष्ट चरित्र पहली आवश्यकता है । जीवन में सद्‌गुणों का महत्व प्रदर्शित करने वाले मंत्रों की सरल विवेचना ।

खंड ४. दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन : दुष्प्रवृत्तियां और दुर्व्यसन हंसते-खेलते मानव जीवन को नरक बना देते हैं । इनसे छुटकारा पाने की प्रेरणा देने वाले मंत्रों का संकलन और उन पर विचार ।

खंड ५. परिवार और स्वास्थ्य : गृहस्थ आश्रम पूरी समाज व्यवस्था की रीढ़ है । इसकी उत्कृष्टता पर ही समाज में सुख, शांति व समृद्धि का स्वर्गीय वातावरण बनता है । सुखी परिवार, सुगढ़ एवं सुसंस्कृत नारी तथा उत्तम स्वास्थ्य के महत्व को दर्शाते मंत्रों की प्रेरणा जो हमारे जीवन को तेजस्वी व यशस्वी बनाएंगे ।

इन पांचों को लिखने में समय व श्रम किसी का भी लगा हो पर इनमें व्यक्त विचार परमपूज्य गुरुदेव के ही हैं और उन्हीं की प्रेरणा से यह महान कार्य संभव हो सका है । गुरु-प्रेरणा ने ही यह लेखन कार्य किया है । इन मंत्रों की व्याख्या का स्वाध्याय करके एवं उन पर चिंतन-मनन करके आपका जीवनोद्देश्य सरलता से प्राप्त हो सकेगा ।

व्यवस्थापक
युग निर्माण योजना, मथुरा

लेखकीय समर्पण

इस पुस्तक को लिखने की प्रेरणा पूज्य पं० लीलापत जी शर्मा ने दी थी। सामान्यजन भी वेद मंत्रों के संदेश को हृदयंगम करके अपने आचरण व जीवन को सुधार सकें, इसी दृष्टिकोण से प्रत्येक मंत्र की दो पृष्ठों में व्याख्या लिखने का निर्णय लिया गया था।

जब यह पुनीत कार्य प्रारंभ किया तो लेखनी उठाने में हाथ कांप रहे थे। अतः परमपूज्य गुरुदेव का आह्वान करके उन्हीं से यह निवेदन किया कि वे इसे पूरा करने की सामर्थ्य प्रदान करें। करुणा-सागर, श्रद्धेय गुरुदेव ने हम पर अपने अनुदान-वरदान की अजस्र वर्षा करते हुए स्वतः ही हमारी लेखनी को चलाकर अपना यह कार्य संपन्न किया है।

गुरुवर की कृपा से उनके द्वारा लिखाई गई यह पुस्तक उन्हीं के श्री चरणों में सादर समर्पित है।

वेदों का दिव्य संदेश

खंड-9

ब्राह्मणत्व

किसी कुल या जाति विशेष में जन्म ले लेने से
ही कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता । गुण, कर्म,
स्वभाव की उत्कृष्टता और लोकहित के
लिए अपने जीवन का समर्पण ही
उसे ब्राह्मण बनाता है । इस खंड
में ऐसे मंत्रों का संकलन है जो
ईश्वर के अस्तित्व, उपासना
और ब्राह्मण के दायित्वों
पर प्रकाश
डालते
हैं ।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो
दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति,
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

(ऋग्वेद १/१६४/४६)

भावार्थ : परमात्मा की विभिन्न शक्तियां ही अनेक देवताओं के नाम से पुकारी जाती हैं । पर वह एक ही है । इसीलिए गुण कर्म स्वभाव के अनुसार उस परमात्मा की उपासना करें ।

संदेश : परमपिता परमेश्वर सर्वत्र व्याप्त है । यह विशाल संसार, अंतरिक्ष, कोटि-कोटि ब्रह्मांड, इन सबके कण-कण में ईश्वर की असीम सत्ता विद्यमान है । वही इस सबका नियंता है, नियामक है । 'ईशा वास्यमिदं सर्वम्'-हर वस्तु में, जड़-चेतन में, हमारे रोम-रोम में ईश्वर का वास है । वह निराकार परमेश्वर दिखाई नहीं देता परंतु वही हमारी प्राण शक्ति है । सोते-जागते हर समय वह हमारे साथ रहता है, हमारे भीतर भी रहता है, बाहर भी और चारों ओर भी । जैसे रबर के गुब्बारे में हवा भरी होती है । गुब्बारे के अंदर भी हवा है, बाहर भी और चारों ओर भी पर वह हमें दिखाई नहीं देती । जैसे दूध की प्रत्येक बूंद में घी का अंश छिपा होता है उसी प्रकार ईश्वर भी सर्वव्यापक है । संसार के कोने-कोने में, सभी जीव-जंतुओं में, पशु-पक्षियों में, सभी प्राणियों के रोम-रोम में उस परमेश्वर की सत्ता विद्यमान है । उसके लिए जात-पांत का, पूरब-पश्चिम या उत्तर-दखिन का कोई झगड़ा नहीं है । सभी उसके लिए एक समान हैं ।

इस सर्वव्यापक परमेश्वर की अनेकानेक शक्तियां हैं जिन्हें संसार के विभिन्न मतावलंबी भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं ।

सब मनुष्यों का परमपिता परमेश्वर एक ही है । वही इंद्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम सब कुछ है । चाहे उसे राम कहो या कृष्ण, दुर्गा कहो या काली, शिव शंकर कहो या अल्लाह या गॉड । नाम का नहीं, ईश्वर के गुणों का महत्त्व है । उन गुणों को अपने जीवन में उतारने, उनके अनुसार आचरण करने और जीवन में व्यवहार करने को ही परमात्मा की उपासना करना कहते हैं । इस प्रकार उपासना करने से, बारंबार के अभ्यास से वे गुण मनुष्य के स्वभाव का अंग बन जाते हैं और वह उत्तरोत्तर श्रेष्ठता को प्राप्त करते हुए देवत्व की ओर अग्रसर होता है ।

परमात्मा के अलग अलग नामों को लेकर झगड़ा करना सबसे बड़ी मूर्खता है । 'एकं सदविप्रा बहुधा वदन्ति', एक ही परमेश्वर को विद्वान लोग भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं । उसका कोई भी नाम लें पर उसके गुणों को अपने कर्म व स्वभाव का अभिन्न अंग बनाने हेतु सतत प्रयास करते रहें ।

आजकल अधिकांश लोग ईश्वर के गुणों का न तो चिंतन करते हैं और न उन्हें अपने आचरण में उतारने का प्रयास करते हैं लेकिन उसके नाम पर इस प्रकार लड़ने मरने को तैयार रहते हैं मानो उस पर उनका ही एकाधिकार है । वे समझते हैं कि केवल मंदिर के भीतर ही उसकी सत्ता है, बाहर चाहे जो भी पापकर्म करो भगवान देखता ही नहीं । उसके सर्वव्यापक रूप को तो जैसे भुला ही दिया गया है । वह अनेकानेक रूपों में सर्वत्र विद्यमान है, हर समय हमारे साथ है, संसार के कोने-कोने में उसकी सार्वभौम सत्ता है, इस तथ्य को सदैव ध्यान में रखना अत्यावश्यक है ।

प्रभु के नाम और उसके गुणों का चिंतन करते रहें ।

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र
विश्वं भवत्येकनीडम् ।
तस्मिन्निद ७ँ सं च विचैतिसर्व ७ँ,
सऽओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥

(यजुर्वेद ३२/८)

भावार्थ : विद्वान लोग अपने ज्ञान से, चिंतन-मनन से और अनुभव से यह जान लेते हैं कि परमात्मा प्रत्येक पदार्थ में छिपा हुआ है । वही संपूर्ण जगत को आश्रय देने वाला है । उसी से सारी सृष्टि प्रकट होती है । सभी प्राणी उससे उत्पन्न होते हैं और प्रलयकाल में उसी में लय हो जाते हैं ।

संदेश : संसार में आस्तिक व नास्तिक सभी प्रकार के लोग हैं । जो अनीश्वरवादी हैं, वे भी इस बात को मानते हैं कि कोई 'शक्ति' है जो इस सारे संसार को, लाखों-करोड़ों ब्रह्मांडों को एक निश्चित लय से चलाती रहती है । चाहे बुद्धि व तर्क की कसौटी पर परखें या फिर श्रद्धा व विश्वास के आधार पर मानें, ईश्वर की सर्वव्यापकता में कोई संदेह तो हो ही नहीं सकता । वह प्रत्यक्ष दिखाई न दे पर हर स्थिति में हम उसको अनुभव कर सकते हैं । शर्त केवल यही है कि तर्क-कुतर्क के दुराग्रह में फंसकर हम सत्य को झुठलाने का प्रयास न करें । परमात्मा सारे ब्रह्मांड में व्याप्त है । यह सारा विश्व उसी का रूप है, 'पुरुष एवेद ७ँ सर्वम्' ।

इस प्रकार भगवान की हर जगह उपस्थिति को स्वीकार कर लेने से मनुष्य के आत्मबल में वृद्धि होती है । हर समय एक शक्तिशाली, समर्थ मित्र व सहायक के सान्निध्य में रहने से प्रतिभा, क्षमता व पौरुष का जागरण होता है और सत्कर्मों में मन की प्रवृत्ति बढ़ती है ।

ईश्वरीय सत्ता के दिव्य प्रकाश से अभिभूत होकर मनुष्य स्वतः ही पापकर्मों से बचा रहता है । उसे यह भान रहता है कि वह परमात्मा की दृष्टि से ओझल नहीं है और उसके हर अच्छे बुरे कर्म का फल उसे अवश्य मिलेगा । इस प्रकार जहाँ एक ओर मनुष्य सत्कर्मों में प्रवृत्त होता है वहीं दुष्प्रवृत्तियों से बचा भी रहता है और देवता बनने के मार्ग पर बढ़ता जाता है ।

संसार में हर वस्तु किसी न किसी आधार पर टिकी है । यदि आधार छोटा और कमजोर होगा तो उस वस्तु की स्थिति डांवाडोल और अस्थिर रहेगी । और यदि आधार सबल और ठोस होगा तों वह वस्तु टिकाऊ और स्थिर रहेगी । सर्वव्यापी परमेश्वर को अपना आधार बना लेने वाला सदैव निश्चिंत रहता है । माया, मोह, लोभ, अहंकार आदि के झंझावात भी उसे डिगा नहीं पाते । उसे सदैव अपने हृदय में ईश्वर के दर्शन होते रहते हैं । उस परमपिता परमात्मा का ही सूक्ष्म अंश हमारी आत्मा है । उसी से इस शरीर में चेतना का प्रवाह होता है । शक्ति का अजस्त्र भंडार हमारे अपने ही भीतर विद्यमान है पर हम अज्ञानवश इस तथ्य को जान ही नहीं पाते और सदैव अपने दुर्भाग्य का रोना रोते रहते हैं । जब हम अपने अर्जित ज्ञान से, अनुभव से और विवेक बुद्धि से चिंतन करते हैं तो हमें अपने भीतर परमात्मा की असीम शक्ति की अनुभूति होती है । यह शक्ति हमारे आत्मबल को बढ़ाती है और जीवन पथ की बाधाओं पर विजय पाने का मार्ग सरल हो जाता है । हर समय दयालु पिता का वरद हस्त हमारे ऊपर रहता है और हमारी रक्षा करता रहता है ।

सर्वशक्तिमान परमेश्वर का आश्रय ही सांसारिक तापों से मुक्ति प्रदान कर सकता है ।

**अग्निस्तिग्मेन शोचिषा य थ्ठं सद्विश्वं न्यत्रिणम् ।
अग्निर्नो व थ्ठंसते रयिम् ॥**

(सामवेद-२२)

भावार्थ : हे अग्निदेव ! आप सदैव सबके साथ न्याय करते हैं । दुष्ट दुराचारी पुरुषों को तथा विघ्नकारक तत्वों को आप अपनी प्रज्ज्वलित तीक्ष्ण ज्वालाओं से नष्ट कर दें और जो धर्मात्मा हैं, आपकी स्तुति तथा उपासना करते हैं, उनको बल व ऐश्वर्य प्रदान करें ।

संदेश : इस मंत्र में ईश्वर के न्यायकारी स्वरूप की स्तुति की गई है । वह किसी के साथ पक्षपात नहीं करता । यह असंभव है कि हम किसी भी प्रकार से चापलूसी करके उसे अपने वश में कर लें और मनचाहा कार्य करा लें । चारों ओर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि अनेक व्यक्ति तरह तरह से भगवान की पूजा-उपासना करते हैं । अनुष्ठान व कर्मकांड करते हैं फिर भी सदैव अभावग्रस्त, दुखी और विपन्न स्थिति में ही रहते हैं । इसका कारण यही है कि उनकी भावना सदैव स्वार्थ व दुराचार की रहती है । परमात्मा की न्याय की तुला में तो यह कृत्य दिखावा और छलावा मात्र ही हैं और दंड के योग्य हैं ।

दूसरी ओर जो व्यक्ति पूजा-उपासना के कर्मकांड तो नहीं करते पर हर समय धर्मानुसार आचरण में लगे रहते हैं उन पर भगवान के अनुदान-वरदान की सतत वर्षा होती रहती है । सभी मनुष्य उसी परमपिता परमात्मा की संतान हैं और एक समान हैं । जो जैसा कर्म करता है उसी के अनुसार उसे फल मिलता है । 'अवश्यमेव भोक्तवयं कृतं कर्म शुभाशुभम्'-इस तथ्य को हम

अक्सर भूल जाते हैं । हमारे कर्मों का फल हमें अवश्य मिलता है । आज मिले या कल, इसी जन्म में या अगले जन्म में, पर कर्मों के फल से कोई बच नहीं सकता । यही ईश्वर का न्यायकारी स्वरूप है । इस तथ्य पर विश्वास जितना ही दृढ़ होता जाता है उतना ही हमारे भीतर सात्विकता की भावना विकसित होती है । मन का अधोगामी खिंचाव नष्ट होकर उसका ऊर्ध्वगामी होना ही सात्विकता है । श्रेष्ठ बनने की आकांक्षा अंत:करण में जगाकर उसके लिए प्रयत्नशील होना, यही सात्विकता है । सत, रज और तम इन तीन गुणों से संपूर्ण सृष्टि व्याप्त है । मनुष्य का मन भी इन्हीं तीन गुणों से बना है । तामसी गुणों का त्याग करके राजसी गुणों में और फिर राजसी गुणों को भी त्यागकर सात्विक गुणों का विकास करना ही वैदिक धर्म का चरम लक्ष्य है । यह ज्ञान ही हमें दुष्कर्मों व दुर्गुणों से बचाता है तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रकट होकर उसे सुंदर, श्रेष्ठ और सात्विक बनाता है । छोटा-बड़ा कोई भी कर्म करते समय दृष्टि सत्व की ओर रहती है । विवेक बुद्धि सदा जागृत रहती है और कोई भी ऐसा कार्य नहीं करने देती जिससे ईश्वर का कोपभाजन बनना पड़े ।

हमें प्रतिदिन, प्रतिक्षण अपना यह सत्संकल्प दोहराते रहना चाहिए कि हम ईश्वर को सर्वव्यापी, न्यायकारी मानकर उसके अनुशासन को अपने जीवन में उतारेंगे । इसी में हमारा कल्याण है । इसी से हम पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा की भावना से छुटकारा पाकर अपनी आत्मा को पाप की दलदल में डूबने से बचा सकेंगे । तभी हमें आत्मबल, बुद्धिबल, धनबल तथा ऐश्वर्य प्राप्त होगा ।

परम प्रभु की उपासना इसी को कहते हैं ।

कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे।
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य प्रच्यते ॥

(सामवेद–३००)

भावार्थ : *परमेश्वर कभी किसी के कर्म को निष्फल नहीं करता और न किसी निरपराधी को दंड देता है । इस जन्म में और पुनर्जन्म में प्रत्येक मनुष्य के लिए कर्मफल की व्यवस्था कर दी गई है ।*

संदेश : संसार के सभी क्रिया कलाप ईश्वरीय सत्ता के द्वारा ही नियंत्रित होते हैं । मनुष्य के जीवन में जन्म से लेकर मृत्यु तक का सारा घटनाचक्र उसके अपने कर्मों के फलस्वरूप ही न्यायकारी परमेश्वर द्वारा संचालित होता है । पूर्व जन्मों के कर्मानुसार ही यह निश्चित किया जाता है कि अमुक आत्मा को किस देश में, किस परिवार में, किस स्तर का, कितना जीवन जीना है । एक ही समय में जन्म लेने वाले दो बच्चों में एक किसी राजा के घर उत्पन्न होता है और दूसरा झुग्गी झोंपड़ी में, एक जन्मजात मेधावी होता है दूसरा मंदबुद्धि, एक बलिष्ट–बलवान होता है दूसरा सदा रोगी, एक दीर्घायु होता है दूसरा अल्पायु । ऐसा नहीं है कि ईश्वर ने पक्षपात से किसी के जीवन को सुख सुविधाओं से भर दिया हो और किसी निरपराधी को अकारण ही दंडस्वरूप दुख–दारिद्रय की अग्नि में झोंक दिया हो । यह सब कर्मफल के विधान से ही होता है ।

और इस जन्म में जो जैसे कर्म करता है उसी के अनुसार आत्मा के अगले जन्म की व्यवस्था भी होती है । आत्मा को इस जीवन–मरण के चक्र से मुक्ति मिलनी है या फिर से ८४ लाख योनियों के चक्र में भटकना है । उसका अगला जन्म पुनः मनुष्य योनि में ही होना है या कुत्ता, बिल्ली, सुअर, सांप, उल्लू के रूप में

होना है । इस जन्म में जैसे अच्छे–बुरे कर्म किए हैं उन्हीं के अनुसार अगले जन्म में उसे सुख–सुविधाएँ भी मिलती हैं तथा दुःख व कठिनाइयों के रूप में प्रायश्चित करने का अवसर भी ।

आजकल समाज की विचित्र स्थिति हो गई है । लोगों को न तो ईश्वर पर विश्वास है और न उसकी कर्मफल की व्यवस्था पर । फलस्वरूप वे उच्छृंखल और स्वेच्छाचारी हो रहे हैं । दंड का जब भय ही नहीं है, अगले जन्म में क्या होगा इसकी चिंता ही नहीं है तो फिर रोकने वाला कौन रह गया ? विवेक बुद्धि भी क्यों साथ देगी ? जो अच्छा लगा, जहाँ कुछ लाभ दिखा, जहाँ मजा आया बस उसी ओर बढ़ चले । अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए किसी का अहित भी करना पड़े तो कोई भय नहीं, कोई संकोच नहीं, कोई लज्जा नहीं । यही सब तो पशु भी करते हैं । भोजन और प्रजनन के अतिरिक्त और किसी बात की चिंता ही नहीं । मनुष्य को परमेश्वर ने जो इतने अनुदान वरदान दिए हैं उनका यदि वह सदुपयोग न कर सका, अपने को सही अर्थों में मनुष्य न बना सका तो फिर इस मानव योनि में आने का क्या लाभ रहा ? पिछले जन्म के पापकर्मों की सजा तो भुगत ही रहे हैं । उन्हीं के कारण इस जीवन में दुख व कठिनाइयाँ झेलनी पड़ रही हैं । कुछ प्रायश्चित्त कर पाना तो हमसे बन नहीं रहा है उल्टे और पापकर्मों में फँसे हैं । परिणाम यह होता है कि शेष जीवन भी नारकीय हो जाता है तथा अगले जन्म में और न जाने किस रूप में दंड भुगतना पड़ेगा । इस सत्य पर भी कभी विचार करना चाहिए ।

ईश्वर के इस न्यायकारी स्वरूप और कर्मफल की महत्ता को भली भाँति समझ लेने से मनुष्य सदैव सद्विचारों और सत्कर्मों में ही संलग्न रहता है तथा कुविचारों व दुर्भावनाओं के आक्रमण से बचा रहता है ।

**गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वमत्रिणम् ।
ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि ॥**

(ऋग्वेद १/८६/१०)

भावार्थ : हे ईश्वर ! हम अंधेरी गुफा में पड़े हैं । इस घोर तमिस्रा में अनेक खा जाने वाले राक्षस हमें सता रहे हैं । इस अंधकार का नाश करके हमें प्रकाश का दान दो जिससे इन शत्रुओं से हमें छुटकारा मिले ।

संदेश : इस मंत्र में ईश्वर से साधारण अंधेरे को दूर करने के लिए प्रार्थना नहीं की गई है जो कि एक दीपक जलाने से या बिजली का बटन दबाने से ही दूर हो सकता है । यहाँ तात्पर्य अज्ञान के अंधेरे से है । हम चारों ओर से इस अज्ञान में घिरे हुए हैं । ऐसे में काम, क्रोध, लोभ, मोह, स्वार्थ आदि हमारी आत्मा को पतन के गर्त में गिराने में लगे रहते हैं । न तो हम अपना भला कर पाते हैं और न संसार का ही ।

भगवान ने हमारे पिछले जन्म के पुण्य कर्मों के फलस्वरूप हमें यह मनुष्य शरीर दिया है । 'बड़े भाग मानुज तन पावा' और यह शरीर इसलिए दिया है कि प्रभु ने जो यह संसार रूपी सुंदर बाग सजाया है, हम माली के समान उसे और अधिक निखारें । परंतु अज्ञानवश हम उस ओर देखना भी नहीं चाहते और अपने नीच व निकृष्ट स्वार्थों की पूर्ति में ही लगे रहते हैं । हर समय लोभ, मोह और काम की पूर्ति करने के ताने-बाने बनाते रहते हैं और इसमें व्यवधान आने पर क्रोध करते हैं । पुत्रैषणा, लोकैषणा और वित्तैषण के अतिरिक्त हमें कुछ दिखाई ही नहीं देता । संसार में जो कुछ भी है वह सब हमें मिल जाए । दूसरे भूखों मरते रहें हमें कोई चिंता नहीं होती । स्वार्थपूर्ति के

लिए हम अंधे हो जाते हैं । अपने चारों ओर इतनी ऊँची ऊँची दीवारें खड़ी कर लेते हैं कि परमात्मा का दिव्य प्रकाश हमारे पास तक पहुँच ही नहीं पाता ।

हमारी आत्मा पंचकोशों की अंधेरी गुफा में पड़ी कराहती रहती है और हमें उसकी आवाज भी सुनाई नहीं देती । वहीं उस दिव्य प्रकाश की आवश्यकता है जिससे हम अपनी आत्मा को देख सकें, उसकी पुकार को सुन सकें और आत्मा व परमात्मा के मिलन का दिव्य आलोक चारों ओर फैला सकें । आत्मज्योति के प्रकाश के आगे सहस्त्रों सूर्यों की ज्योति भी फीकी पड़ जाती है । 'तमसो मा ज्योतिर्गमय, असतो मा सद्गमय' । अज्ञान का अंधेरा छट जाने पर ही सत्य की ज्योति हमारे जीवन को प्रकाशित करती है और 'मृत्योर्माअमृतम गमय' हम मृत्यु से अमरता की ओर बढ़ते हैं । सत्य ज्ञान की प्राप्ति होने पर ही मार्ग में अवरोध उत्पन्न करने वाले राक्षसों को पहचान पाना संभव होता है । तभी पता चलता है कि जिन्हें हम अपना हितैषी समझते हैं वही हमारी जड़ खोद रहे हैं तथा जिन्हें शत्रु समझे थे वे ही असली मित्र हैं ।

भारतीय जीवन पद्धति का यही सार है । भारतीय शास्त्र एवं विद्याओं का यही लक्ष्य है । अंतःकरण में परम ज्ञान को उद्दीप्त कर उसके प्रकाश से संपूर्ण जीवन भर मार्गदर्शन प्राप्त होता रहे, ऐसी यहाँ की पूरी व्यवस्था है । चित्त में ज्ञान का उदय होने से समस्त कर्म तदनुसार और तदनुरूप ही होते हैं और मनुष्य सरलता से आत्मोन्नति के मार्ग पर बढ़ता जाता है ।

अज्ञान का अँधेरा छँटने पर ही जीवन लक्ष्य की प्राप्ति संभव हो सकती है ।

वस्यो भूयाय वसुमान यज्ञो वसु वंशिषीय वसुमान्
भूयासं वसु मयि धेहि ॥

(अथर्व वेद १६/९/४)

भावार्थ : *हे मनुष्यो ! ईश्वर पर आस्था रखो और सदैव यह प्रयत्न करते रहो कि परोपकार के द्वारा संसार में श्रेष्ठ से श्रेष्ठ पद को प्राप्त करो ।*

संदेश : इस मंत्र में मनुष्य को तीन निर्देश दिए गए हैं । पहला, ईश्वर पर विश्वास रखो; दूसरा, परोपकार का मार्ग अपनाओ और तीसरा, श्रेष्ठता को प्राप्त करो ।

ईश्वर विश्वास बड़ी ही शानदार चीज है । अबोध बालक मां की गोद में पहुंच कर या पिता की उंगली पकड़ लेने पर पूरी तरह आश्वस्त हो जाता है । उसे अपने माता-पिता पर पूरा विश्वास है और यह विश्वास ही उसे भयमुक्त कर देता है । हमें भी परमेश्वर से पूर्ण निष्ठा, श्रद्धा, आस्था व विश्वास का रिश्ता बना लेना चाहिए । रिश्ता बनाने से बहुत लाभ होता है । एक गरीब व साधारण सी लड़की किसी राजा को पति बनाकर समर्पण कर देती है तो उसकी रानी हो जाती है, सारी संपत्ति की मालिक बन जाती है । ऐसे ही भगवान से रिश्तेदारी कर लेने में लाभ ही लाभ है ।

दूसरी बात है परोपकार । हमें सदैव यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक प्राणी में उसी परमात्मा का अंश है । सबके साथ परस्पर प्रेम व सद्भाव का व्यवहार करते हुए सबकी उन्नति का प्रयास करना चाहिए । दूसरों के साथ ऐसा कोई व्यवहार नहीं करना चाहिए जो हमें स्वयं अपने लिए पसंद न हो । सज्जन व्यक्तियों को संगठित करके

संसार में व्याप्त अनीतियों व कुरीतियों से लोहा लेने में सदैव तत्पर रहना चाहिए और सृजनात्मक गतिविधियों को प्रोत्साहन देकर सभी की भलाई के कार्य ही करने चाहिए ।

ईश्वर विश्वास और परोपकार के मार्ग पर चलकर ही मनुष्य श्रेष्ठता को प्राप्त कर पाता है । आज लोग भगवान को भूलकर स्वार्थ में अंधे होकर हर प्रकार की अनीति में लगे हुए हैं । चारों ओर भ्रष्टाचार, बेइमानी, लूट-खसोट का ही धंधा चल रहा है । अनीति से लोग लाखों-करोड़ों की कमाई करके इतराते फिरते हैं पर असल में वे जीते जी अपने लिए नरक का निर्माण कर रहे हैं । हमें गायत्री मंत्र के 'वरेण्यं' शब्द को सदैव ध्यान में रखना चाहिए जो नीचता, विलासिता, शैतानी, दुराचार, स्वार्थपरता के निकृष्ट मार्ग से बचाकर आत्मगौरव, सदाचार, महानता व परमार्थ के श्रेष्ठ मार्ग पर चलने की हमें प्रेरणा देता है । यह श्रेष्ठ मार्ग ही सर्वकल्याणकारी है ।

श्रेष्ठ पुरुष वही होते हैं जो बिना किसी स्वार्थ के केवल दूसरों की भलाई करना ही अपना धर्म समझते हैं । दूसरों को कष्ट में देखकर उन्हें स्वयं गहन पीड़ा होने लगती है और वे उसके निराकरण में प्राणपण से जुट जाते हैं । ये देवकोटि में गिने जाते हैं । दूसरे वे लोग हैं जो अपना भी कार्य सँवार लेते हैं और दूसरों का भी कार्य बना देते हैं । ये मनुष्य कोटि में आते हैं । तीसरे राक्षस कोटि के व्यक्ति होते हैं जो अपना काम तो निकाल लेते हैं पर दूसरों का काम बिगाड़ देते हैं ।

किसी भी व्यक्ति में दूसरों का उपकार करने की जितनी अधिक भावना होती है उतनी ही उसमें मनुष्यता होती है । वे ही जीवन में यशस्वी होते हैं ।

**तेजोऽसि तेजो मयि धेहि । वीर्य मसि वीर्य मयि धेहि ।
बलमसि बलं मयि धेहि । ओजोऽस्योजो मयि धेहि ।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि । सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥**

(यजुर्वेद १९/९)

भावार्थ : हे परमेश्वर ! तू तेजस्वरूप है मुझे तेज दे । वीर्यवान है मुझे पराक्रम दे। तू बलवान है मुझे बल दे। तू ओजस्वी है, मुझे भी ओजस्वी बना । तू दुष्टों को भस्म करता है मुझे भी वह शक्ति दे । साथ ही तू सहनशील भी है, मुझे भी ऐसा ही सहनशील बना ।

संदेश : परमेश्वर किसे कहते हैं ? वह कोई इंसान नहीं है, उसे तो हमने बना लिया है । भगवान वास्तव में आदर्शों का नाम है, सिद्धांतों का नाम है, श्रेष्ठताओं, सद्गुणों, सत्प्रयासों के समुच्चय का नाम है । ईश्वर के इन अनेकानेक गुणों में से हमारे जीवन में जो मुख्य रूप से अत्यावश्यक हैं उन्हें अपने में धारण करने की प्रार्थना की गई है ।

सबसे महत्वपूर्ण है तेजस्विता जो आत्मशक्ति का विकास करती है और सांसारिक प्रलोभनों को परास्त करने का पराक्रम जुटाती है । तेजस्विता आयु में नहीं वृत्ति में होती है । वह बाह्य नहीं आंतरिक होती है । वह ऊपरी नहीं स्वभाव में समाई हुई होती है । इससे मुखमंडल पर आभा रहती है । दूसरी जरूरी चीज है शारीरिक बल । भगवान ने हमें यह शरीर इसलिए दिया है कि हम सौ वर्ष तक जीवित रहकर संसार में परोपकार के कार्य करें,'जीवेम शरदः शतम्' । यह तभी संभव है जब हम वीर्यवान हों, बलवान हों । हम तेजस्वी बनें, स्वस्थ बनें और बलशाली

बनें । संयम से, उचित आहार-विहार से यह संभव है। इन तीनों के आ जाने से आत्मिक तेज जागृत हो जाता है, मनुष्य ओजस्वी बनता है । तेज, वीर्य, बल और ओज से परिपुष्ट मनुष्य संसार में सबकुछ कर सकता है । बड़ी से बड़ी मुसीबतें भी उसका मार्ग नहीं रोक सकतीं । वह जो भी संकल्प कर लेता है, अवश्य ही पूरा होता है । वह जो भी कह देता है उसका दूसरों पर प्रभाव पड़ता है । उसकी बात को टालने का साहस भी कोई नहीं कर पाता ।

पर इतने से ही काम नहीं चलेगा । दुष्टों को, पाप कर्मों को भस्म करने की शक्ति भी चाहिए । हमारे भीतर अन्याय के विध्वंस के लिए स्वाभाविक अग्नि सदा जलती रहे । इसके साथ ही हमारी आत्मा में असीम सहनशक्ति भी रहे, जिससे हम घोर से घोर मुसीबतों में भी सदैव हंसते रहें और सत्य के मार्ग से न डिगें । कितनी भी असह्य विपत्तियां क्यों न आ जाएं हम धैर्यपूर्वक उनका निराकरण करके सफलता के मार्ग पर बढ़ते ही जाएं ।

इसी का नाम जीवन जीने की कला है । तभी मनुष्य मनुष्य बन पाता है । जब वह मनुष्य बन जाए तो उसका यह भी धर्म है कि वह अपने परिवार को और समाज को भी मनुष्य बनाने का प्रयास करे । जलता हुआ दीपक ही बुझे दीपक को जला सकता है । बुझा हुआ दीपक भला दूसरे बूझे हुए दीपक को कैसे जला सकेगा ? मनुष्य का कर्तव्य है कि वह तेजस्वी, ओजस्वी, वर्चस्वी बने, धैर्यवान, वीर्यवान और शक्तिवान बने तथा दूसरों को भी उसी मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करे ।

इसी में मानव जीवन की सफलता है ।

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत
ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।
अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदाना
आविर्भवन्ति गुह्या न केचित् ॥

(ऋग्वेद ७/१०३/८)

भावार्थ : ब्राह्मण वह है जो शांत, तपस्वी और यजनशील हो । जैसे वर्ष पर्यंत चलने वाले सोमयुक्त यज्ञ में स्तोता मंत्र-ध्वनि करते हैं वैसे ही शब्द मेंढक भी करते हैं । जो स्वयं ज्ञानवान हो और संसार को ज्ञान देकर भूले-भटकों को सन्मार्ग पर ले जाता हो, ऐसों को ही ब्राह्मण कहते हैं । उन्हें संसार के समक्ष आकर लोगों का उपकार करना चाहिए ।

संदेश : हमारे ऋषियों-मनीषियों ने कर्म के अनुसार वर्ण व्यवस्था बनाई थी और चारों वर्णों में से ब्राह्मण को गुरुतर भार सौंपा था । सारे संसार में ज्ञान का प्रकाश फैलाना उनका दायित्व था । यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि आज यह वर्ण व्यवस्था कर्म से न होकर जन्म से मान ली गई है । केवल ब्राह्मण कुल में जन्म लेने वाले को ही ब्राह्मण कहा जाता है चाहे वह 'काला अक्षर भैंस बराबर' ही क्यों न हो या फिर चोर, बदमाश, लंपट, दुराचारी, कुटिल, कपटी कैसा भी हो ।

ब्राह्मण वही होता है जो तेजस्वी, ज्ञानी, पवित्र तथा संयमी हो । वही पुरोहित कहलाता है, 'अग्निऋषिः पवमानः पाञ्चजन्य पुरोहितः ।' उसका कर्तव्य है कि वह अधिकाधिक ज्ञानार्जन करे, संयमी एवं यज्ञीय जीवन जिए तथा लोक शिक्षण व धर्मोपदेश के प्रशंसनीय कार्यों में संलग्न रहे । जो व्यक्ति विद्वान है, ज्ञानवान है पर

उस विद्या का उपयोग केवल अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए ही करता है, दूसरों को ज्ञानदान नहीं करता वह भी ब्राह्मण कहलाने के योग्य नहीं है ।

ब्राह्मण का स्वभाव सौम्य, शांत, सहनशील और संयमी होना चाहिए । शारीरिक और मानसिक तप से परिपूर्ण तपस्वी जीवन होना चाहिए । उसने अपने शरीर को तप से इतना बलिष्ठ बना लिया हो कि कैसी भी कठिन व विपरीत परिस्थितियां हों वह सतत अपने कार्य में लगा रहे । आलस्य व प्रमाद में न फंसे । मानसिक तप के द्वारा उसने माया, मोह, ममता, क्रोध, कुविचार, कुसंग से छुटकारा पा लिया हो । अपनी आवश्यकताओं को सीमित करके कम से कम में अपना काम चला सके तथा हर समय यज्ञीय भावाना से परोपकार के लिए अपना सर्वस्व समर्पित करने को तत्पर रहे । परमपिता परमेश्वर ने मनुष्य योनि को ही यह दायित्व सौंपा है और उसे पूरा करने के लिए ही ऋषियों ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की है ।

ब्राह्मण का सबसे बड़ा शत्रु अहंकार होता है । उसके ज्ञानवान होने से तथा सभी लोगों से सम्मान प्राप्त होते रहने से वह अपने आपको दूसरों से उच्च स्तर का समझने लगता है । काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार में सबसे बड़ा विकार अहंकार ही है । इससे मन में भावात्मक निकृष्टता का जन्म होता है । उसके मन में ऐसे घटिया विचार आने लगते हैं कि किसी गुण-विशेष अथवा वस्तु विशेष की उपलब्धि में वह दूसरों से आगे है । अहंकार का शिकार होते ही वह असंतुलित हो जाता है और उसका ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता है ।

हमारा धर्म है कि हम ब्राह्मण बनें और अपने ब्राह्मणत्व का रक्षण व पोषण भी करें ।

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥

(अथर्व वेद ३/१९/४)

भावार्थ : *हम पुरोहित अपने यजमानों को क्रियाशील, तेजस्वी, परोपकारी और शक्तिवान बनाए रखेंगे । उन्हें कभी भी अधोगामी न होने देंगे ।*

संदेश : ब्राह्मण को समाज व राष्ट्र की सभी शक्तियों का प्रेरणा स्रोत माना गया है । सभी नागरिक, चाहे वे क्षत्री हों या वैश्य या शूद्र, उसके यजमान होते हैं और उनकी शारीरिक, मानसिक व चारित्रिक उन्नति का उत्तरदायित्व भी उसी पर होता है । प्रत्येक व्यक्ति कर्मयोगी बने और कर्तव्य भावना से सत्कर्मों में लगा रहे । आशाओं, तृष्णाओं, लालसाओं और कामनाओं में फंसकर असंयमित व अनियंत्रित जीवन शैली को न अपनाए । वह सदैव आगे बढ़ने, उन्नति करने, अधिक उत्तम स्थिति प्राप्त करने, ऊपर उठने, विकसित होने के पुरुषार्थ में स्वाभाविक रूप से लगा रहे । इस प्रक्रिया में आपसी स्वार्थ भाव का टकराव न होने पाए तथा सभी एक दूसरे को सहयोग व सहकार से उन्नति करने में सहायता करते रहें, इस भावना की अभिवृद्धि करने का दायित्व ब्राह्मणों पर ही है ।

ब्राह्मण इस बात को भी सुनिश्चित करें कि समाज में ज्ञान, कर्म व भक्ति की अजस्र धारा प्रवाहित होती रहे । विद्या और शिक्षा सभी को समान रूप से उपलब्ध हो । स्वाध्याय एवं सत्संग की व्यवस्था बनी रहे जिससे लोग कुविचारों और दुर्भावनाओं से बचे रहें । सत्य-असत्य में, नीति-अनीति में भेद कर सकने की विवेक बुद्धि हर व्यक्ति में रहे और वे सदैव

चारों ओर मधुरता, स्वच्छता, सादगी एवं सज्जनता का वातावरण बनाए रखें ।

ब्राह्मणों का यह भी कर्तव्य है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति में भक्ति भावना कूट-कूटकर भर दी जाए । भक्ति से तात्पर्य केवल दिखावटी पूजा-पाठ करना नहीं वरन संसार के कण-कण में, रोम-रोम में ईश्वरीय सत्ता की उपस्थिति का दृढ़ विश्वास जागृत होना है । इस महत्वपूर्ण तत्त्वज्ञान को जान-समझकर अपने आचरण में लाने से ही समाज व राष्ट्र की उन्नति होती है ।

कभी भारतवर्ष का स्वर्णिम युग था जब ब्राह्मण अपने इन कर्तव्यों को पूरी श्रद्धा व निष्ठा से निभाते थे । तब यह देश जगद्गुरु कहलाता था और सारे संसार को अपने ज्ञान के प्रकाश से आलोकित करता था । आज जो लोग अपने को ब्राह्मण कहते हैं, वे जरा अपने अंतरमन में झांक कर स्वयं ही देखें कि उनमें ब्राह्मणत्व का कितना अंश है । इस महान देश की आजकल जो दुर्दशा हो रही है उसका मूल कारण ब्राह्मणत्व का पतन ही है । अधिकांश ने तो ब्राह्मणत्व को अपने धंधे का आधार बना लिया है । उनका यह व्यापार चलता रहे इसी उद्देश्य से वे दो चार उलटे सीधे मंत्र रट कर लोगों को मूर्ख बनाते हैं तथा अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं । जन सामान्य भी उनकी बातों में आकर मुसीबत से छुटकारा पाने का यही आसान मार्ग समझ लेते हैं । एक-दो प्रतिशत में कभी उनकी बात सच भी हो जाती है और उसके आधार पर दूसरों को लूटने में और भी आसानी रहती है । जब ब्राह्मण ही इस प्रकार से पतित हो जावेंगे तो वे दूसरों का उत्थान कैसे कर सकेंगे ?

सच्चे ब्राह्मण ही ब्राह्मणत्व के इस पतन को रोक सकते हैं ।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः ।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽ भवद् वशी ।।

(अथर्व वेद ११/५/१६)

भावार्थ : हमारे शिक्षक, नेता और अधिकारी ब्रह्मचारी हों । वे चरित्रभ्रष्ट न हों अन्यथा अनर्थमूलक असामाजिक तत्त्वों का विकास होगा और राष्ट्र पतित हो जाएगा ।

संदेश : कैसी भी सामाजिक व्यवस्था हो, धीरे धीरे इसमें कुविचार, स्वार्थ और दुष्प्रवृत्तियां अपना सिर उठाने लगती हैं । वेद भगवान ने वर्ण व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मणों पर ही यह उत्तरदायित्व रखा था कि वे सदैव जागरूक रहकर राष्ट्र को जागृत रखेंगे और बुराइयों से बचाए रखेंगे, 'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः' ।

राष्ट्र को चलाने वाले शिक्षक, नेता और अधिकारी ही होते हैं । यही राष्ट्रनायक कहलाते हैं । आज ये तीनों ही किस स्तर तक स्वार्थ में अंधे होकर राष्ट्र को और स्वयं अपने आपको भी पतन के गर्त में गिरा रहे हैं, इसे हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं । अधिकांश शिक्षक केवल पैसा बटोरने में लगे रहते हैं और शिक्षा के पवित्र ज्ञान मंदिर आज खुलेआम भ्रष्टाचार व व्यभिचार के अड्डे बन गए हैं । स्कूलों व कालेजों में हर प्रकार की अवांछनीय घटनाएं, दादागीरी, जुआ, शराब, नशा, बलात्कार आदि आज आम बात हो गई है । शिक्षकों के चरित्रहीन हो जाने के फलस्वरूप छात्र केवल अनर्थमूलक असामाजिक ज्ञान ही प्राप्त कर रहे हैं और उसी प्रेय मार्ग पर चलकर अपना व देश का भविष्य चौपट कर रहे हैं ।

यही चरित्रहीन व भृष्ट छात्र बड़े होकर नेता व अधिकारी बनते हैं और अपने गुरुओं के भी गुरू साबित होते हैं । अपने ज्ञान, विज्ञान,

विद्या, बुद्धि सबका उपभोग केवल अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए ही करते हैं । उनके हृदय में न तो मातृभूमि के प्रति श्रद्धा है और न ही राष्ट्रभक्ति की भावना । ऐसे नेताओं व अधिकारियों की आड़ में अपराधिक व असामाजिक तत्व निर्भय होकर देश व जनता को लूटते रहते हैं ।

उनके विवेकहीन आचरण से जनतंत्र में जनसामान्य की कैसी दुर्दशा हो रही है, यह प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहा है । भोली भाली जनता इन अक्षम शिक्षकों, नेताओं व अपराधियों का दुराचार सहने को विवश हो रही है । भ्रष्टाचार और चरित्रहीनता आज अपने चरम पर पहुँच रही है । हर व्यक्ति किसी न किसी पद पर पहुँचना चाहता है । जनता की सेवा करने की आड़ में वह देश को लूटने के सपने देखता है । इस काम के लिए हर प्रकार के निकृष्ट स्तर के अपराधियों का सहारा लिया जाता है । भोली भाली जनता को साम, दाम, दंड, भेद कैसे भी वश में करने के षड़यंत्र खुले आम रचे जाते हैं । लोगों का इतना अधिक आध्यात्मिक पतन होता जा रहा है कि वे किसी भी प्रकार से सत्ता हथियाने का कुचक्र रचते रहते हैं और सत्ता पा जाने पर तो उसका ऐसा नशा चढ़ता है कि रावण का कद भी उनके आगे छोटा लगने लगे ।

ऋग्वेद में भी यह स्पष्ट निर्देश है कि 'आ देवानाम भवः केतुरग्ने' केवल श्रेष्ठ व्यक्ति ही जनता के नेता बनें । नेतृत्व कभी भी चरित्रहीन लोगों के हाथ में न जाने दिया जाए । यही ब्राह्मणों का कर्तव्य था । परंतु आज वे स्वयं ही चरित्रहीन और भ्रष्ट हो गए हैं तथा देश को पतित कर रहे हैं ।

प्रत्येक जागरूक नागरिक का कर्तव्य है कि वह सच्चा ब्राह्मण बनें ।

शचीभिर्नः शचीवसू दिवा नक्तं दशस्यतम् ।
मा वां रातिरुप दसत्कदा चनास्मद्रातिः कदा चन ॥

(ऋग्वेद १/१३९/५)

भावार्थ : *इस संसार में अध्यापक एवं उपदेशक सदैव अच्छी शिक्षायुक्त वाणी से लोगों को सदाचार की शिक्षा दिया करें जिससे किसी की उदारता नष्ट न होने पावे ।*

संदेश : ब्राह्मण को भगवान का प्रतिनिधि कहा जाता है । इसका तात्पर्य यह नहीं है कि लोभी, लालची, लंपट, ऐरे-गैरे सभी को 'ब्राह्मण देवता' कहा जाए । सच्चा ब्राह्मण वही है जो देवताओं के समान राष्ट्र के सभी नागरिकों को ज्ञानवान, शक्तिवान, शीलवान और तेजवान बनाता है । जहाँ कहीं भी अज्ञान, कुरीतियों, कुविचारों तथा कुसंस्कारों का प्रकोप दिखाई दे वहां प्राणपण से उनके उन्मूलन में जुटा रहता है । निःस्वार्थ भाव से समाज के चतुर्मुखी विकास को ही अपने जीवन का ध्येय समझता है ।

अध्यापक, उपदेशक, परिव्राजक आदि ब्राह्मणों की उसी उच्चतम श्रेणी के व्यक्ति हुआ करते थे । उपासना व साधना से प्राप्त ज्ञान को जन-जन में बांटकर वे आनंदित होते थे । परमपिता परमेश्वर के बनाए हुए इस संसार के प्रत्येक प्राणी के उत्थान को वे ईश्वरीय आदेश मानकर तन-मन-धन से लगे रहते थे । राजा-रंक, अमीर-गरीब, छोटे-बड़े सभी उनका सम्मान करते थे । राष्ट्र की कीर्ति पताका सदैव ऊँची फहराती रहती थी ।

परंतु आज स्थिति बिल्कुल उलटी हो रही है । अध्यापकगण अपने कर्तव्यों की ओर जरा भी ध्यान नहीं देते । सच्चा ज्ञान देने के स्थान पर छात्रों को तरह-तरह के कुसंस्कार सिखाकर कुमार्ग पर

उत् तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान यज्ञेन बोधय ।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय ॥

(अथर्व वेद १९/६३/१)

भावार्थ : *ब्राह्मणों को चाहिए कि स्वयं सावधान होकर अपने यजमानों को दुष्कर्मों की ओर जाने से रोकें जिससे सबका कल्याण हो और सबमें आयु, प्राण, धन-धान्य, कीर्ति, सुख-शांति की वृद्धि हो ।*

संदेश : समाज में सभी नागरिक ज्ञानवान, शीलवान, संस्कारवान हों, इंद्रिय संयम, अर्थ संयम, समय संयम और विचार संयम का सतत अभ्यास करते हों और सर्वत्र सत्कर्मों, सुविचारों एवं सुख-शांति की अभिवृद्धि हो । ऐसा आदर्शनिष्ठ समाज बनाए रखने का उत्तरदायित्व ऋषियों ने ब्राह्मण वर्ण पर ही डाला है ।

ब्राह्मणों का, विद्वानों का सबसे पहला कर्तव्य यही है कि वे स्वयं सावधान व सजग रहें । ज्ञान-विज्ञान के गूढ़ तत्वों को समझकर नीति और अनीति में भेद करके, सत्य विद्या को जानें । जब तक स्वयं ही सही मार्ग ज्ञात न होगा, दूसरों का सही मार्गदर्शन किस प्रकार से संभव हो सकेगा । संसार में जीवन के दो मार्ग हैं । कठोपनिषद में उन्हें 'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तता' कहा गया है । श्रेय मार्ग वह है जो कल्याण करने वाला है और दूसरा प्रेय मार्ग जो अच्छा लगने वाला है, इंद्रियों को सुख देने वाला है । हमारा मन इस प्रेय मार्ग की ओर अधिक भागता है । स्वादेंद्रियां तरह तरह के स्वादिष्ट भोजन मांगती हैं और स्वास्थ्य व संयम की मर्यादा को नष्ट करती हैं । इसी प्रकार अन्य सभी इंद्रियां भी बाह्य सुख-साधनों में ही उलझी रहती हैं और आत्मा-परमात्मा को भूलकर मनुष्य अनेकानेक दुष्प्रवृत्तियों में फंसा

भीरु और संदेही मनुष्य उन्नति नहीं कर सकते । राष्ट्र निर्माण का यही मूल मंत्र है ।

आज स्थिति उल्टी होती जा रही है । वैज्ञानिक प्रगति से सुख-सुविधाएं जितनी बढ़ रही हैं उतना ही मनुष्य आलसी होता जा रहा है, श्रम से जी चुराने लगा है । ऊपर से नीचे तक सब इसी चक्कर में लगे रहते हैं कि बिना कुछ किए धरे अधिक से अधिक धन-संपत्ति पर अपना कब्जा जमा लें । जो भी पुरुषार्थ करते हैं वे सब ऐसे ही पापपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होते हैं । फलस्वरूप चोरी, डकैती, भ्रष्टाचार, जालसाजी, अपहरण आदि समाज में बढ़ते जा रहे हैं । नित नई दुष्प्रवृत्तियां जन्म लेती हैं ।

पहले आचार्यों के उपदेश और राजदंड दोनों राष्ट्रोत्थान के प्रति लोगों को जागरूक रखते थे । अब वे स्वयं ही स्वार्थ में अंधे होकर भ्रष्ट आचरण करने लगे हैं । वे तो आज इतने निकृष्ट स्तर तक गिरते जा रहे हैं कि देश को पुनः पराधीनता का विषपान करने को मजबूर कर रहे हैं । पहले देश केवल राजनीतिक पराधीनता का ही शिकार हुआ था पर अब तो सांस्कृतिक एवं आर्थिक पराधीनता की ओर भी ढकेला जा रहा है । जन सामान्य को उसकी प्राचीन गौरवमयी संस्कृति से विमुख करके एक ऐसी अपसंस्कृति के मोहजाल में फंसाया जा रहा है जो उसे अपनी धरती से ही काटे दे रही है । भौतिकवादी अभिजात्य वर्ग तो अपनी संस्कृति को स्वीकार करने में भी अपनी हेठी समझता है और खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल, हर बात में पश्चिम की नकल करके ही गर्वोन्नत होता है । फलस्वरूप वह न घर का रहता है न घाट का ।

विद्वानों को, ब्राह्मणों को स्वयं सजग होकर नागरिकों को सही दिशा में कर्मशील बनने की प्रेरणा देनी चाहिए ।

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं
देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् ।
सा नो मधु प्रियं
दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥

(अथर्व वेद १२/१/७)

भावार्थ : राष्ट्र के निर्माण के लिए हम सब नागरिक कर्मशील और जागरूक हों । आलसी और प्रमादी व्यक्ति जिस देश में होते हैं वह देश गुलाम हो जाता है ।

संदेश : राष्ट्र की उन्नति के लिए आध्यात्मिक, चारित्रिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, औद्योगिक सभी क्षेत्रों में प्रगति अपेक्षित होती है । तभी एक स्वस्थ, सबल, समर्थ राष्ट्र का निर्माण होता है । कभी भारत राष्ट्र भी जगत्गुरु कहलाता था । वर्ण व्यवस्था की स्वस्थ परंपरा के अनुरूप सभी नागरिक जागरूक रहकर सतत कर्मशील बने रहते थे । वे अपनी उन्नति तो करते ही थे, राष्ट्र का भी चहुँमुखी विकास करते थे ।

कालांतर में हमारे नागरिकों को आलस्य और प्रमाद ने घेरना प्रारंभ किया और अनेकानेक दुष्प्रवृत्तियों ने जन्म लेना शुरू कर दिया । आलस्य ही सभी पापों की जड़ है । परमेश्वर भी चैतन्य एवं उद्योगी व्यक्तियों को ही प्यार करते हैं, आलसी और प्रमादी को नहीं । जो पुरुषार्थ करने में तत्पर होता है परमात्मा भी उसकी सहायता करने में पीछे नहीं रहते । आलसी व्यक्ति भाग्य के भरोसे बैठे रहते हैं और सदैव दीन-हीन ही रहते हैं । 'सहोरूरोह रोहितः' उन्नति उसी की होती है जो प्रयत्नशील है । बलवान, कर्तव्यपरायण, ईमानदार और समर्थ व्यक्तियों को ही जीवन का लाभ मिलता है । आलसी, प्रमादी,

बातों का बोध कराता है । कर्म वह है जो प्राप्त किए हुए ज्ञान को जीवन में चरितार्थ करता है । हम गीता, भागवत, रामायण जानते तो हैं, पर उसके ज्ञान को हमने कोठरी में बंद कर रखा है । उसे कर्म में उतारना चाहिए । अपने अंदर के दोष-दुर्गुणों, कषाय-कल्मषों को बाहर निकालना चाहिए तभी भगवान की कृपा प्राप्त होती है । ज्ञान और कर्म के समन्वित स्वरूप को जीवन में उतारना ही सच्ची भक्ति है । केवल कर्मकांड में उलझे रहना या निरर्थक पूजा-पाठ करने को भक्ति नहीं कहा जाता ।

राष्ट्र रक्षा के लिए आंतरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार के शत्रुओं से लोहा लेना होता है । महाभारत युद्ध के समय भगवान कृष्ण ने अर्जुन को इस बारे में कैसा स्पष्ट व सारगर्भित उपदेश दिया था । आज भी वह पवित्र गीता संसार में प्रकाशस्तंभ के समान सबका मार्गदर्शन करती है । बंधु-बांधव, सगे-संबंधी कोई भी राष्ट्र से ऊपर नहीं होता । राष्ट्र की रक्षा के लिए यदि उनका वध भी करना पड़े तो वह भी धर्मानुकूल ही होगा । त्याग और बलिदान की ऐसी उत्कृष्ट भावना के बल पर ही मनुष्य अपने स्वार्थभाव पर विजय पाकर पूरे मनोयाग से राष्ट्र रक्षा का यशस्वी कार्य संपन्न कर सकता है ।

हमारे मन में राष्ट्र रक्षा के लिए त्याग और बलिदान की भावना रहनी चाहिए । माया, मोह, ममता को त्यागना चाहिए, अपने स्वार्थ का बलिदान करना चाहिए । हम जब राष्ट्र के हित को सर्वोपरि समझकर अपने हितों को प्रसन्नता से छोड़ने को तत्पर होंगे तभी राष्ट्र ऋण से मुक्त हो सकेंगे ।

विद्वानों को चाहिए कि वे अबोध नागरिकों में इस भावना को पुनर्प्रतिष्ठित करें ।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे
यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा
भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥

(अथर्व वेद १२/१/५)

भावार्थ : जिस राष्ट्र का हमारे पूर्वजों ने निर्माण किया है और दुष्टों से रक्षा की है, उसके निर्माण के लिए हम अपना त्याग और बलिदान करने को तैयार रहें ।

संदेश : राष्ट्र केवल सीमाओं में बंधे हुए भूमि के टुकड़े को ही नहीं कहते । यह तो पृथ्वी के साथ उस पर निवास करने वाले नागरिकों के शारीरिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक स्तर तथा चरित्र, आचरण, व्यवहार आदि की समग्रता का नाम है । व्यक्तियों के ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग से उत्पन्न हुई पाप व पुण्य की धाराओं का नाम है । समाज में व्याप्त सत्प्रवृत्तियों और दुष्प्रवृत्तियों के दर्पण में ही राष्ट्र का प्रतिबिंब दिखाई देता है ।

बाहरी शत्रुओं से तथा आंतरिक दुष्ट व असामाजिक तत्वों से रक्षा करने के लिए सदैव ही देश का बच्चा-बच्चा जान हथेली पर लेकर आगे बढ़ता रहा है । भगवान भी समय समय पर राष्ट्र रक्षा के लिए ही अवतार लेते रहे हैं । उनका एकमात्र लक्ष्य रहा है पापों का नाश करना और पुण्यों की अभिवृद्धि करना । इसके लिए ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों का रहस्य समझना आवश्यक है । ज्ञान उसे कहते हैं जिससे जीवन की जानकारी हो । इतिहास, भूगोल, गणित आदि पढ़ना तो शिक्षा है, परंतु अध्यात्म ज्ञान वह है, जो जीवन का लक्ष्य बतावे । हम कौन हैं ? कहां से आए हैं ? हमारा लक्ष्य क्या है ? ज्ञान इन सब

दूसरों को दोष दुर्गुणों से सतर्क करके उन्हें सन्मार्ग पर चलने का प्रकाश देते थे, सदैव ही सम्मान के पात्र समझे जाते थे ।

परंतु आज धर्म की, राष्ट्रीयता की, ज्ञान की, सदाचार की कोई बात कहता है तो उसको प्रताड़ित करके अपमानित किया जाता है । इसका ही यह परिणाम है कि चारों ओर अज्ञान का धुंआ फैल गया है । लोगों की सत्य व असत्य में भेद करने की विवेक बुद्धि भी समाप्त होती जा रही है और राष्ट्र पुनः गुलामी के मार्ग पर बढ़कर नष्ट होने की स्थिति में आ रहा है ।

ईमानदार और सत्यनिष्ठ व्यक्ति ढूंढ़े से भी नहीं मिलते । जो हैं भी वे हर प्रकार की उपेक्षा, उपहास व प्रताड़ना ही झेलते रहते हैं । परिणामस्वरूप लोगों का स्वाभिमान नष्ट हो रहा है और स्वार्थपूर्ति के लिए वे किसी भी स्तर तक नीचे गिरने को तैयार रहते हैं । 'यथा राजा तथा प्रजा' की कहावत चरितार्थ हो रही है । भ्रष्टाचार एवं घोटालों की चर्चा सर्वत्र होती है । देखा देखी हर व्यक्ति भ्रष्ट आचरण को ही सफलता का सत्यमार्ग समझ बैठा है । यही कारण है कि देश में चारों ओर अज्ञान व अराजकता फैल रही है और विदेशी शक्तियां हर प्रकार से हमारी इस कुप्रवृत्ति का लाभ उठाकर इस 'सोने की चिड़िया' को अपने चंगुल में फंसाने की चालें चल रही हैं ।

अभी भी समय है कि हम चेत जाएं और सच्चे राष्ट्रीय विद्वानों तथा वेद वेत्ताओं के द्वारा दिखाए मार्ग का अनुसरण करते हुए राष्ट्र के एवं स्वयं अपने भी, स्वाभिमान की रक्षा करें तथा देश को नष्ट होने से बचाएं ।

राष्ट्रहित में यही ब्राह्मणों का धर्म है ।

उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति ।
परा तत् सिच्यते राष्ट्र ब्राह्मणो यत्र जीयते ।।

(अथर्व वेद ५/१९/६)

भावार्थ : जिस राष्ट्र में ब्राह्मणों को, वेदवेत्ताओं को सताया जाता हो, वह राज्य ज्ञानहीन होकर नष्ट हो जाते हैं ।

संदेश : ब्राह्मण की, विद्वान की, ऋषि की नजर बड़ी तेज और पैनी होती है । उसकी आंखें दूर-दूर तक देखती हैं । वे दूरदर्शी होते हैं, समय की नब्ज को जानते हैं और समाज के दोष-दुर्गुणों को दूर करने का प्रयास करते हैं । देश में सभी नागरिक चरित्रवान हों, संस्कारवान हों, ज्ञानवान हों, इसके लिए वे सतत संघर्ष करते रहते हैं । एक सूर्य सारे अंधकार को नष्ट कर देता है । इसी प्रकार उनके द्वारा फैलाया गया ज्ञान समाज में व्याप्त अज्ञान को, कुरीतियों को, कुविचारों को नष्ट कर देता है । दुराचार की शक्ति की अपेक्षा सदाचार की शक्ति बहुत बड़ी है । आज की समस्या है अचिंत्य चिंतन और भ्रष्ट आचरण । सच्चे ब्राह्मण विद्वान ही इसे बदलने में समर्थ हो सकते हैं ।

समाज को ऐसे योग्य व्यक्तियों का सम्मान भी करना चाहिए, उनका आभार भी मानना चाहिए । नारद जी उस ऋषि परंपरा के प्रतिनिधि थे । वे हर समय, हर प्रकार का कष्ट उठाकर भी समाज में व्याप्त समस्याओं व कुरीतियों का निवारण करने में लगे रहते थे । सर्वत्र उनका सम्मान होता था । भगवान के दरबार में ही नहीं, उनके अंत:पुर में भी वे बिना किसी रोक टोक के जा सकते थे । रामराज्य में देवत्व का उत्कर्ष इसी से संभव हुआ था ।

उत्कृष्ट राष्ट्र व्यवस्था और समाज व्यवस्था 'निंदक नियरे राखिए' की भावना पर आधारित होती थी । ऐसे योग्य और विद्वान व्यक्ति जो

थे । वे राज्य भी चलाते थे और गुरुकुल भी । वशिष्ट जी रघुवंशियों के कुलगुरु थे । राजा सब काम गुरु से आज्ञा लेकर करते थे । धर्मतंत्र हमेशा राजतंत्र को निर्देशन देता था । धर्म का अंकुश रहने से राजतंत्र निरंकुशता का आचरण नहीं कर पाता था और समाज में अराजकता व भ्रष्टता घुसने की हिम्मत भी नहीं कर सकती थी । धर्म का वास्तविक अर्थ है कर्तव्यपालन । जब राज्य सत्ता की जड़ें धर्म की उर्वरा भूमि में गहरे पैठ कर अपनी शक्ति खींचती हैं तो उसमें यश व कीर्ति के सुगंधित पुष्प ही खिलते हैं ।

आज राज्यों की शिक्षा नीति इस प्रकार की है कि उससे लोगों का नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान ही संभव नहीं हो पाता । वैदिक साहित्य एवं सद्‌ग्रंथों के पठन-पाठन को प्रोत्साहन ही नहीं दिया जाता । नैतिक शिक्षा तो लगभग सभी स्कूलों में बंद ही कर दी गई है । पहले नित्य कर्मों की भांति ही प्रतिदिन कुछ समय के लिए नियमित रूप से वेदाध्ययन की परंपरा थी । एक दो मंत्रों या श्लोकों का स्वाध्याय, उनकी व्याख्या पर चिंतन, मनन, सत्संग, गोष्ठी आदि का क्रम चलता था । इस प्रकार के ज्ञानवान और चरित्रवान व्यक्तियों को राज्याश्रय भी मिलता था और समाज में प्रतिष्ठा भी । इससे योग्य, राष्ट्रभक्त एवं उत्तम चरित्र के नागरिकों का अभिवर्धन होता था और दुर्गुणी, दुराचारी, दुर्व्यसनी व्यक्ति अपेक्षित, तिरस्कृत एवं दंडित होते थे । राज्य का यश व कीर्ति बढ़ती थी ।

ब्राह्मणत्व की सार्थकता तभी है जब ज्ञानवान, चरित्रवान एवं निष्ठावान व्यक्तियों को उचित प्रोत्साहन, संरक्षण एवं सम्मान प्राप्त हो । हम सभी का यह पुनीत कर्तव्य है कि वेद विद्या के विद्वानों का निरादर न होने दें ।

ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत् साभिविजङ्गहे ।
तेजो राष्ट्रस्य निहन्ति न वीरो जायते वृषा ॥

(अथर्व वेद ५/१९/४)

भावार्थ : जहां ब्रह्मवेत्ताओं का, वेद विद्या का निरादर होता है, वह राज्य नष्ट हो जाता है । वहां कोई तेजस्वी तथा वीर नहीं होता ।

संदेश : ब्राह्मण किसे कहते हैं ? ऋषि किसे कहते हैं ? जो संसार में सबको संस्कारवान बनाने का कार्य सुनिश्चित करें, उनको । केवल पूजा-पाठ करने या कर्मकांड के ढकोसले करने से समाज का लाभ नहीं होता । ऐसे ब्राह्मणों का स्वयं का व्यापार चल निकले, सुख-सुविधाओं और धन-दौलत का अंबार लग जाए, यह तो हो सकता है पर इससे न तो उनको कोई आध्यात्मिक लाभ मिलता है और न ही समाज में सुख-समृद्धि आती है । पहले बालकों को पच्चीस वर्ष तक गुरु के आश्रम में सात्विक वातावरण में रहकर शिक्षा ग्रहण करनी होती थी । इससे ज्ञानवान, सदाचारी, कर्तव्यपरायण नागरिकों का निर्माण होता था । दुर्योधन और रावण जैसे अपवाद कम ही होते थे ।

शिक्षा और संस्कार ही नहीं, ऋषि लोग समय और परिस्थितियों के अनुसार राज्य की नीति का निर्धारण भी करते थे । वे लकीर नहीं पीटते थे । जैसा समय आया वैसा ही कार्य किया । समस्या का मूल्यांकन करना और उसका हल निकालना उनका मुख्य कार्य था । उनके परामर्श के बिना राज्य में पत्ता भी नहीं हिलता था । चाणक्य नालंदा विश्वविद्यालय के कुलपति थे । वहां सारे विश्व के छात्र अध्ययन हेतु आते थे । इसके साथ ही चाणक्य चंद्रगुप्त के मंत्री भी

सत्संग एवं स्वाध्याय के माध्यम से अपने ज्ञान की प्रखरता बढ़ाते रहने का सदैव प्रयास करना चाहिए । जैसे खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग बदलता है उसी प्रकार ज्ञानी एवं सद्गुणी व्यक्ति के संसर्ग में आने वाले लोगों में भी सद्ज्ञान, सद्गुणों एवं सत्प्रवृत्तियों की वृद्धि होती है । विद्वान लोग निरंतर ज्ञान की साधना में रत रहते हैं और मानव समाज की विषमाताओं की, जीवन निर्माण के सिद्धांतों की, आत्मविद्या एवं ब्रह्मविद्या की समुचित जानकारी रखते हैं । वे विद्या और अविद्या के भेद को भली-भांति समझते हैं । स्वयं ज्ञानार्जन करके उसका लाभ समाज को देना ही वास्तविक जीवनोद्देश्य कहा जा सकता है । विद्वानों को स्वाध्याय और प्रवचन दोनों का ही उचित ध्यान रखना चाहिए । इन्हीं के द्वारा वे स्वयं भी अपने ज्ञान का परिमार्जन करते हुए अपने संपर्क में आने वालों को भी सत्य मार्ग पर चलने की प्रेरणा देने में समर्थ होंगे ।

आजकल अधिकतर व्यक्ति ब्राह्मणत्व का ढकोसला मात्र ही करते हैं और लोगों की धार्मिक भावनाओं को भुनाने का खेल ही चारों ओर चलता दीखता है । इसी से लोगों को कोई लाभ तो होता नहीं उलटे अनैतिकता का वातावरण ही फलता-फूलता रहता है ।

ब्राह्मणों को चाहिए कि वे लोगों को सच्चे अध्यात्म की शिक्षा दें । सच्चा अध्यात्म यही है कि हम अपने भीतर देखें, अपने आपको समझें, अपने आपको जानें, अपनी गलतियों के बारे में गौर करें और अपनी गतिविधियों को ठीक करने के लिए प्रयत्न करें । यही सच्चे अध्यात्मवादी के लक्षण हैं ।

समाज में विकृतियां इसी से उत्पन्न हो रही हैं कि ब्राह्मणों ने अपने इस पुनीत कर्तव्य को भुला दिया है ।

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सरिं मघवान पृतन्यान् ।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानूहम् ॥

(अथर्व वेद ३/१९/३)

भावार्थ : मैं ब्राह्मण स्वयं ज्ञान से संपन्न होकर मनोनिग्रहपूर्वक अपने यजमानों को ऊंचा उठाने का प्रयत्न करता रहूंगा । वे दुष्कर्मों की ओर न बढ़ें, किसी के हितों का अपहरण न करें, इसका ध्यान रखूंगा ।

संदेश : संसार को उन्नतिशील बनाए रखने, तेजस्वी-वर्चस्वी बनाए रखने और तदनुसार सुख-समृद्धि का वातावरण निर्मित करने का उत्तरदायित्व ब्राह्मण पर है । जो इसे जानता-समझता है वही सच्चा विद्वान और समाजनिष्ठ कहलाता है । ऐसे लोग स्वाध्याय व सत्संग में कभी प्रमाद नहीं करते और अपने अर्जित ज्ञान का निरंतर दान करते हुए समाज की उन्नति हेतु तप व साधना में लीन रहते हैं । ठीक बात को समझना, समझने के बाद इसे प्राप्त करने का मार्ग ढूंढ़ना, मार्ग खोजकर उस पर तप व साधना की भावना से चलना-यही मनुष्य को मनुष्य बनाने का उचित मार्ग है ।

इस मार्ग का अनुसरण करने के लिए ब्राह्मणों का कर्तव्य है कि वे मनोनिग्रह व इंद्रिय संयम को अपनाएं । मानसिक संतुलन बहुत ही जंरूरी चीज है । लोगों की प्रवृत्ति दुष्कर्मों की ओर रहती है तथा एक बार उनमें फंस जाने पर मनुष्य आसानी से उसे छोड़ता नहीं है । उसे समझा बुझाकर सही मार्ग पर प्रेरित करना बड़ा ही कष्टसाध्य व श्रमसाध्य कार्य है । अज्ञानियों का विरोध भी झेलना पड़ता है और प्रताड़ना भी । ऐसे में धैर्यपूर्वक, बिना किसी राग, द्वेष या उतावली के विद्वानों को समाज में सत्प्रवृत्तियों के प्रचार-प्रसार के कार्य में लगातार संलग्न रहना चाहिए ।

सकी है । हवाई जहाज उड़ाने के लिए एक पायलट होता है । पर क्या वह अकेला ही यह कार्य कर सकता है । इंजीनियरों की एक लंबी फौज, रडार, दूरसंचार, बिजली आदि के कुशल कर्मचारी सभी का सहयोग रहता है । जरा भी तालमेल गड़बड़ा जाए तो दुर्घटना होते देर नहीं लगती ।

जड़ पदार्थ तथा पशु पक्षी आदि एक और एक मिलकर दो होते हैं परंतु मनुष्य एक और एक मिलकर ग्यारह हो जाते हैं । वैचारिक एकता से ही यह गणितीय चमत्कार संभव है । यदि हम इसे ध्यान में रखें और अपने आपको समाज का एक अभिन्न अंग मानते हुए सबके हित में अपना हित समझें तो एक स्वस्थ, समर्थ व सबल समाज के निर्माण में हम सहयोगी हो सकते हैं ।

विश्व शांति केवल वेद द्वारा ही संभव है । वेद की कामना है कि विश्व के सब मनुष्यों में सद्भावना, मैत्री-भावना एवं विश्व-बंधुत्व का आलोक फैले । उनके आपसी स्नेह-संबंध सुदृढ़ हों । विज्ञान के वरदानस्वरूप जहाँ मनुष्य एक दूसरे के बहुत निकट आ गए हैं वहीं विज्ञान के अभिशाप से संहारक अस्त्र-शस्त्रों के कारण उनके मन में एक दूसरे के प्रति संदेह और भय भी बहुत है । एकता तभी हो सकती है जब लोगों के मन और विचार एक हों । वेद मंत्रों में इसी मानसिक एकता पर बल दिया गया है । इसी से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है । संसार के सभी मनुष्य यदि वेदानुसार आचरण करें तो संसार का कल्याण हो सकता है ।

समाज में इस विचारधारा को जीवंत बनाए रखने का उत्तरदायित्व ऋषियों ने ब्राह्मणों को ही सौंपा है ।

समानो मंत्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मंत्रमभि मंत्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि ॥

(ऋग्वेद १०/१९१/३)

भावार्थ : *सभी मनुष्यों के विचार समान हों, सब संगठित होकर रहें । सबके मन, चित्त तथा यज्ञकार्य समान हों अर्थात सब मिलजुल कर रहें ।*

संदेश : जिस प्रकार समाज में दो व्यक्ति एक सी शक्ल सूरत के नहीं होते उसी प्रकार लोगों के विचार, विश्वास और स्वभाव भी भिन्न-भिन्न होते हैं । समाज में गोरे-काले, छोटे-बड़े, बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष, गरीब-अमीर सभी एक साथ रहते हैं । एक के बिना दूसरे का काम भी नहीं चलता । फिर अपने भिन्न विचारों में भी उदारता का समावेश करके यदि सभी मिलजुल कर रहें तो चारों ओर सुख, शांति, एकता और उन्नति का वातावरण जाग उठे ।

विचारों की शक्ति बहुत ही महान है । यह लोगों के चिंतन और चरित्र को दिशा देते हैं । समाज में फैला वैचारिक प्रदूषण ही यज्ञीय भावना के स्थान पर स्वार्थजन्य आचरण की ओर लोगों को प्रेरित करता है । संसार में आज हर व्यक्ति दुखी दिखाई देता है । इसका कारण उनकी अपनी परेशानी तो है पर अधिकतर तो इसी से दुखी हैं कि दूसरा सुखी क्यों है । यही विचारों की भृष्टता है जो आपस में संगठित रहने, मिलजुल कर कार्य करने से रोकती है और उन्नति के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करती है । संसार में मनुष्य ने जो कुछ भी उन्नति की है वह सहयोग और सामूहिकता की भावना से ही संभव हो

मानकर अपने साथ रखने की सामर्थ्य उन्हीं में थी । सर्प के समान दूसरों को डस कर उनका अहित करने की कुभावना से ग्रसित लोगों को भी उन्होंने अपने वश में रखा था और अपने गले का हार बना लिया था । इस प्रकार विभिन्न एवं विपरीत प्रकृति के व्यक्तियों को भी एक सूत्र में बांधकर समाज के लिए उपयोगी बना देने का संकल्प उन्होंने चरितार्थ किया । स्वयं नंगे रहे, भस्म लपेटे रहे, अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम स्तर पर रखा, सबके कल्याणार्थ विष भी पी लिया और साथ ही समाज के हर वर्ग में सहयोग, सहकार एवं सहिष्णुता की भावना को भी प्रतिष्ठापित किया ।

समाज व परिवार की सर्वतोमुखी प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि लोग दूसरों के विचारों को भी महत्व दें, अच्छी बातों को मानें और गलत बातों का प्रतिकार करें । आपसी सम्मान एवं सहिष्णुता में ही संगठन की शक्ति निहित है ।

हम देखते हैं कि चोर, डकैत, बदमाश अपना संगठन कितना सुदृढ़ रखते हैं । कोई भी किसी प्रकार का मतभेद नहीं करते ओर एक ने जो कह दिया वही दूसरे जी–जान से पूरा करते हैं । कारण यह होता है कि उन्हें अपने नेता का भय रहता है । यदि वे विरोध करें, असहयोग करें तो सरदार जान से मार सकता है । परंतु हम अपने नेता को, सरदार को बिल्कुल भूल गए हैं । हमारा नेता और सरदार है सर्वशक्तिमान परमेश्वर । वह भी दंड दे सकता है, देता भी है । इस तथ्य की अनदेखी करने से ही संसार में सारी बुराइयां जन्म लेती और फलती–फूलती हैं ।

हमारे विद्वानों में, समझदारों में, ब्राह्मणत्व की कमी आ जाने का ही यह परिणाम है ।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

(ऋग्वेद १०/१९१/४)

भावार्थ : हमारा हृदय, मन और संकल्प एक से हों जिससे हमारा संगठन कभी भी न बिगड़े ।

संदेश : संगठन, सहयोग और मैत्री भाव स्वस्थ समाज के आवश्यक अंग हैं । समाज में हर प्रकार के व्यक्ति होते हैं । मूर्ख-विद्वान, रोगी-स्वस्थ, नास्तिक-आस्तिक, भोगी-त्यागी आदि परस्पर विरोधी प्रकृति के व्यक्ति चारों ओर दिखाई देते हैं । प्रत्येक मनुष्य का दृष्टिकोण, विचार, अनुभव, अभ्यास, ज्ञान, स्वार्थ, रुचि एवं संस्कार अलग-अलग होते हैं । इसलिए सबका सोचना एक प्रकार का नहीं हो सकता । ऐसे में यह आवश्यक है कि हर व्यक्ति दूसरे के प्रति सहिष्णु एवं उदार हो । जरा सा भी मतभेद रखने वाले को मूर्ख, अज्ञानी, दुराग्रही, दुष्ट या विरोधी मान लेना उचित नहीं । सहिष्णुता ही संगठन का प्राण है । इसी के आधार पर समाज में सबके हृदय, मन और संकल्प एक ही दिशा में चलते हैं तथा हर क्षेत्र में उन्नति होती है ।

असहिष्णुता से समाज में धोखा, विश्वासघात, क्रोध, वैमनस्य आदि बुराइयां जन्म लेती हैं और अराजकता का वातावरण बनता है । चारों ओर दादागीरी, गुंडागीरी, छल, प्रपंच का भय समाज में बना रहता है । जन जीवन असुरक्षित एवं अशांत हो जाता है । आज सर्वत्र यही दिखाई दे रहा है ।

संगठन का अत्यंत सुंदर आदर्श हमें भगवान शिव शंकर के जीवन में मिलता है । अंधे, लंगड़े, कोढ़ी, रोगी सभी को एक समान

सबसे महत्वपूर्ण बात तो यही है कि नर और नारी को एक समान स्तर प्रदान किया जाए । नारी को 'पांव की जूती' या ढोर, गंवार, शूद्र, पशु न समझा जाए । आधी जनसंख्या की इस प्रकार उपेक्षा करने से समाज में विकृति तो आती ही है परिवारों में भी घुटन भरा वातावरण दिखाई देता है । पति-पत्नी जब एक मन से, एक विचार से बराबरी के स्तर पर अपने दायित्वों को निभाने का संकल्प लेते हैं तो सर्वत्र सुख शांति की वर्षा होने लगती है । देश व समाज की प्रगति के लिए सुयोग्य नागरिक चाहिए और यह तभी संभव होगा जब माता-पिता दोनों ही मिलकर इस दायित्व को निभाने का पुरुषार्थ करें । तभी 'नर और नारी एक समान' का नारा सार्थक होगा । जीवन के व्यापक क्षेत्र में इस प्रकार सहयोग व सहकार से ही प्रगति पथ पर बढ़ा जा सकता है । यही विचारधारा खेत-खलिहान, कारखाने, कार्यालय आदि सभी क्षेत्रों में आवश्यक है ।

ज्ञान, विज्ञान, तप, साधना कितने ही ऊंचे स्तर की क्यों न हो, यदि उसका उद्देश्य समाज की उन्नति करना नहीं है तो समझना चाहिए कि सब कुछ निष्फल ही नहीं हानिकारक भी होगा । रावण ने समाज की उन्नति को अनदेखा किया और अपनी स्वार्थपूर्ति हेतु मन, विचार और संकल्प का संयोजन किया । फलस्वरूप वह स्वयं, उसका परिवार और सारा देश ही बरबाद हो गया । उसका धन बल, बुद्धि बल, सैन्य बल सब कुछ नष्ट हो गया । यही दशा भस्मासुर व दुर्योधन की भी हुई ।

ब्राह्मणों का यह परम पुनीत कर्तव्य है कि वे समाज में व्याप्त कुविचारों को नष्ट करके लोगों के मन, विचार व संकल्प को सत्मार्ग की ओर प्रेरित करें । विचार क्रांति अभियान का यही उद्देश्य है और यही सच्चा ब्राह्मणत्व है ।

उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः
समग्निमिन्ध्वं बहवः सनीलाः ।
दधिक्रामग्निमुषसं च
दवीमिन्द्रावतोऽवसे नि ह्वये वः ॥

(ऋग्वेद १०/१०१/१)

भावार्थ : जिस समाज में अधिक से अधिक लोग एक मन, विचार और संकल्प वाले होते हैं वह समाज उन्नतिशील होता है । वहां लोग तेजस्वी होते हैं ।

संदेश : मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । अकेले न तो वह रह सकता है और न कुछ कर ही सकता है । उसकी सारी गतिविधियां दूसरों के आचरण से प्रभावित होती हैं । सांसारिक क्रियाकलापों के सफल संचालन हेतु अनेकानेक व्यक्तियों को मिलकर सहयोग करना पड़ता है ।

प्रत्येक व्यक्ति मन, वचन, कर्म और स्वभाव से स्वतंत्र होता है । वह जो चाहे सो सोच सकता है, कर सकता है । परंतु जब तक आपस में मिलकर, एक सा ही चिंतन मनन करके, एक से संकल्प की पूर्ति हेतु कर्म नहीं किए जाएंगे सफलता नहीं मिल सकेगी । मनुष्य समाज का एक अभिन्न अंग है । जब तक वह अपने ही स्वार्थ की बात सोचेगा न तो अपना भला कर सकेगा और न ही समाज का । उलटे अराजकता का वातावरण बन जाएगा । परंतु जब वह सबके हित में अपना हित समझने लगेगा, अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं व लालसाओं पर संयम करने लगेगा, तो समाज में चतुर्दिक सुख-शांति का वातावरण बनेगा । हर व्यक्ति उन्नति के मार्ग पर बढ़ेगा, तेजस्वी होगा, ओजस्वी होगा, वर्चस्वी होगा ।

गुणात्मक वृद्धि भी होती जाती है ।

सबसे पहला ज्ञान माता की गोद में ही प्राप्त होता है । माँ के स्नेह, ममत्व एवं सौहार्द्र से अनुप्राणित बालक उसके आदेश को बड़ी तत्परता से मानता है । यदि माताएं अपने दायित्व को भली-भांति निभाएं तो वह बालकों के मन में सद्विचार जगाने के साथ साथ सामाजिक कुरीतियों के प्रति विद्रोह के बीज भी रोप सकती हैं और देश को स्वस्थ विचारशील तथा विद्वान नागरिक दे सकती हैं । महर्षि अरविंद ने भी शिक्षा की पूर्णता के लिए पांच पहलुओं पर बल दिया था । इनका संबंध मनुष्य की पांच प्रधान क्रियाओं से है–भौतिक, प्राणिक, मानसिक, अंतरात्मिक और आध्यात्मिक । शिक्षा के ये पांचों पहलू परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं और जीवन के अंतकाल तक मनुष्य के व्यक्तित्व को पूर्णता प्रदान करते हैं । बचपन से ही इन पांचों पर ध्यान दिया जाना चाहिए । इस प्रकार के ज्ञान से ही गुण संवर्धन एवं आचार विचार नियंत्रण की स्थायी व्यवस्था बनती है और महामानव बनने का मार्ग प्रशस्त होता है ।

ज्ञान से ही आदमी की समझदारी बढ़ती है । जब समझदारी बढ़ेगी तो उसके अंदर ईमानदारी बढ़ेगी । ईमानदारी बढ़ेगी तो आदमी में जिम्मेदारी आएगी और जिम्मेदारी आएगी तो बहादुरी आएगी । चारों चीजें एक साथ जुड़ी हुई हैं । तब आदमी में वह शक्ति उत्पन्न होगी कि वह अनीति से लोहा ले सके, दुष्प्रवृत्तियों, कुरीतियों, कुसंस्कारों और कुविचारों को समूल नष्ट करने के लिए जी जान से जूझने को तैयार हो सके तथा एक स्वस्थ समुन्नत समाज के निर्माण में अग्रणी भूमिका निभा सके ।

जो दूसरों को विद्वान, सुशील और सदाचारी बनाने के लिए ज्ञान दान करता है वही सच्चा ब्राह्मण है ।

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो
नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च
ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिःसह ॥

(ऋग्वेद ६/२८/३, अथर्व वेद ४/२१/३)

भावार्थ : संसार का सर्वश्रेष्ठ दान ज्ञानदान है क्योंकि चोर इसे चुरा नहीं सकते न ही कोई इसे नष्ट कर सकता है । यह निरंतर बढ़ता रहता है और लाखों को स्थायी सुख देता है ।

संदेश : आदमी जितना समझदार है, नासमझ उससे भी ज्यादा है । परमात्मा ने मनुष्य को ऐसा सुंदर मस्तिष्क दिया है, सोचने-विचारने, चिंतन-मनन की शक्ति दी है कि आज के विशालतम कम्प्यूटर भी वह बना सका है, अनेकानेक आविष्कारों के द्वारा सुख सुविधाओं का अंबार लगा दिया है और कहीं रुकने का नाम भी नहीं लेता । परंतु ज्ञान का सदुपयोग कर सकने की विवेक बुद्धि बिरलों में ही होती है । अधिकतर व्यक्ति तो नासमझ ही हैं और जो थोड़े बहुत समझदार हैं उनमें भी अधिकांश चिंतन और चरित्र की भ्रष्टता से, आलस्य और प्रमाद से, कुविचारों के दुराग्रह से बुरी तरह ग्रसित हैं ।

विद्वानों का यह कर्तव्य है कि अज्ञान के अंधेरे में भटकते हुए समाज को ज्ञान के प्रकाश से सच्चा मार्ग दिखाएं । किसी को रुपये-पैसे, कपड़े-लत्ते, खाने-पीने की सहायता कर देना तो ठीक है पर इसका प्रभाव क्षणिक होता है । ज्ञान का दान सर्वश्रेष्ठ दान है । इससे मनुष्य को सच्चा मार्ग मिलता है तथा पुरुषार्थ से आत्मोन्नति करने की प्रेरणा मिलती है । यह एक ऐसी स्थायी संपत्ति है जिसका लाभ मनुष्य जीवनपर्यंत उठाता रहता है और साथ ही इस संपत्ति में

का दर्द समझता हो । सत्य और ज्ञान के सदुपदेश से समाज की विकृतियों को दूर करता हो । परशुराम ने ऐसे समय में माला खूंटी पर टांग कर फरसा उठा लिया था । गुरु गोविंदसिंह नें 'एक हाथ में माला और एक हाथ में भाला' का नारा दिया था । उन्होंने कहा कि यही मुक्ति का मार्ग है । उन्होंने सिखों के माथे पर माला बंधवा दी और कहा 'तलवार चलाओ, राष्ट्र संस्कृति की रक्षा करो' । यही सच्चे ऋषि का धर्म है ।

शिक्षा मनुष्य के विकास की एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है । इसका उद्देश्य मनुष्य का ऊर्ध्वगामी विकास करना है । यह उसके संपूर्ण व्यक्तित्व को विकसित करती है । स्वामी विवेकानंद जी ने कहा था "जो शिक्षा साधारण व्यक्ति को जीवन संग्राम में समर्थ नहीं बना सकती, जो मनुष्य में चरित्रबल, परहित भावना तथा सिंह के समान साहस पैदा नहीं कर सकती वह भी कोई शिक्षा है ? जिस शिक्षा के द्वारा जीवन में अपने पैरों पर खड़ा हुआ जाता है वही सच्ची शिक्षा है ।" वास्तव में हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जिससे चरित्र निर्माण हो, मनुष्य की मानसिक शक्ति बढ़े और वह स्वाभिमान के साथ स्वावलंबी भी बने ।

हमारे विद्वानों और ब्राह्मणों को भारत के प्राचीन गौरव और अपनी संस्कृति की गरिमा का पुनरुत्थान करने के लिए जन स्तर पर या व्यक्तिगत रूप से, जैसे भी संभव हो, शिक्षा के इस सार्थक स्वरूप को पुनर्जीवित करने के लिए ठोस प्रयास करने चाहिए । यही 'अस्तो मा सद्गमय' की मूल भावना है, यही शिक्षक का, उपदेशक का सच्चा धर्म है ।

विद्वानों व ब्राह्मणों को इसी पथ पर चलकर समाज को सुखी बनाने का दायित्व निभाना होगा ।

नराशंसः सुषूदतीमं यज्ञमदाभ्यः ।
कविर्हि मधुहस्त्यः ॥

(ऋग्वेद ५/५/२)

भावार्थ : विद्वान पुरुषों को चाहिए कि वे सत्य और ज्ञान के सदुपदेश से लोगों को ऐसे ही सुखी बनावें जैसे गाय अपने दूध से अपने पालक को सुखी बनाती है ।

संदेश : मध्यकाल के अंधकार युग में न जाने कैसे हमने धर्म, अध्यात्म, दर्शन, आत्मज्ञान, ब्रह्मविद्या, साधना, स्वाध्याय आदि के ऐसे अर्थ ग्रहण कर लिए जिनसे समाज को उलटी दिशा मिली । प्राचीनकाल में, वैदिक युग में, रामराज्य में, मौर्य और गुप्तकाल में हमारा देश जगत्गुरु था । तब भी वही शास्त्र थे जिनसे प्रेरणा लेकर हम लौकिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष करते चले गए । उन्हीं शास्त्रों के अर्थ का अनर्थ करने से संसार में आज हम एक भिखारी की स्थिति में पहुँच गए हैं ।

शिक्षा केवल भौतिक प्रयोजन पूरे करती है । जीवन का वास्तविक लक्ष्य प्राप्त करने के लिए, सुख शांति का जीवन जीने के लिए आदमी को ज्ञानवान, सदाचारी और कर्तव्यपरायण भी होना चाहिए । यही असली विद्या है । ऋषियों ने विद्या और शिक्षा के दोनों काम अपने हाथ में लिए और सत्य व ज्ञान के सदुपदेश से जीवन पथ को आलोकित किया । इस ज्ञान के अभाव से ही समाज में दोष पैदा हुए । जिस प्रकार शरीर से सारा रक्त निकल जाने पर प्राण निकल जाते हैं, उसी प्रकार चेतना में से सत्य और ज्ञान निकल जाने से आदमी निष्प्राण मृतक समान हो जाता है ।

ऋषि उसे कहते हैं, ब्राह्मण उसे कहते हैं जो समाज व संस्कृति

कोई प्रभाव भी नहीं होता और यदि वे कोई अच्छी बात भी कहते हैं तो भी लोगों के दिलों में वह बात घर नहीं बना पाती । गांधी जी बोलते थे तो लाखों लोगों के हृदय पर असर होता था । उपदेश देना एक बहुत ही पैना हथियार है लेकिन शर्त यही है कि पहले उसे स्वयं आचरण में लाकर उदाहरण प्रस्तुत किया गया हो ।

श्रावणी पर्व पर हम सप्तऋषियों की पूजा करते हैं और यह इसलिए करते हैं कि उन्होंने हमें मन, वचन और कर्म में पूरी ईमानदारी के साथ समन्वय रखते हुए सत्कर्मों में प्रेरित करने के उपदेश दिए । वे हमारे आदर्श पुरुष हैं । परंतु आज ब्राह्मणत्व डूब रहा है । ऐसे में हम सभी पर 'ऋषि परंपरा के पुनर्जीवन' की जिम्मेदारी है, अपनी 'कथनी और करनी' में एकरूपता लाने की आवश्यकता है । यह तभी संभव होता है जब मनुष्य 'सादा जीवन उच्च विचार' के आदर्श को अपनाए और अपने हृदय में सदैव शुद्ध व पवित्र भावनाओं को ही आश्रय दे । जीवन में सादगी का स्वभाव होने से न तो मन भौतिक समृद्धियों की ओर लालायित होता है और न दूसरों को देखकर मन में ईर्ष्याभाव जागृत होता है । लोभ, मोह, क्रोध की दुष्प्रवृत्तियाँ स्वतः ही दूर भाग जाती हैं । इनके स्थान पर सद्गुणों का अभिवर्धन होता है ।

हमारे ऋषियों ने इसी जीवन शैली को अपनाया था । सदैव प्रभु चिंतन में निमग्न रहकर लोकहित के कार्यों में अपने को समर्पित किए रहते थे । जन-जन में सात्विकता का विकास करने हेतु, उन्हें तेजस्वी, ओजस्वी एवं वर्चस्वी तथा विद्यावान, बलवान एवं धनवान बनाने के लिए, उचित मार्गदर्शन करते रहते थे ।

इसी में ब्राह्मणत्व की सार्थकता है ।

यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते सं
छायया दधिरे सिध्रयाप्स्वा ।
महीमस्मभ्यमुरुषामुरु ज्रयो
बृहत्सुवीरमनपच्युतं सहः ॥

(ऋग्वेद ५/४४/६)

भावार्थ : सच्चा उपदेशक वही होता है जो जैसा आत्मा में हो वही मन में, जो मन में हो वही वाणी के द्वारा व्यक्त करे । अर्थात जो स्वयं आचरण में लाए वही उपदेश करे जिससे सभी लोगों में विद्या, बल व धन का उत्कर्ष हो । यही सदुपदेश है ।

संदेश : भारत देश ऋषियों का, गुरुओं का देश है, जहाँ से विश्व को प्रकाश मिलता रहा है । यहीं से ऋषियों ने उच्च कोटि का विचार करने की शैली दी थी । पहले विचार करने की शैली उच्चकोटि की थी, इसलिए सबका जीवन भी उत्कृष्ट था । आजकल विचार करने की शैली निम्न स्तर की हो गई है इसी से ओछे विचार करने वाले और स्वार्थ की ही इच्छा रखने वाले देश के कर्णधार बन गए हैं और समाज में ऐसे ही निकृष्ट विचारों को प्रसारित करते रहते हैं ।

धर्म के ठेकेदारों ने, उपदेशकों ने ब्राह्मणत्व का और अध्यात्म का यही मतलब समझा है कि भोली-भाली जनता को उल्टे सीधे उपदेश देकर बरगलाते रहो । ऐसे उपदेशकों के विचार भी निम्न स्तर के हैं और आचरण भी निम्न स्तर के । उनका तो एक ही मूलमंत्र है, 'मुँह में राम बगल में छुरी' । आज हमारा समाज इन उपदेशकों के रूढ़िवादी चिंतन तथा भ्रष्ट आचरण के कारण जर्जरावस्था में पहुँच गया है । उनके आचरण में उत्कृष्टता के अभाव के कारण उनकी वाणी में

सुविधाओं को अपने ही कब्जे में रखने में उलझे रहते हैं और हाड़तोड़ मेहनत करने पर भी किसान स्वयं अपना पेट भी नहीं भर पाता । यह सब क्यों हो रहा है ? क्यों हम मर्यादाओं का, नागरिक कर्तव्यों का पालन करने में अनिच्छा प्रदर्शित करते हैं ? सच तो यह है कि आज हमारे विचार दूषित हो गए हैं । स्वार्थ, माया, मोह, लोभ के पर्दों के पार हम कुछ देख ही नहीं पाते ।

ब्राह्मण स्वयं ही स्वार्थ में अंधा होकर पतित हो गया है । वह समाज को जागृत करने, कर्तव्यनिष्ठ बनाने के महती दायित्व को भूल गया है । इसी से किसान की भी दुर्दशा हो रही है । वह भी चारों ओर व्याप्त भौतिक साधनों की चकाचौंध से भ्रमित होकर उसकी अंधी दौड़ में सम्मिलित होने को लालायित हो रहा है । वह भी दूसरों की देखा देखी श्रम से जी चुराने लगा है और काहिल व कामचोर होता जा रहा है, उसकी प्रतिभाएं कुंठित होती जा रही हैं । वह अपने विवेक का प्रयोग भी उचित रीति से नहीं करता जिससे उसके शरीर, मन व बुद्धि की सक्रियता व प्रखरता में कमी आती जाती है । अपने उथले चिंतन और बेतुके निर्णयों के कारण उसे हर ओर हानि, निराशा व हताशा का ही सामना करना पड़ता है ।

इसका मूल किसानों में शिक्षा का अभाव ही है । एक दूसरे को सहयोग देना, उनके अनुभवों से लाभ उठाना और प्राकृतिक संसाधनों का समुचित सदुपयोग करना ही उत्तम खेती के मूल आधार हैं । वर्षा जल को व्यर्थ बरबाद होने से बचाकर, उसका उचित संचयन धरती की हरितमा के संवर्द्धन हेतु अत्यावश्यक है ।

ब्राह्मणों का, विद्वानों का यह कर्तव्य है कि वे किसानों का उचित मार्गदर्शन करें ।

निराहावान्कृणोतन सं वरत्रा दधातम।
सिञ्चा हा अवत मुद्रिणं वयं सुषेकमनुपक्षितम्॥

(ऋग्वेद १०/१०१/५)

भावार्थ : *भूमि पर पेट पालन करने वाला किसान होता है अतः समाज में उसको श्रेष्ठ स्थान मिले। शिक्षित जन ही अच्छे किसान हो सकते हैं।*

संदेश : परमेश्वर प्रत्येक प्राणी के जन्म से पूर्व ही उसका पेट भरने की व्यवस्था कर देता है। सबसे पहले तो उसे मां का दूध ही उपलब्ध हो जाता है। सारे जीवन भर मनुष्य का पेट भरने के लिए अन्न पैदा करने को भगवान ने किसान को अपने प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त कर रखा है। यह किसान ही हमारा अन्नदाता परमेश्वर है। वह केवल गेहूं, चना, चावल, दाल ही नहीं उपजाता वरन तरह तरह के पौष्टिक फल, वनस्पतियां, औषधीय जड़ी-बूटियां भी उत्पन्न करता है। उसी के श्रम से पशुओं को उचित आहार मिलता है और हमारे लिए घी दूध की नदियां प्रवाहित होती हैं। किसान ही अपने तप व साधना से हमारे लिए अन्न, फल, औषधि, जल, वायु, पशु, धन व सुख-संपत्ति का अनुदान धरती माता से प्राप्त करता है। वही हमारी प्राणशक्ति है, जीवनाधार है, प्रजापालक है। उसका स्थान किसी भी रूप में भगवान से कम नहीं है। उसके सहयोग के बिना तो संसार का कोई भी कार्य नहीं हो सकता, 'भूखे भजन न होय गोपाला'।

उस किसान को समाज में सर्वश्रेष्ठ स्थान मिलना चाहिए। राजा जनक ने स्वयं खेत में हल चलाकर कृषक की गरिमा को बढ़ाया था। पर आज की व्यवस्था में सबसे अधिक शोषण किसान का ही हो रहा है। राजनेता, अधिकारी, व्यापारी सभी संसार की समस्त सुख

साथ साथ उसकी आंतरिक प्रसन्नता ही उसके शस्त्रों की धार को पैना कर सकने में सक्षम होगी, उसके स्वाभिमान को जगा सकेगी । स्वाभिमान अर्थात किसी अच्छी बात के लिए अत्यधिक रुचि, प्रेम, लगन, आस्था अथवा श्रद्धा होना । स्वाभिमानी व्यक्ति ही किसी श्रेष्ठ बात से एकरूप होकर उसे अपने जीवन का केंद्र बिंदु बना सकता है और लक्ष्य की प्राप्ति हेतु तदनुसार आचरण कर सकता है । स्वाभिमान की प्रेरक शक्ति ही सैनिकों में देश प्रेम एवं राष्ट्ररक्षा की अग्नि प्रज्ज्वलित करने में समर्थ होती है, उनमें त्याग एवं बलिदान की भावना जागृत करती है । तभी वह पूरी निष्ठा से, लगन से, मनोबल से शत्रु सेना को गाजर-मूली के समान काट फेंकने का पुरुषार्थ कर सकने में समर्थ होता है । उसके तेज और पौरुष को देखकर शत्रु स्वयं ही हतोत्साहित हो जाता है ।

ब्राह्मणों पर और पूरे समाज पर यह दायित्व है कि वे इन सब बातों को सुनिश्चित करें । चाणक्य जैसे प्रकांड, तेजस्वी और दूरदर्शी व्यक्ति ही समाज की शांति व सुरक्षा को अक्षुण्ण रख सकते हैं । आज की विषम परिस्थितियों में लोगों के विचारों को बदल कर उनकी समझदारी को विकसित करना अत्यंत आवश्यक है तभी शस्त्रों और साधनों से सुसज्जित वीरों की अनुशासित टोली अतुलित शौर्य एवं अदम्य साहस का प्रदर्शन कर सकेगी, उनका उत्साह व कर्मनिष्ठा जागृत होगी तथा राष्ट्र ऐश्वर्यवान बनेगा ।

आज के पढ़े लिखे लोगों को यह सब भली भांति समझ लेना चाहिए और स्वार्थपर्ता का त्याग करके सच्चे ब्राह्मण का धर्म निभाना चाहिए ।

त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो
हर्षमाणा हृषितासो मरुत्वन् ।
तिग्मेषव आयुधा संशिशाना
उप प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः ॥

(अथर्व वेद ४/३१/१)

भावार्थ : हमारे सैनिक बलशाली हों, शत्रुमर्दन की योग्यता रखते हों और सदैव प्रसन्न रहने वाले हों । उनके अस्त्र कुंठित न हों । राष्ट्र रक्षा में वे अपने हितों को होम देने को तत्पर रहें ।

संदेश : सैनिक राष्ट्र की अस्मिता व गौरव के सजग प्रहरी होते हैं । वही बाहरी शत्रुओं से देश की रक्षा करते हुए आंतरिक सुरक्षा एवं शांति का वातावरण निर्मित करते हैं । सैनिकों का असीम बलशाली होना तथा हर प्रकार के शत्रुओं का मानमर्दन कर सकने की अतुलित क्षमता से संपन्न होना अत्यंत आवश्यक है ।

पर क्या यह सब केवल कहने मात्र से ही संभव हो सकता है ? देश में चारों ओर अराजकता फैली हो, लूट-मार, भ्रष्टाचार, चोरबाजारी, अनीति, दुराचार का तांडव हो रहा हो, ऐसे में क्या यह संभव है कि सैनिक निष्ठापूर्वक, अनुशासित रहकर देश की रक्षा पूरे मनोयाग से कर सकें ? नहीं ! यह सब असंभव है । सैनिक अकेला नहीं होता । पीछे उसका परिवार, खेती, व्यापार आदि सब कुछ रहता है । जब वह पूरी तरह से आश्वस्त होगा कि ये सब सुरक्षित रहेंगे, उनका मान-सम्मान रहेगा, देशवासी सुख-दुख में उनकी हर प्रकार से देख-भाल करेंगे तभी तो वह निश्चिंत होकर देश की रक्षा हेतु अपने प्राण हथेली पर लेकर समरभूमि में कूद सकेगा । युद्ध कौशल एवं सामरिक ज्ञान के

ढकेल देते हैं । उपदेशक, परिव्राजक, धर्माचार्य, मठाधीश अधिकतर भोली भाली जनता को गुमराह करके उनकी भावनाओं को भुनाने में ही लगे रहते हैं । तरह तरह के नकली भगवान व अवतार चमत्कार दिखाकर लोगों को धोखा देते हैं और धर्म की आड़ में अपना उल्लू सीधा करते हैं । इन्हीं सबका परिणाम है कि आज देश में अधिसंख्य व्यक्ति स्वार्थी, मक्कार व धूर्त दिखाई पड़ते हैं । उनकी संवेदना मर गई है, उदारता नष्ट हो गई है । उनका जीवन पशुओं से भी निम्न स्तर का है । देवता बनना तो दूर रहा वे मानव भी नहीं रहे और दानव बन गए हैं, असुर बन गए हैं, राक्षस बन गए हैं ।

क्या परमात्मा ने इसीलिए मनुष्य को इतना सर्वगुण संपन्न शरीर दिया है, बुद्धि दी है कि वह दूसरों को अज्ञान की शिक्षा देकर पतन के मार्ग पर ले जाए ? अरे नहीं, वेद ने तो मानव जाति को सूर्य के समान, सविता के समान, जीवन जीने का आदेश दिया है । जैसे सूर्य उदय होकर ऊपर को उठता है वैसे ही मनुष्य भी सदैव उन्नति के पथ पर ही चले और ऊँचा उठे । यही नहीं, सूर्य ऊपर उठकर संसार को प्रकाश देता है, ऊर्जा देता है, वैसे ही दूसरों को ज्ञान का प्रकाश दे, सत्प्रेरणा व सत्परामर्श के द्वारा दूसरों का पथ प्रशस्त करे, जीवन शक्ति प्रदान करे, उन्हें पुरुषार्थ व समय पालन की शिक्षा दे । सूर्य जैसे संसार की गंदगी को अपने ताप से नष्ट कर देता है वैसे ही सबके दोष-दुर्गुणों को दूर करके सद्गुणों की स्थापना का प्रयास करे । यही तो सामान्य जन के लिए वेद का निर्देश है । यही सर्वशक्तिमान परमेश्वर की उससे अपेक्षा है ।

विद्वानों और ब्राह्मणों से तो परमपिता की और भी अधिक अपेक्षाएं हैं । प्रत्येक ज्ञानवान व्यक्ति को वेद के इस निर्देश को हृदयंगम करके सच्चा ब्राह्मण बनना चाहिए ।

रहता है । दोष-दुर्गुणों में फंसकर मनुष्य एक ऐसे नशे में डूब जाता है कि चाह कर भी फिर वह उनके चंगुल से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाता । उसकी आत्मा उसे धिक्कारती है पर वह आंखें फेर कर दुर्व्यसनों की चाश्नी में मक्खी के समान फंसता जाता है । धीरे-धीरे उसका मनोबल टूटता है और वह स्वयं को असहायावस्था में पाता है । वह अपना जीवन तो बरबाद करता ही है, अन्य व्यक्तियों के लिए भी नरक का वातावरण बना देता है ।

ऐसा नहीं है कि सांसारिक बातों को पूरी तरह से तिलांजलि देकर सारे मनुष्य वैरागी-संन्यासी हो जाएं । संसारवाद और अध्यात्मवाद दोनों ही महत्वपूर्ण हैं और जीवन की सफलता के लिए दोनों में उचित समन्वय होना चाहिए । तभी लोगों की शारीरिक, मानसिक व आत्मिक उन्नति संभव होगी । तभी देश में स्वर्गीय वातावरण बनेगा और लोग स्वस्थ, दीर्घायु, प्राणवान, चरित्रवान, समर्थ और सुखी होंगे । राष्ट्र की कीर्ति पताका सर्वत्र फहराएगी ।

ब्राह्मण वही हैं जो तप, त्याग, संयम, ज्ञान, उदारता एवं लोकहित जैसी प्रवृत्तियों को कूट-कूट कर अपने अंदर भरते हैं और एक मजबूत बांध की तरह सुदृढ़ आधार पर खड़े होते हैं । फिर वे एक बज्रशिला की तरह जनमानस की धारा को उचित दिशा में मोड़ने के लिए दृढ़तापूर्वक अड़ जाते हैं । वे जो भी क्षेत्र चुन लेते हैं उसी में अपने श्रेष्ठ व्यक्तित्व, उच्च आदर्श एवं प्रचंड पुरुषार्थ द्वारा लाखों-करोड़ों मनुष्यों के भीतर असुरता और स्वार्थपरता को घटाकर देवत्व को बढ़ाने में सफलता प्राप्त करते हैं ।

ब्राह्मण का धर्म है स्वयं के लिए सजगता और दूसरों को जागृत बनाए रखने की क्षमता ।

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।
तंल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥

(यजुर्वेद २०/२५)

भावार्थ : जहां ज्ञान द्वारा सत्कर्मों का जागृत रखना जरूरी है वहां शत्र द्वारा दुष्टों का संहार भी आवश्यक है । ज्ञान और कर्म के संयोग से ही सर्वांगपूर्ण आध्यात्मिक जीवन बनता है । ब्राह्मण वर्ण का ज्ञान और क्षत्रिय वर्ण का तेज जहां साथ साथ रहेगा वह समाज सदैव फलता फूलता रहेगा ।

संदेश : गीता में भगवान ने कहा है कि समय समय पर वह पृथ्वी पर अवतार लेते रहे हैं । किसलिए ? 'परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृतां' ही उनका लक्ष्य रहा है । संसार में सत्कर्मी साधु व्यक्तियों की रक्षा करना और दुष्ट, दुराचारी, पापी लोगों का संहार करना । समझाने-बुझाने से बात न बने, साम-दाम-दंड-भेद, किसी भी तरह उनको सीधे रास्ते पर न लगाया जा सके, तो उनका संहार करना ही धर्म है । 'निशिचरहीन करौं महि' ही संसार को सुखी बनाने का मूलतंत्र है । इसी से रामराज्य की स्थापना हुई थी ।

यह आवश्यक नहीं है कि परमात्मा तीर-कमान लेकर या बांसुरी बजाता हुआ ही अवतार ले और वही धरती को पापी-राक्षसों से मुक्ति दिलाए । वह तो हर समय, हर स्थान पर उपस्थित रहता है । हमारे शरीर के रोम-रोम में, कण-कण में, रग-रग में वह विद्यमान है । उस परमात्मा का पवित्र अंश ही हमारी आत्मा है । हम ही उसके प्रतिनिधि हैं, दुलारे राजकुमार हैं, उसके असंख्य अनुदान वरदान हमें प्राप्त हैं । हमें ही अपनी प्रतिभा व क्षमता का संसार में सत्कर्मों के प्रसार और

दुष्कर्मों के नाश करने हेतु उपयोग करना चाहिए । यही सच्चा मानव धर्म है । ज्ञानयोग और कर्मयोग की साधना साथ साथ करने में ही मानव शरीर की उपयोगिता है अन्यथा हममें और पशुओं में क्या अंतर रह जाएगा ।

मनुष्य में और पशु में सिर्फ इतना ही अंतर है कि पशु किसी मर्यादा में बंधा हुआ नहीं है । मनुष्य के ऊपर हजारों मर्यादाएं और नैतिक नियम बांधे गए हैं और सारी जिम्मेदारियां लादी गई हैं । जिम्मेदारियों और कर्तव्यों को पूरा करना उसका धर्म है । शरीर के प्रति हमारा कर्तव्य है कि उसे हम निरोग रखें । मस्तिष्क के प्रति हमारा कर्तव्य है कि उसको सदगुणी बनाएं । देश, धर्म, समाज और संस्कृति के प्रति हमारा कर्तव्य है कि उन्हें भी समुन्नत बनाने के लिए भरपूर ध्यान रखें । लोभ और मोह के पाश से अपने आपको छुड़ाकर अपनी जीवात्मा का उद्धार करना, यह भी हमारा कर्तव्य है और भगवान ने जिस काम के लिए हमको इस संसार में भेजा है, जिस काम के लिए मनुष्य योनि में जन्म दिया है, उस काम को पूरा करना भी हमारा कर्तव्य है । अपने ज्ञान और प्रतिभा की उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए तदनुसार श्रेष्ठ आचरण करना भी हमारा पवित्र कर्तव्य है । यही ज्ञानयोग व कर्मयोग की सच्ची साधना है । असली ईश्वर भक्ति है । यही मानव को मानवता की गरिमा प्रदान करती है ।

वर्ण व्यवस्था में चारों वर्णों को समाज के उत्थान हेतु सम्मिलित रूप से कार्य करने का विधान था जिसे हम भूलते जा रहे हैं। इस ज्ञान के अंकुश द्वारा ही समाज तेजस्वी, वर्चस्वी बनता है, उन्नति करता है और फलता-फूलता है ।

यो जागार तमृचः कामयन्ते,
यो जागार तमु सामानि यन्ति ।
यो जागार तमयं सोम आह,
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥

(ऋग्वेद ५/४४/१४)

भावार्थ : जो जागृत हैं और आलस्य व प्रमाद से सदैव सावधान रहते हैं उन्हीं को इस संसार में ज्ञान और विज्ञान प्राप्त होता है । उन्हीं को शांति मिलती है । वे ही महापुरुष कहलाते हैं ।

संदेश : 'उत्तिष्ठत जागृत प्राप्य बरान्निबोधत', उठो, जागो और जब तक ध्येय को न पा लो, रुको मत । स्वामी विवेकानंद का यह मूल मंत्र है । एक भजन है – उठ जाग मुसाफिर भोर भई, जो जागत हैं सो पावत हैं । यहां निर्देश है कि उठो और जागो तभी कुछ पा सकोगे अन्यथा यह मनुष्य जीवन ही व्यर्थ हो जाएगा । पहले उठो और फिर जागो, यह तो उल्टी बात लगती है । मनुष्य सोते से पहले जागता है फिर बिस्तर से उठता है । पर नहीं, क्या हम सचमुच जागे हुए हैं ? हमारे ऊपर अज्ञान का, आलस्य का, प्रमाद का, तमोगुण का जो नशा छाया हुआ है उससे हमारी आंखें अभी भी मुंदी हुई हैं । फिर हम जागृत कहां हैं ? परम जागृत तो परमेश्वर है । इसी तरह हम भी अपनी शक्ति भर सदा जागृत रहेंगे, सदा सावधान और कटिबद्ध रहेंगे । अपने कर्तव्यों का पालन करने में कभी भी आलस्य के वशीभूत नहीं होंगे । 'काल करे सो आज कर, आज करे सो अब' की भावना से सदैव कार्य के प्रति समर्पित रहेंगे, उद्यत रहेंगे, प्रमाद नहीं करेंगे । इस प्रकार अभ्यास करते रहने से ही हम परमेश्वर के गुणों को

अपने में धारण करते हुए सफलता की सीढ़ियों पर चढ़ सकेंगे ।

यह संसार जागरूक लोगों के लिए ही बना है । वही आलस्य रहित होकर अपने पुरुषार्थ से सच्चा ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो पाते हैं । ज्ञान विज्ञान से सबकी सुख-शांति के लिए अनेकानेक वस्तुओं का निर्माण करते हैं, सुख, श्रेय, ऐश्वर्य सब उन्हें प्राप्त होता है । संसार की समस्त सुविधाएं उन्हें सहज ही उपलब्ध हो जाती हैं । जो आलसी हैं वे सुख सुविधाओं के पीछे भागते तो फिरते हैं, लालसा व कामना तो करते हैं, पर उनके हाथ कुछ भी नहीं आता । वे तामसिकता के नशे में पड़े रहते हैं और सात्विकता का अमृत उन्हें मिल ही नहीं पाता । आलस्य से बढ़कर अधिक घातक और अधिक समीपवर्ती शत्रु दूसरा कोई नहीं होता । आलस्य और प्रमाद को त्यागकर जब तक उद्यमशीलता का मार्ग नहीं अपनाया जाएगा, स्थायी प्रगति संभव नहीं हो सकेगी । परमात्मा की कृपा प्राप्त करने के लिए हमें उसके चरणों में अपने उद्यम, साहस, धैर्य, बुद्धि, शक्ति और पराक्रम के पुष्प चढ़ाने होंगे । भगवान भी उसी की सहायता करता है जो स्वयं पुरुषार्थ करता है । वेद की यह स्पष्ट घोषणा है-'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा: ।'

पर आज स्थिति अत्यंत विषम होती जा रही है । छोटे-छोटे बच्चे और छात्र तक अपना समय बेकार की बातों में नष्ट करते रहते हैं, अश्लील एवं निरर्थक साहित्य को रस लेकर पढ़ते है और अपने विचारों को दूषित करते हैं । यही नहीं, डाक्टर, शिक्षक, व्यापारी, किसान, मजदूर, अधिकारी सभी में कामचोरी व आलस्य का रोग बुरी तरह से फैलता जा रहा है ।

समाज से आलस्य रूपी राक्षस को मार भगाना ब्राह्मणों का मूल कर्तव्य है ।

**इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥**

(ऋग्वेद ८/२/१८; अथर्व वेद २०/१८/३)

भावार्थ : आलसी व्यक्ति सदैव दुख पाते हैं इसलिए हम सबको कर्मनिष्ठ और उद्योगी बनना चाहिए ।

संदेश : आलस्य ही मनुष्य का असली शत्रु है । वह हमें पाप के मार्ग पर ले जाता है । सुस्ती और आलस्य के वशीभूत होकर हम अनेक पापकर्मों में लिप्त हो जाते हैं । कई बार अत्यंत लाभकारी योजनाओं पर कार्य प्रारंभ करके केवल आलस्यवश ही बीच में छोड़ देते हैं, दूसरों से पिछड़ जाने पर निराश होते हैं और आत्मकल्याण से वंचित रह जाते हैं । परमात्मा भी आलसी और प्रमादी व्यक्ति को प्यार नहीं करता । उसका प्यार तो चैतन्य, उद्योगी एवं पुरुषार्थी के लिए ही होता है ।

यह सारा संसार यज्ञमय है । यहां हर व्यक्ति को हर समय अपने श्रम की आहुति देनी होती है । यही कर्मनिष्ठ होने का तात्पर्य है । संसार को ऊंचा, अच्छा और पवित्र बनाने में जो कर्म सहायता व सहयोग देता है वही शुभ कर्म कहलाता है । श्रम और उद्योग के अनुशासन में जो आलस करता है, परमेश्वर उसे चेतावनी देता है, ठोकर मारता है ओर दंड भी देता है । हमें सदैव सावधान रहकर श्रम व पुरुषार्थ में लगे रहना चाहिए । किसी भी कार्य को छोटा समझकर उसकी उपेक्षा या अवहेलना नहीं करना चाहिए । अधिकांश व्यक्ति इस प्रकार की मूर्खता में फंसे रहते हैं । इससे उनमें अहंभाव की अभिवृद्धि होती है जो उनकी कार्य क्षमता को भी नष्ट करता है ।

कर्मयोगी वही कहलाता है जो निःस्वार्थ भाव से शुभ कर्मों में सतत लगा रहता है । हम चाहते तो बहुत कुछ हैं पर करते कुछ नहीं हैं । इंद्रिय संयम, समय संयम, अर्थ संयम के अभाव में मनुष्य कर्मनिष्ठ नहीं हो सकता । वह मुख्य मार्ग से इधर उधर भटक जाता है और असफल होता है, दुखी होता है । जो लोग अपनी इंद्रियों को वश में रखते हैं, समय का सदुपयोग करते हैं, अर्थ को अनर्थ करने की छूट नहीं देते, वे ही ऐश्वर्यवान होते हैं । परमात्मा का प्यार पाने के लिए आलस्य को त्यागकर कर्मनिष्ठ होना ही सच्ची उपासना है ।

व्यक्ति एवं राष्ट्र को उन्नतिशील बनाने के कुछ मापदंड होते हैं । ये जो आवश्यक गुण हैं उन्हीं को श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में 'दैवी संपदा' कहा गया है । यही जीवन मूल्य हैं जिनमें मानवी जीवन को मूल्यवान बनाने की क्षमता होती है ।

संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं उन्होंने असीम कर्मठता एवं निष्ठा के साथ अपने जीवन का एक-एक पल समाजोत्थान हेतु समर्पित कर दिया है । रामकृष्ण परमहंस, महर्षि दयानंद, स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ, लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, डाक्टर हेडगेवार, आदि अनेकानेक महापुरुषों की जीवनी में हमें उनकी उत्कृष्ट उद्यमशीलता के ही दर्शन होते हैं । इनमें से किसी ने क्या कभी एक क्षण भी आलस्य में बिताया ? उनके लिए तो 'आराम हराम है' का ही मूलमंत्र सबकुछ था । ऐसे व्यक्तियों को अपने जीवन का आदर्श पुरुष बनाकर ही हम संसार में सफलता प्राप्त कर सकते हैं ।

हमारा यह कर्तव्य है कि हम स्वयं आलस्य को त्यागें और दूसरों को भी इस राक्षस से मुक्ति दिलाएं ।

त्रातारो देवा अधि वोचता नो
मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः ।
वयं सोमस्य विश्वह प्रियासः
सुवीरासो विदथमा वदेम ॥

(ऋग्वेद ८/४८/१४)

भावार्थ : आलस्य और व्यर्थ वार्तालाप से बचने के लिए सदैव क्रियाशील रहना चाहिए । हम दुर्गुणों से दूर रहें, श्रेष्ठ संतानों को जन्म दें और सर्वत्र हमारे ज्ञान की चर्चा हो ।

संदेश : हर व्यक्ति 'काम कम और बातें अधिक' के सिद्धांत पर ही चलना चाहता है । यह तमोगुणी और रजोगुणी प्रवृत्ति है जो मनुष्य को आलसी बनाती है और झूठी आत्मप्रशंसा को प्रेरित करती है । ये दुर्गुण उसके स्वभाव का अंग बन जाते हैं । आलसी व्यक्ति अप्राकृतिक जीवन जीते हुए स्वयं अपना ही नुकसान करता है । अज्ञान और आलस्य में डूबा हुआ वह अंधेरे में भटकता रहता है । वह इधर उधर की डींग मारता है और अपनी असफलताओं का दायित्व दूसरों पर थोपने का प्रयास करता है । ज्ञानी व्यक्ति उसकी चालों को समझ जाते हैं । परमात्मा की नजर से तो कुछ भी छुपा नहीं रहता । वह बार-बार उसे सावधान करता है, चेतावनी देता है पर तामसिक व राजसिक प्रवृत्तियों के कारण उसके आंख-कान बंद रहते हैं । वह न तो कुछ देखता है न सुनता है । प्रकृति का संदेश ग्रहण करने की क्षमता उसमें विकसित नहीं होती । वह निद्रा व आलस्य में दबा रहता है और आत्मप्रवंचना में डूबा रहता है ।

हमें चाहिए कि हम अपने पर संयम रखें, आहार, निद्रा, विश्राम

पर उचित नियंत्रण रखें, उन्हें अपने ऊपर हावी म होने दें । ऐसा करने से ही हम श्रेष्ठ बन सकेंगे, चारों ओर मधुरता, स्वच्छता, सादगी एवं सज्जनता का वातावरण उत्पन्न कर पाएंगे । यदि हम अपने समय को ठीक प्रकार से संयमित कर सकें तो हम पाएंगे कि कर्तव्यों की पूर्ति के बाद भी बहुत सा समय हमारे पास फालतू बच जाता है । उसे हम समाज में व्याप्त कुरीतियों के उन्मूलन में लगा सकते हैं ।

हमें अपने बच्चों को, आश्रितों व सहयोगियों को आलस्य से दूर रहने की शिक्षा देनी चाहिए । उनके सामने एक श्रमशील, संयमी व्यक्ति का उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए । बचपन से ही उनमें सदगुणों का बीजारोपण करते रहना चाहिए । यह एक दिन का कार्य नहीं, वरन एक सतत प्रक्रिया है । बालमन बड़ी सरलता से दोष-दुर्गुणों के प्रलोभन में फंस जाता है । पूरी सतर्कता से हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि उनमें दुर्गुण उत्पन्न ही न होने पावें । एक सजग किसान की तरह हर समय खेत में खर-पतवार की सफाई करते रहना चाहिए । दुर्गुणों को प्रारंभ में ही कुचल कर उन्हें पनपने और बढ़ने का अवसर ही नहीं देना चाहिए । बच्चों को सदैव सत्कर्मों में ही प्रेरित करते हुए उन्हें रचनात्मक कार्यों में लगाना चाहिए जिससे वे समाज में एक श्रेष्ठ नागरिक के रूप में यशस्वी हो सकें । संतान सुसंस्कारी और सच्चरित्र हो, इसके लिए माता-पिता को अपनी सुख सुविधाओं का त्याग व बलिदान करना होता है । अपने आचरण से दोष-दुर्गुणों को निकाल बाहर करके एक आदर्श प्रस्तुत करना होता है । यही वेद का आदेश है ।

आलस्य और निरर्थक बातों से सदैव बचें-यही ब्राह्मण का धर्म है ।

अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा ।
देवेभ्यः कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुवः ॥

(यजुर्वेद ३/४७)

भावार्थ : *आलस्य को त्याग कर पुरुषार्थी बनो, मूर्खता त्याग कर वेद ज्ञान प्राप्त करो, मधुर बोलो और परस्पर मिलजुल कर एक दूसरे की सहायता करो । इसी से इहलौकिक और पारलौकिक सुखों की प्राप्ति होगी ।*

संदेश : ज्ञान और विज्ञान का अजस्त्र भंडार वेद में भरा पड़ा है । वेद ज्ञान से ही हमारा भला होता है । वेदों से जहाँ हमें संसार के गूढ़तम तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त होता है वहीं इस प्राप्त ज्ञान के सदुपयोग का मार्ग भी दिखाई देता है । अज्ञान और कुसंस्कारों से छुटकारा पाना, गिरे हुओं को ऊपर उठाने का प्रयास करना तथा सद्ज्ञान का प्रसार करना ही मानव धर्म है । अधिकतर होता यही है कि मनुष्य अपने स्वार्थ, लालसाओं व कामनाओं को पूरा करने की मूर्खता में ही लगा रहता है । इसके लिए उचित अनुचित का भी ध्यान नहीं रखता और नीचता की पराकाष्ठा तक कर बैठता है ।

हमें चाहिए कि हम सदैव उस मार्ग पर चलें जिस पर सज्जन चलते हैं । 'ॐ देवानामपि पन्थामगन्म' । हम सब परस्पर सज्जनता का व्यवहार करें । सज्जनों का व्यवहार उदारता, सहायता एवं प्रेम से परिपूर्ण होता है । यही देवोपम व्यवहार है । हमें आपस में ऐसा ही व्यवहार करना चाहिए । वेद ज्ञान से सभी की उन्नति का मार्ग प्रशस्त करना चाहिए । अपने स्वार्थ से पहले दूसरों के लाभ का ध्यान रखना चाहिए । आपस में मधुर वाणी बोलना चाहिए । इससे कलह घटता है और प्रेम बढ़ता है । जिसने शहद सी मीठी

और घृत सी लाभदायक वाणी का महत्त्व समझ लिया वह सर्वत्र सफल होता है । हमें कभी किसी को गलत मार्ग पर ले जाने वाली सलाह नहीं देनी चाहिए। सबके हित का ध्यान रखकर ही कार्य करें ।

जीवन नश्वर है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि समय को नष्ट किया जाए, आलस्य और व्यर्थ की बातों में बरबाद किया जाए । अपितु, इससे तो मनुष्य को यह प्रेरणा लेनी चाहिए कि वह समय का ठीक उपयोग करे, उसे अमूल्य समझकर व्यर्थ में न जाने दे । समय का जब ठीक उपयोग किया जाएगा तभी समय बच सकेगा । परमात्मा ने समय रूपी धन देने में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया है । निर्धन, धनवान, मूर्ख, ज्ञानी, स्त्री, पुरुष, बच्चे, बूढ़े सभी को यह संपदा एक समान दी है । इस समय सीमा को न तो घटाया जा सकता है और न ही बढ़ाया । पर यह अवश्य है कि आलस व मूर्खता में हम इस समय को व्यर्थ नष्ट भी कर सकते हैं और इसका सदुपयोग करके एक ही जीवनकाल में इतना कार्य भी कर सकते हैं जो सैकड़ों व्यक्तियों के द्वारा भी संभव न होता हो ।

निष्क्रियता जड़ता का लक्षण है, मृत्यु का लक्षण है । इसीलिए आलसी, मूर्ख, अज्ञानी, दरिद्री लोग निष्क्रिय एवं जीवनमृत होते हैं । ज्ञानी व्यक्ति शांत एवं संतुलित वृत्ति के होते हैं और जीवन के एक-एक पल का सदुपयोग करते हैं ।

आलसी और काहिल व्यक्ति कहीं भी आनंद नहीं पाते । ज्ञानी और पुरुषार्थी ही श्रेय पाते हैं । उन्हें ही आत्मिक परमानंद की प्राप्ति होती है । वे जीवन में हर प्रकार से सुखी और संतुष्ट रहते हैं ।

धृतव्रतो धनदाः सोमवृद्धः स
हि वामस्य वसुनः पुरुक्षुः।
सं जग्मिरे पथ्या रायो
अस्मिन्त्समुद्रे न सिन्धवो यादमानाः ॥

(ऋग्वेद ६/१९/५)

भावार्थ : समुद्र को यद्यपि कोई कामना नहीं होती तो भी अनेक नदियां उसमें लीन होती रहती हैं । इसी प्रकार उद्योगी पुरुषों की सेवा में लक्ष्मी सदैव उपस्थित रहती है अर्थात जो उद्योग करते हैं, पुरुषार्थ करते हैं, उन्हें कभी धन का अभाव नहीं सताता ।

संदेश : 'सेवा परमोधर्मः' – दूसरों की सेवा करना संसार में सबसे पुनीत एवं पवित्र कार्य है । धर्म का एक मुख्य अंग सामूहिकता की भावना है । मिलजुल कर काम करने और एक दूसरे की सहायता करने के स्वभाव ने ही शिक्षा, स्वास्थ्य, संस्कृति, विज्ञान, व्यापार, शिल्प आदि अनेक क्षेत्रों में मनुष्य को प्रगति के उच्चतम सोपान तक पहुंचाया है । समाज में उत्थान के कार्यों के लिए अपनी क्षमता, प्रतिभा को नियोजित करना, दीन-दुखी, रोगी, असहाय व्यक्तियों की सहायता करना और सत्कार्यों व सत्प्रयासों में संलग्न समाजसेवी संस्थाओं को दान देना हमारा धर्म है ।

लोगों में यह भ्रम है कि दान देने में उनकी आर्थिक हानि होती है । सत्य तो यह है कि दूसरों की भलाई में धन व्यय करने से वह कई गुना होकर हमें मिल जाता है । 'सौ हाथों से कमाओ और हजार हाथों से बांटो', यह शास्त्रों का निर्देश है । दूसरों की सहायता करने वाला कभी भी दीन-दुखी नहीं रहता । यह तो

भगवान के खेत में बोने के समान है । एक एक दाने से हजार दाने हो जाते हैं । मनुष्य को चाहिए कि वह उद्योग और पुरुषार्थ में कभी भी प्रमाद न करे । मेहनत और ईमानदारी से अधिक से अधिक कमाए और अपनी ब्राह्मणोचित आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद उसे परोपकार में लगाए ।

समुद्र के पास अथाह जलराशि है पर वह उसे अपने उपयोग में नहीं लाता । सूर्य के सहयोग से भाप बनाकर बादलों को दे देता है कि जाओ और संसार की प्यास बुझाओ । अपना कोई स्वार्थ नहीं, कोई इच्छा नहीं, कोई कामना नहीं । पर उसके पास जल की कमी क्या कभी होती है ? नहीं, असंख्य नदियां हर समय उसे जल से भरती रहती हैं । इसी प्रकार पुरुषार्थ और परोपकार में संलग्न व्यक्ति को भी कभी धन का अभाव नहीं रहता । हर ओर से उस पर हर प्रकार के सहयोग की वर्षा होती रहती है । जब परोपकार की महत्वाकांक्षा मन में जागृत होती है तो अपने आप जीवन उन्नत होता है, दैन्य नष्ट होता है, दुख दूर भागते हैं, शरीर में नव सामर्थ्य का संचार होता है, बुद्धि में नया तेज आता है, मन की चंचलता दूर होती है, शारीरिक कष्ट सहने की क्षमता बढ़ती है और हर प्रकार से उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त होता है । अपनी प्रतिभा व क्षमता का उपयोग जब पारमार्थिक कार्यों हेतु किया जाता है तो परमात्मा के अनेक अनुदान वरदान स्वतः ही प्राप्त होने लगते हैं । इतना ही नहीं, अन्य व्यक्तियों का सहयोग भी सहज ही मिलने लगता है । आत्मोन्नति के मार्ग की बाधाएं अपने आप दूर हो जाती हैं और जीवन लक्ष्य तक पहुँचना सरल हो जाता है ।

विद्वानों और ब्राह्मणों को सफलता के इसी राजमार्ग पर चलने का प्रयास करना चाहिए ।

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम ॥

(अथर्व वेद ५/३/१)

भावार्थ : मनुष्यों को चाहिए कि वे संघर्ष से विचलित न हों और परमात्मा की उपासना करते हुए अपनी आत्मा और शरीर को बलवान और पुष्ट बनावें जिससे संसार में कोई उन्हें पद दलित न कर सके ।

संदेश : इस संसार में मनुष्य के समक्ष बड़ी ही विकट एवं विचित्र स्थिति हर समय उपस्थित रहती है । वह जो भी न्यायोचित कार्य करता है उसे दूसरे लोग अपने अन्यायपूर्ण दुष्कृत्यों से निष्फल करते जाते हैं । उसे हार पर हार खानी पड़ती है । इस दुरावस्था को दूर करने का कोई उपाय नहीं सूझता । चारों ओर चिंता, भय, शोक, क्रोध, निराशा, ईर्ष्या, तृष्णा एवं वासना का साम्राज्य फैला है । लोग अपनी लालसाओं की पूर्ति में भेड़चाल की तरह अंधे कुंए में गिर रहे हैं और उसे भी अपनी ओर खींच रहे हैं । वह क्या करे ? दूसरों की तरह क्या वह भी सत्य मार्ग को छोड़कर पाप की इस दलदल में कूदकर आत्महत्या कर ले ?

मनुष्य जीवन दिन काटने के लिए नहीं मिला है । यह तो श्रेष्ठ और बड़ा बनने के लिए है, कुछ महान कार्य करने के लिए है । जो लोग श्रेष्ठ और महापुरुष बनने के लिए प्रयत्नशील होते हैं, वे धन्य हैं । पर इसके लिए जागरूक रहकर सतत संघर्षशील रहना पड़ता है । मन को पक्का करके अपने लक्ष्य की ओर बढ़ना होता है । आदर्श पुरुषों का अनुसरण करना होता है ।

हमारा आदर्श कौन हो ? वासना और धन के लोभी मनुष्य न्याय

मार्ग से जब अपनी लोलुपता को पूरा नहीं कर पाते तो अनेक अनैतिक, छलपूर्ण मार्गों से स्वार्थपूर्ति करते हैं । क्या उन्हें अपना आदर्श बनाएं ? नहीं, कभी नहीं । सच्चा आदर्श पुरुष तो परमपिता परमात्मा ही है । उसका आदेश है कि हम सदैव अपने धर्म, कर्तव्य और उत्तरदायित्व को निबाहें । सच्चाई के मार्ग पर चलने में कितनी भी असुविधाएं आएं उनसे कभी भी विचलित न हों और प्रसन्नतापूर्वक अपने कार्य में जुटे रहें । सत्य मार्ग में आने वाली परेशानियों से जो घबराता नहीं, उन्हें दूर हटाने का पुरुषार्थ करता है, वही परमात्मा की सच्ची उपासना करता है ।

संघर्ष ही जीवन है । संसार में चारों ओर फैली दुष्प्रवृत्तियों से सतत संघर्ष करते रहना ही जीवन की सार्थकता है । उनके सामने समर्पण कर देना, मृतक के समान निष्प्राण लकड़ी की तरह नदी में बहते जाना भर ही कहा जाएगा । संघर्ष से मनुष्य में सात्विकता एवं स्वाभिमान जागृत होता है । अच्छी बातों के लिए अत्यधिक प्रेम, रुचि, लगन, आस्था एवं श्रद्धा की भावनाएं बलवती होती हैं । मनुष्य श्रेष्ठ आदर्शों को अपने जीवन का केंद्रबिंदु बना लेता है और तदनुरूप ही आचरण करता है । जीवन में छोटे बड़े संकट तो आते ही रहते हैं । जो उनसे घबराते नहीं, विचलित नहीं होते, धैर्यपूर्वक डटकर सामना करते हैं, वही अग्नि में तपाए हुए स्वर्ण के समान कांतिमय होते हैं और जीवन में सफलता पाते हैं । ये कठिनाइयां तो हमारे धैर्य, साहस व पराक्रम की परीक्षा लेने के लिए ही हमारे मार्ग में उपस्थित होती हैं और इन्हें परास्त कर देने पर ही प्रभु कृपा का वरदान हमें मिलता है ।

संयम से आत्मा और शरीर को पुष्ट व बलवान बनाकर जीवन संघर्ष में कूद पड़ना ही आदर्श ब्राह्मण का चिह्न है ।

अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः ।
आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीतोऽयनम् ॥

(अथर्व वेद ५/३०/७)

भावार्थ : मनुष्य ! तू सदैव ऊंचा उठ । यही तेरा धर्म है । जैसे चींटी आदि छोटे-छोटे जीव भी ऊपर चढ़ने में लगे रहते हैं वैसे ही तू भी उन्नति के उपायों को जानकर सदा बढ़ता रहे ।

संदेश : संसार में ज्ञान विज्ञान की कितनी उन्नति हो रही है । तरह तरह की सुविधाएं हमें उपलब्ध हो रही हैं परंतु इस विज्ञान से सुख-शांति प्राप्त नहीं होती । सुख शांति सदैव अच्छे मनुष्यों से उत्पन्न होती है और अच्छे मनुष्य बनाना विज्ञान के बस का रोग नहीं है । अच्छे मनुष्य बनते हैं अध्यात्म से ।

यह अध्यात्म, जो ऊंचे और अच्छे मनुष्य बनाता है; क्या है ? यह है उपासना, साधना और आराधना की त्रिवेणी जिसमें डुबकी लगाने से मनुष्य का जीवन सफल हो जाता है । उपासना कहते हैं ईश्वर के दिव्य गुणों को अपने भीतर धारण करना । दिव्य सिद्धांतों को सामने रखकर, उनके आधार पर अपने कर्तव्य का निर्णय करना और जो कर्तव्य जंचता हो उस पर दृढ़ रहना । बड़े से बड़े आकर्षण, प्रलोभन या आपत्ति के सामने भी अडिग रहना । साधना अपने आप की होती है । तप, ब्रह्मचर्य, संयम से शरीर व मन को पूरी तरह से अपने वश में कर लेना, नियंत्रण में रखना । और आराधना का अर्थ है सेवा । सदा दूसरों की भलाई का ध्यान रखना । अपने स्वार्थ व हितों की पूर्ति में ही न लगे रहना वरन पहले समाज की उन्नति के बारे में सोचना । सबकी उन्नति में ही अपनी उन्नति समझना । जो मनुष्य इस प्रकार धर्मानुसार आचरण

करते हैं वे सदैव ऊंचे उठते हैं और स्वर्गीय वातावरण बनाते हैं, सभी के लिए सुख शांति का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

मनुष्य का जीवन विचित्र प्रकार का जीवन है । इसमें वह इतना नीचे गिर सकता है कि पशु भी उससे ऊपर हो जाएं; और इतना ऊपर भी उठ सकता है कि देवता उससे नीच रह जाएं । स्वयं निर्णय करो कि तुम्हें किधर जाना है । यह जो मानव योनि मिली है इसी में पशुवत आचरण करना है या फिर देवत्व का अनुसरण करना है । नीचे गिरना तो बहुत ही सरल है पर ऊपर उठने के लिए, जीवन में उन्नति करने के लिए प्रबल पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है । मछली के समान नदी की धारा को चीर कर उलटी दिशा में तैरने का साहस जुटाना होता है । मनुष्य को जीवन में सदा उन्नति की ओर अग्रसर होना चाहिए। वेद का निर्देश है 'उद्यानं ते पुरुष नावयानम्' । हे मनुष्य ! तुझे जीवन में ऊंचा उठना है, नीचे नहीं गिरना है ।

जीवन में उन्नति के पथ पर चढ़ने के लिए परमेश्वर का आश्रय आवश्यक है । उसके दैवी गुणों का अपने आचरण में समावेश करना ही एकमात्र मार्ग है । इसके लिए मानवता की साधना करनी होती है । मानसिक भावों का परिष्कार और आत्मनिरीक्षण को जीवन का अंग बनाना होता है । इसके बाद जागरूकता एवं सावधानी की आवश्यकता होती है जिससे उन नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन किया जा सके । संसार में सबसे कठिन काम मनुष्य का निर्माण करना ही है । मनुष्य का मनुष्यत्व उसके मानसिक भावों की ऊंचाई से प्रकट होता है ।

इस मानव धर्म का पालन करने से ही आदमी आदमी बन सकता है और ईश्वरीय प्रयोजन की पूर्ति कर सकता है ।

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
अथो अरिष्टतातये ॥

(अथर्व वेद ६/१९/२)

भावार्थ : हे परमात्मा ! मेरे हृदय में भक्तिभाव और कर्मण्यता का विकास हो । मुझे आरोग्य और जीवन प्राप्त हो । मुझे सभी ओर से पवित्र बनाइए ।

संदेश : मनुष्य को बाहर और भीतर से पवित्र रहना चाहिए क्योंकि पवित्रता में ही प्रसन्नता रहती है । पवित्रता में चित्त की प्रसन्नता, शीतलता, शांति, निश्चिंतता, प्रतिष्ठा और सच्चाई छिपी रहती है । चैतन्यता, जागरूकता, सुरुचि, सात्विकता, स्वच्छता, सादगी और सुव्यवस्था में ही सौंदर्य है, इसी को पवित्रता कहते हैं ।

पवित्रता एक आध्यात्मिक गुण है । आत्मा स्वभावतः पवित्र और सुंदर है इसलिए आत्मपरायण व्यक्ति के विचार, व्यवहार तथा वस्तुएं सदा स्वच्छ और सुंदर होते हैं ।

मनुष्य को सदैव बाह्य एवं आंतरिक स्वच्छता का ध्यान रखना चाहिए । अंतस की पवित्रता से ही वह श्रेष्ठ, शालीन, सज्जन और सुसंस्कृत बनता है । मानसिक पवित्रता मनुष्य को तपस्वी, संयमी और नियमित जीवन की ओर प्रेरित करती है जिससे उसे स्वास्थ्य, आरोग्यता और दीर्घायु का वरदान मिलता है । उसकी इंद्रियां पुष्ट और सबल होती हैं । इंद्रियों का संचालन मन के द्वारा ही होता है । यह मन ही भली-बुरी इच्छाएं और अभिलाषाएं किया करता है और शरीर को भी प्रभावित करता है ।

शारीरिक और मानसिक पवित्रता के साथ ही आध्यात्मिक पवित्रता भी आवश्यक है क्योंकि इसके बिना मनुष्य जीवन के प्रधान

लक्ष्य आत्मोन्नति को प्राप्त नहीं कर सकता । आध्यात्मिक पवित्रता से ही सच्चे प्रेम, भक्ति, दया, उदारता, परोपकार की भावना जागृत होती है और देवत्व का विकास होता है । लोगों में प्राय: तमोगुण और रजोगुण की ही प्रधानता होती है । आध्यात्मिक साधना सतोगुण को विकसित करती है । सतोगुणी बुद्धि ही मनुष्य को जीवंत और प्राणवान बनाती है; ओजस्वी, तेजस्वी और वर्चस्वी बनाती है; सत्संग, स्वाध्याय, सेवा, संयम और साधना में प्रेरित करके यशस्वी बनाती है ।

शास्त्रों ने यह बात स्पष्ट रूप से कही है कि जन्म से हम सब शूद्र होते हैं और कोई भी जन्मजात ब्राह्मण नहीं होता । ब्राह्मण बनने के लिए आत्मबल, तपबल, नैतिक बल और धर्माचरण की आवश्यकता पड़ती है । यदि किसी व्यक्ति में ये सब गुण नहीं हैं तो वह ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर भी शूद्र से बदतर है । यह तभी संभव होता है जब मन बदल जाए, मनुष्य का सामान्य चरित्र बदल जाए । केवल बाहरी टीमटाम से कुछ नहीं होता । ढोंग और दिखावा हमारा सबसे बड़ा शत्रु है । बाहर कुछ और भीतर कुछ रखने से सफलता नहीं मिल सकती । जिनकी कथनी और करनी में अंतर नहीं होता उन्हीं के हृदय में भक्ति और कर्मण्यता के भाव जागृत होते हैं । ऐसे लोग ही जीवन में हर कार्य में सफलता अर्जित करते हैं और अपने संपर्क में आने वाले को भी सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हैं । वे अपनी प्रतिभा और क्षमता के द्वारा लोगों के मन से तामसी व राजसी वृत्तियों को दूर करके उनमें सात्विकता का बीजारोपण करते हैं और उनके जीवन को भी शुद्ध, पवित्र बना देते हैं ।

शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक पवित्रता से ही जीवनोद्देश्य की प्राप्ति संभव है ।

उत् क्रामातः पुरुष माव पत्था
मृत्योः पड्वीशमवमञ्चमानः ।
मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः
सूर्यस्य संदृशः ॥

(अथर्व वेद ८/१/४)

भावार्थ : हे मनुष्यो ! तुम्हें अपनी वर्तमान अवस्था में ही संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए । तुम आगे बढ़ो और शरीर तथा आत्मबल के द्वारा पुरुषार्थ करो ।

संदेश : प्रगति की भी कोई सीमा होती है क्या ? संसार में कितना ज्ञान विज्ञान है, इसे कोई जान सका है क्या ? वेद के गूढ़ रहस्यों की थाह कोई पा सका है क्या ? मनुष्य आज भी संसार के रहस्यों को खोजने में लगा हुआ है और प्रतिदिन कुछ न कुछ नया वह ढूंढ़ ही लेता है ।

प्रगति का, उन्नति का यही आधार है । उठो, चलो, गिरो, फिर उठो, आगे बढो, बार बार यही करते रहो, निरंतर उद्यत रहो, हिम्मत न हारो, धीरे धीरे चोटी पर पहुंच ही जाओगे । असफलता से घबराओ नहीं । इससे तो केवल यही पता चलता है कि सफलता के लिए प्रयास पूरे मन से नहीं किया गया है । फिर दोगुने उत्साह से जुट जाओ ।

परंतु यह सब क्या कहने भर से हो जाएगा ? शरीरबल और आत्मबल के अभाव में क्या यह संभव होगा ? नहीं, इसके लिए तो तप, संयम, ब्रह्मचर्य से शरीर को इतना पुष्ट बनाना होगा कि वह सांसारिक बाधाएं आसानी से झेल सके । गांधी जी ने अपने शरीर को लोहे जैसा बना दिया था कि इंग्लैंड की शीत भी उनके नंगे बदन को

प्रभावित न कर सकी । शरीर पर ऐसा नियंत्रण ही संयम की साधना को सरल कर देता है । इंद्रियों को वश में करने की यह पहली सीढ़ी है । इससे आत्मबल भी बढ़ता है । मन का घोड़ा इधर उधर नहीं भागता । महान बनने के लिए आत्मशक्ति अत्यंत आवश्यक है । इससे और सारे बल अर्जित किए जा सकते हैं । धनबल और बुद्धिबल से केवल लौकिक प्रगति ही संभव है, भैतिक सुविधाएं ही मिल सकती हैं परंतु आत्मबल से सबकुछ मिल जाता है । जिसका आत्मबल बलवान है वह जीवन के आदर्श सिद्धांतों को अपने जीवन में उतारता चला जाता है ओर उत्तरोत्तर प्रगति करता रहता है ।

हमें अपने जीवन में सूर्य देवता को अपना आदर्श बनाना चाहिए । हर पल, हर क्षण, निरंतर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर । संसार के उपकार में अपने सारे का सारा जीवन उत्सर्ग कर देने को तत्पर । सबको प्रकाश, ताप व ऊर्जा का अनुदान बांटते हुए संसार की गंदगी को सुखाकर नष्ट करने का कार्य पूरे आत्मबल से संपन्न करने में संलग्न । लगातार पुरुषार्थ के पथ पर बढ़ते हुए रुकने का नाम नहीं, अपना कोई स्वार्थ नहीं । जीवन में सफलता का यही रहस्य है ।

'नर यदि प्रयास करे तो नर से नारायण बन जाए' हमारे ऋषियों-मनीषियों ने समस्त संसार को यह आश्वासन और मार्गदर्शन दिया है । पर यह प्रयास कैसे करे जाएं ? उसके आधारभूत तत्व क्या हैं ? देवत्व के गुणों को अपने आचरण में धारण करने के प्रयासों में हमें कभी भी ढील नहीं आने देना चाहिए । इसी से नर से नारायण बनने में सफलता मिल सकेगी ।

सूर्य के समान प्रगति के लिए सतत प्रयासरत रहना ही जीवन है । यही ब्राह्मण का धर्म है ।

उद्यानं ते पुरुष नावयानं,
जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि ।
आ हि रोहेममममृतं सुखं
रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥

(अथर्व वेद ८/१/६)

भावार्थ : *समाज में सम्मान उन्हें मिलता है जो दैवेच्छा और गुरुजनों की शिक्षा को मानकर कठिनाइयों में भी आगे बढ़ते रहते हैं । उन्हीं की सर्वत्र प्रशंसा होती है ।*

संदेश : दैवेच्छा से ही हमें यह मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ है । जीवन पथ पर कठिनाइयों का निवारण करते हुए सदैव अपनी व समाज की उन्नति करते रहने को ही परमात्मा ने हमारा मुख्य कर्तव्य निर्धारित किया है । हमें कभी हताश नहीं होना चाहिए क्योंकि परमेश्वर स्वयं हमारी उन्नति में हमें सहयोग देने के लिए हर समय तैयार रहता है । हमें तो केवल पुरुषार्थ भर करना है । भगवान कभी भी हमारा पतन नहीं चाहता । यह तो हम स्वयं ही दुष्प्रवृत्तियों के जाल में फंसकर अपनी अवनति का मार्ग बना लेते हैं । उसने हमारे जीवन को इतना प्राणवान और शक्तिशाली बना दिया है कि उसके तेज के आगे सारा संसार नतमस्तक हो सकता है । हम अपनी आत्मा और शरीर की शक्ति को पहचानें तो सही ।

अधिकतर व्यक्ति अपनी आत्मशक्ति को पहचानते ही नहीं और अपने शरीर को ही सबकुछ मानकर उसकी सेवा में ही अपने को समर्पित कर देते हैं । इससे असंख्य शारीरिक और मानसिक विकार उत्पन्न होते हैं और उनका अंतस कषाय-कल्मषों की दुर्गंधयुक्त दलदल से भर जाता है । वे भूल जाते हैं कि यह शरीर तो मात्र आत्मा

का वाहन है । जो शरीर को आत्मा पर हावी होने देते हैं उनकी आत्मा का प्रकाश बाहर नहीं फैल पाता और प्रगति में सहायक नहीं बनता । परंतु जिसकी आत्मा शरीर रूपी घोड़े की लगाम को कसे रहती है वह उत्तरोत्तर आत्मविकास की सीढ़ियों पर चढ़ता हुआ उन्नति के शिखर पर जा पहुंचता है ।

ऐसे मनुष्यों का प्राणबल दिनोंदिन बढ़ता हुआ वृद्धावस्था में पूर्ण विकसित हो जाता है और मनुष्य अपने ज्ञान व अनुभव के विशाल भंडार से समाज को सुसंस्कृत बनाने में सहायक होता है, कठिनाइयों से संघर्ष करने की क्षमता का विकास करता है । जीवन पथ में परेशानियां तो आती ही रहती हैं । सब कुछ हमारी मनमरजी का ही होता रहे यह तो संभव ही नहीं है । ऐसी विपरीत परिस्थितियों से सफलतापूर्वक जूझने की सामर्थ्य ही हमारे व्यक्तित्व को उच्च स्तर का बनाती है । उसी से सर्वत्र सम्मान व प्रशंसा प्राप्त होती है । संघर्ष से ही हमारे आत्मबल एवं प्राणबल की परीक्षा होती है । परमात्मा की इच्छा से ही ये परेशानियां हमारे मार्ग में उपस्थित होती हैं और हमें सुषुप्तावस्था से जगाकर आत्मोन्नति के लिए प्रेरित करती हैं । परमपिता परमेश्वर बहुत ही दयालु है और उसकी कृपा की अजस्र वर्षा उसके प्रिय पुत्रों पर होती रहती है । जीवन में कठिनाइयां आती हैं वे भी प्रकारांतर से उसके वरदान स्वरूप ही होती हैं । पूर्व पापकर्मों के दंड के रूप में ये मनुष्य को प्रायश्चित करने का एक अवसर प्रदान करती हैं । उसके आत्मबल को कुंदन के समान चमकाने में एक भट्टी की भूमिका भी निभाती हैं ।

जो इन विकट परिस्थितियों में हताश नहीं होते और दूसरों को भी उचित प्रोत्साहन देते हैं, वही सच्चे ब्राह्मण हैं ।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो
ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं
लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥

(अथर्व वेद १२/१/१)

भावार्थ : इस संसार में उन्नति वे लोग करते हैं जो परमात्मा तथा विद्वानों से प्रेम करते हैं, सत्यकर्मी, ज्ञानी और जितेंद्रिय होते हैं । अभी तक ऐसा ही हुआ है और आगे भी ऐसा ही होगा ।

संदेश : उन्नति किसे कहते हैं ? बहुत सारा रुपया-पैसा, धन-संपत्ति इकट्ठा कर लेना, कोठी-बंगला, कार तथा सुख-सुविधा के साज-सामानों का अंबार लगा लेना । आजकल लोग इसी को उन्नति समझते हैं । अनीतिपूर्वक संपत्ति कमाने की होड़ मची है ।

उन्नति कहते हैं जब व्यक्ति और राष्ट्र दोनों साथ-साथ यशस्वी हों । राष्ट्र की उन्नति के लिए, इसे शक्ति-संपन्न और गौरवास्पद बनाने के लिए आवश्यक है कि देश के नागरिक तपस्वी बनें । किसी उत्कृष्ट लक्ष्य की पूर्ति के लिए बीच में आने वाली समस्त बाधाओं को धैर्यपूर्वक सहते हुए आगे बढ़ते जाने का नाम ही तप है । यक्ष ने युधिष्ठिर से तप के लक्षण पूछे थे तो उन्होंने कहा था 'तपः स्वकर्मवर्तित्वम'-अपने कर्तव्य को एकनिष्ठ होकर पालन करने का नाम ही तप है । और तप का सार है जितेंद्रियता । इंद्रिय निग्रह के अभाव में उन्नति की कल्पना ही नहीं की जा सकती । जब तक माया, मोह, लोभ, स्वार्थ पर विजय पाकर राष्ट्रहित की भावना पुष्ट नहीं होगी, चारों ओर लूट-खसोट का वातावरण बना रहेगा तब तक मनुष्य

सुख-शांति से कोसों दूर मृग-मरीचिका में भटकता रहेगा ।

उन्नति के लिए सबसे आवश्यक है महान सत्य को जानकर सत्याचरण की दीक्षा लेना । यह निर्विवाद सत्य है कि सारा ब्रह्मांड परमेश्वर से ही प्रकट हुआ है, वह इसके कण-कण में विद्यमान है और लाखों, करोड़ों वर्षों से इसे गति प्रदान कर रहा है । हम भी उसी परमेश्वर के अंश हैं और हमारे कर्मों का लेखा-जोखा भी वह पूरी ईमानदारी से रखता है तथा उसकी न्यायकारी सत्ता कर्मफल का विधान करती है । यह ज्ञान हमें संयम की प्रेरणा देता है और हमारे आचरण में उत्कृष्टता का समावेश होता है ।

इंद्रियनिग्रह और सत्याचरण का लाभ यह होता है कि मनुष्य अपने क्षुद्र स्वार्थ भाव का त्याग कर देता है और देशवासियों में राष्ट्रभाव जागृत होता है । सभी नागरिक दूसरे के कष्ट को अपना कष्ट समझ कर उसके निवारण में सहयोग करने लगते हैं और परस्पर एक दूसरे की उन्नति के सशक्त आधार बन जाते हैं । समस्त राष्ट्र में आत्मीयता की भावना बलवती होती है और तब देश में 'बलम् ओजश्च जातम'-प्राणशक्ति का संचार होता है । राष्ट्र और राष्ट्र के नागरिक सभी ओजस्वी, तेजस्वी और यशस्वी होते हैं । इस उन्नति के समक्ष संसार के अच्छे-अच्छे शक्तिशाली राष्ट्र भी घुटने टेक कर नतमस्तक हो जाते हैं ।

बीज का क्या महत्व है ? वह नगण्य सा बोरी में बंद घर के एक कोने में पड़ा रहता है । जब उसे खेत में बो देते हैं तो कुछ समय में ही वह एक विशाल वृक्ष के रूप में विकसित हो जाता है । पर इसके लिए उसे स्वयं गलना भी होता है और खाद-पानी के रूप में समाज का सहयोग भी लेना पड़ता है । स्वयं अपने स्वार्थभाव का त्याग और

समाज का आत्मिक सहयोग दोनों मिलकर ही उन्नति के स्वर्णिम सोपान का निर्माण करते हैं । कोई यदि यह समझे कि वही अकेला सब कुछ कर सकता है तो यह उसका कोरा भ्रम मात्र ही है । दूसरों के सहयोग के साथ स्वयं तप व साधना के कष्ट सहते हुए ही मनुष्य उन्नति के पथ पर आगे बढ़ सकता है ।

यही परमपिता परमेश्वर का अपने प्रिय पुत्रों को निर्देश है । उसी के लिए उसने सर्वगुण संपन्न मानव शरीर का निर्माण किया है और उसे अपनी समस्त शक्तियों से विभूषित किया है । हर समय वह उसकी सहायता करने को उपलब्ध रहता है पर शर्त यही है कि मनुष्य निःस्वार्थ भाव से पुरुषार्थ में लगा रहे । उन्नति के लिए ईश्वर की सत्ता में पूर्ण विश्वास रखते हुए अपनी पूरी क्षमता और प्रतिभा का नियोजन लोकहित के कार्यों में करना ही जीवन का मुख्य लक्ष्य है ।

विद्वानों का यह दायित्व है कि वे समाज को उन्नति के इस सत्यमार्ग पर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करें । तभी ब्राह्मणत्व का निर्वाह हो सकेगा ।

वेदों का दिव्य संदेश

खंड-२

आत्मबल

जीवन लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य को सतत संघर्ष करना होता है । संसार में व्याप्त कुरीतियों, दुष्प्रवृत्तियों और भ्रष्टाचार से लोहा लेकर सद्‌प्रवृत्तियों और ईमानदारी को जीवन में धारण करने के लिए प्रबल आत्मशक्ति की आवश्यकता होती है । इस लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक मंत्रों की व्याख्या ।

येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा ।
तेन सहस्त्रधारेण पावमानीः पुनन्तु नः ॥

(सामवेद १३०२)

भावार्थ–मनुष्य जीवन की सफलता इस बात में है कि वह आत्मिक और मानसिक दोषों को त्यागकर निर्मल और पवित्र बने । आत्मा मल विक्षेप और आवरण रहित बने इसके अनेक उपाय वेदों में वर्णित हैं । अतः वे पठनीय हैं ।

संदेश–यह मानव जीवन हमें न जाने कितने पुण्य कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होता है । इसका सत्कर्मों में उपयोग करने से ही मनुष्य शाश्वत आनंद प्राप्त कर सकता है । वेद अनेकानेक नीति वाक्यों से भरे पड़े हैं ओर उन सबकी यही शिक्षा है कि जीवन में मनुष्य का सदा उत्थान हो । वह कभी भी पतन की ओर न जाए । प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह सभी दुर्गुणों का परित्याग करे । स्वार्थ, लोभ, मोह, अहंकार आदि के दानव सदैव आत्मा को घेरे रहते हैं । इनसे छुटकारा पाने के लिए दृढ़ इच्छाशक्ति की आवश्यकता होती है । तभी मन व आत्मा निर्मल और पवित्र हो पाते हैं ।

वेद मंत्रों में इच्छाशक्ति की दृढ़ता पर अत्यधिक बल दिया गया है । तप, साधना, कठिन परिश्रम और मनोयोग से ही मनुष्य अपनी समस्त इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है । महत्वाकांक्षा मनुष्य की जीवनी शक्ति की परिचायक है परंतु उसके साथ आत्मत्याग और बलिदान की भावना भी आवश्यक है । तप और साधना के द्वारा जब मनुष्य की ऐसी इच्छाएं पूर्ण हो जाती हैं तभी वह परोपकार के कार्य करके अपना जीवन सफल कर सकता है । किसी व्यक्ति के जीवन की सफलता का परिमाण उसकी इच्छाशक्ति के

विकास के अनुपात में ही होता है । प्रकृति की महान शक्तियां भी मानवीय इच्छाशक्ति के सामने पराभूत हो जाती हैं । संसार में सभ्यता का विकास, मनुष्य की समस्त गतिविधियां और भौतिक उपलब्धियां मानवीय इच्छा की ही अभिव्यक्तियां हैं ।

मनुष्य की यह इच्छा-शक्ति चरित्र से उत्पन्न होती है और वह चरित्र कर्मों से गठित होता है । अतएव, जैसा कर्म होता है, इच्छा-शक्ति की अभिव्यक्ति भी वैसी ही होती है । यह बात हम सभी जानते हैं कि नैतिक जीवन बिताना लाभदायक है, फिर भी हम पापकर्म कर डालते हैं और तत्पश्चात उनका दुखद फल हमें भोगना ही पड़ता है । कर्मफल से मुक्त होने का कोई मार्ग ही नहीं है । यह निर्विवाद है कि हमारे दैनन्दिन जीवन की मूलभूत आपदाओं की जड़ किसी अपरिहार्य मूलभूत बुराई में नहीं अपितु हमारे संकल्प की असफलता में निहित है, जो बुराइयों को छोड़ने नहीं देती । जो व्यक्ति अपने गलत विचारों पर विजयी हो गया वह अवश्य ही अमोघ इच्छाशक्ति का स्वामी होगा ।

जब कभी भटकता हुआ प्राणी यह समझ लेता है कि मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं, तभी वह बलवान बनता है । जो यह समझ लेते हैं कि उनकी आत्मा में ईश्वर का निवास है तो आत्मा में अद्‌भुत प्रचंड शक्ति उत्पन्न होती है । यही शक्ति मानसिक दोषों को त्यागने की सामर्थ्य उत्पन्न करती है । दुर्गुणों और दुष्प्रवृत्तियों से मुक्ति पाकर मनुष्य में सात्विक एवं दिव्य विचारधारा प्रवाहित होती है जो बुराइयों से संघर्ष करने का उत्साह जगाती है ।

'बुराइयों को उखाड़ डालो और अच्छाइयों का पोषण करो'-वेदों के इस निर्देश को सदैव ध्यान में रखना चाहिए।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

(यजुर्वेद ४०/२)

भावार्थ–मनुष्य अपना जीवन लक्ष्य प्राप्त करे इसका एक ही उपाय है और वह है सदाचरण । हम धर्म पर चलते हुए सौ वर्ष तक जीने की कामना करें ।

संदेश–मनुष्य का जन्म और पुनर्जन्म दोनों ही उसके कर्म और कर्मफल पर आधारित हैं । जन्म से मृत्यु तक, जब तक यह शरीर है, जीवन है तब तक कुछ न कुछ शारीरिक या मानसिक कर्म वह करता ही रहता है । कर्म किए बिना तो एक क्षण को भी रह पाना असंभव है । मनुष्य जीवन तो कर्म करने के लिए ही मिला है । यह बात अलग है कि वह कर्म सत्कर्म हो या कुकर्म ।

विज्ञान का यह सिद्धांत सर्वविदित है कि हर क्रिया की प्रतिक्रिया होती है, हर कार्य का एक परिणाम होता है । उसी प्रकार हर कर्म का कर्मफल भी होता है । सारा संसार निश्चित नियम व सिद्धांतों पर चल रहा है । परमेश्वर के इस जगत में अराजकता नहीं वरन न्याय और अनुशासन का ही साम्राज्य है । उसने मनुष्य को इस संसार में लोकहित के कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहने का आदेश दिया है । परंतु वह लोकहित को भूलकर अपने स्वार्थ व अहंकारपूर्ति की दिशा में अपने कर्मों को नियोजित कर देता है और तदनुसार इस विकारग्रस्त पापकर्म का फल भोगते हुए दारुण दुख प्राप्त करता है ।

मन में यह विचार उठ सकता है कि हम फिर किस प्रकार के कर्म करें ? संसार के प्रति उपकार करने का क्या अर्थ है ? हम संसार

का भला आखिर करें ही क्यों ? वास्तव में बात यह है कि ऊपर से तो हम संसार का उपकार करते हैं, परंतु असल में हम अपना ही उपकार करते हैं । दूसरों की भलाई में हमारी भी भलाई है । संसार की उन्नति में हमारी भी उन्नति है । प्रत्येक कर्म करते समय हमारा यही सर्वोच्च उद्देश्य होना चाहिए । यदि हम सदैव यह ध्यान रखें कि दूसरों की सहायता करना एक सौभाग्य है, तो परोपकार करने की इच्छा सर्वोत्तम प्रेरणा शक्ति के रूप में हमारे मानस पटल पर छाई रहेगी ।

इस प्रकार किए गए कर्म स्वार्थरहित होने से निष्काम कर्म कहलाते हैं और उनकी सफलता अथवा असफलता मनुष्य को न तो अहंकारी बनाती है और न ही दुख देती है । अपितु वह यही समझता है कि असफलता केवल यह सिद्ध करती है कि सफलता का प्रयास पूरे मन से नहीं हुआ । वह पुनः दुगने मनोयोग से कर्म करता है । इस प्रकार वह कर्म मनुष्य से लिप्त नहीं होता और न मनुष्य में कर्म के प्रति आसक्ति होती है । वह केवल अपना कर्तव्य समझकर ही पुरुषार्थ करता है । जब अपना कोई स्वार्थ नहीं होता तो आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना बलवती होती है । सबके लाभ में ही अपना भी लाभ दिखाई देता है । संसार में जो भी सुख सुविधाएं उपलब्ध हों उनका स्वयं ही उपभोग करने के स्थान पर आपस में बाँट कर खाने में ही आनंद आता है । जगत को इसी प्रकार त्यागपूर्वक भोगने से, अपने समस्त कर्मों को ईश्वरीय कार्यों में नियोजित करते रहने से, वह कर्म कभी भी बंधनकारक नहीं होंगे । ऐसे निष्काम कर्म करने वाले ही संसार में श्रेष्ठ नर रत्न होते हैं अतः मनुष्य को सदैव अनासक्त भाव से त्यागपूर्वक सत्कर्मों में ही अपना जीवन समर्पित करना चाहिए ।

जीवन लक्ष्य की प्राप्ति का यही एकमात्र उपाय है ।

उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत ।
अवाधमानि जीवसे ।

(ऋग्वेद १/२५/२१)

भावार्थ–पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा की भावना से हम उन्मुक्त हों क्योंकि इनसे हमारी आत्मा पतित होकर दुख पाती है ।

संदेश–संसार के सभी प्राणी सुख चाहते हैं और सदा यही प्रयत्न करते रहते हैं कि उनके सुखों में दिनोंदिन वृद्धि होती जाए । भौतिकवादी संस्कृति में भांति-भांति के सुविधा साधनों को एकत्र कर लेना ही सुख का आधार माना जाता है । नीति-अनीति, उचित-अनुचित किसी भी तरह से हो संसार के सभी भोग्य पदार्थों को मनुष्य स्वयं ही हड़प लेना चाहता है । इस प्रकार विवेकहीनता से भोग विलास में निमग्न रहकर मनुष्य खोखला हो जाता है और सुख भोगने की क्षमता ही गँवा बैठता है । सुख के अतिक्रमण में भी दुख है ।

भारत की आध्यात्मिक संस्कृति सुख से भी आगे संतोष एवं आनंद को महत्त्व देती है । सुख और संतोष में रात-दिन, आकाश-पाताल जैसा अंतर है । सुख भौतिक है तो संतोष आध्यात्मिक । सुख भोगपरक है तो संतोष अनुभूति परक । मनुष्य सदैव आत्म संतोष और आनंद प्राप्ति की कामना करता है । कभी कभी उसे संतोष सुख की प्राप्ति से होता है और कभी सुख के त्याग से । किसी रोगी की सेवा में रात-दिन एक कर देने में कितना ही कष्ट क्यों न हो पर जिस आत्मिक संतोष की अनुभूति होती है उसका बखान नहीं हो सकता । वस्तुतः सुख, साधनों पर उतना निर्भर नहीं करता जितना कि

मन:स्थिति पर । तभी तो हम देखते हैं कि साधन संपन्न व्यक्ति अधिकतर दुखी रहते हैं जबकि अभावग्रस्त किसान मजदूर सदैव सुखी, प्रसन्न और प्रफुल्लित ।

आज चारों ओर अधिकतर व्यक्ति इसी मायाजाल में फंसे हैं और सुख प्राप्ति के उलटे मार्ग पर चल रहे हैं । मनुष्य जब अपने सुख की चिंता में रहता है, तब वह दूसरों की परवाह नहीं करता और स्वार्थी बन जाता है तथा दूसरों को दुख ही पहुंचाने लगता है । संसार में भोग्य वस्तुएं सीमित हैं और इच्छाएं अनंत । परंतु स्वार्थवाद के चलते थोड़े से व्यक्ति ही लाभान्वित होते हैं और बहुसंख्यकों का शोषण होता है । ऐसा आचरण करने वाले अनैतिक, अवसरवादी और समाज के शोषक माने जाते हैं । पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा की भावना से वह संसार में लूट खसोट तो खूब करते हैं, बाह्य दृष्टि से बड़े सुखी भी दिखाई देते हैं परंतु सुख के समस्त साधनों के रहते हुए भी वे सुख का आस्वादन नहीं कर पाते । उनके पुत्र व परिवारी भी कुमार्गी होकर दुख पाते हैं और अंततः चारों ओर से उन्हें अपयश ही मिलता है ।

आदर्श समाज़ वही होता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपनी संपूर्ण प्रतिभा व क्षमता के द्वारा सुख-साधनों को बढ़ाने की पूर्ण स्वतंत्रता हो । साथ ही वह दूसरों की स्वतंत्रता में किसी भी प्रकार से बाधक न हो, वरन उनका सहयोग ही करे । यदि व्यक्ति इस तथ्य को समझकर लोभ, मोह व स्वार्थ से छुटकारा पा ले तो उसका जीवन क्या से क्या हो जाए ।

इसके लिए मनुष्य की आत्मशक्ति ही उसे प्रेरित कर सकती है । जो जितना अधिक आत्मबल का धनी होगा वह उतना ही जल्दी इन माया मोह के बंधनों को काट फेंकने में समर्थ होगा ।

को ददर्श प्रथमं जायमान
मस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित्को
विद्वांसमुप गात्प्रष्टुमेतत् ।।

(ऋग्वेद १/१६४/४)

भावार्थ–आत्मज्ञान प्राप्त करना मानव जीवन का मूल लक्ष्य है । यह संसार कैसे बना ? पदार्थों का आदि कारण क्या है ? शरीर और उसमें शोणित, मांस, अस्थि आदि की विचित्रता और उसकी आत्मा से विलगता आदि का ज्ञान मनुष्य को अवश्य प्राप्त करना चाहिए ।

संदेश–मानव शरीर परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ उपहार है । पूर्वजन्मों के पुण्य कर्मों के फलस्वरूप, न जाने कितनी योनियों में भटकने के पश्चात हमें यह शरीर मिला है । संसार में किसी भी प्राणी की शरीर रचना इतनी उत्कृष्ट नहीं है । मनुष्य को ही परमेश्वर ने सर्वगुण संपन्न शरीर प्रदान किया है । इसका एक एक अंग, एक एक इंद्रिय अपनी कार्यक्षमता में अद्वितीय है ।

अधिकतर मनुष्य इस शरीर को ही सब कुछ मान लेते हैं और इसके आगे सोचने की आवश्यकता ही नहीं समझते । हर समय इस शरीर को सजाते-संवारते रहते हैं और इंद्रियों को तृप्त करने में लगे रहते हैं पर उसमें विद्यमान आत्मा को बिल्कुल भूल जाते हैं । वे यह भूल जाते हैं कि शरीर तो नश्वर है और आत्मा अमर है । शरीर तो नष्ट हो जाना है, केवल कुछ समय के लिए ही परमेश्वर ने कृपापूर्वक प्रदान किया है । यह तो साधन मात्र है, आत्मा का निवास स्थान है जिसके माध्यम से वह मोक्ष मार्ग पर अग्रसर होकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।

मानव जीवन का लक्ष्य क्या है ? अधिकतर व्यक्ति स्वर्ग-प्राप्ति को ही एकमात्र लक्ष्य मानते हैं । परंतु यह स्वर्ग है कहां ? यह तो केवल हमारी मनःस्थिति द्वारा ही निर्मित होता है । हम स्वयं ही अपने आचरण व परिस्थितियों के आधार पर स्वर्ग या नरक की स्थिति उत्पन्न कर लेते हैं । यह आवश्यक है कि जीवन लक्ष्य का स्पष्ट निर्धारण हो जाना चाहिए ।

जीवन का एकमात्र लक्ष्य हमारे भीतर के अव्यक्त देवत्व को दृढ़तापूर्वक व्यक्त करना और अपनी वास्तविक सत्ता का साक्षात्कार करना है । एक ही परमात्मा सबके भीतर छिपा है, सबमें ओत-प्रोत है और वही सबकी अंतरात्मा है । वही कर्मफलदाता है और सबके अंदर निवास करता है । प्रत्येक मनुष्य देवता का स्वरूप है केवल परिस्थितिवश वह अपने मार्ग से भटक गया है, भटका हुआ देवता है । इस महान सत्य को जानकर इस देवत्व को अपने आचरण में उतार लेना ही उसका परम लक्ष्य है ।

इस आत्मज्ञान को प्राप्त कर लेना मन, वाणी और कर्म से पवित्र हुए बिना संभव ही नहीं है । मन कभी खाली तो रहता नहीं । या तो उसमें पापकर्मों का रसास्वादन करने की लालसा रहती है या सत्कर्मों की सुगंध फैलाने की उत्कंठा । मन के यही विचार उसकी वाणी को भी प्रभावित करते हैं और तदनुसार ही उसके कर्म भी होते हैं । आत्मज्ञान से उसमें पवित्र विचार ही जागृत होते हैं । अहंकार को त्याग कर,'आत्मवत सर्वभूतेषु' की भावना से संसार के समस्त प्राणियों में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर लेनें से ही मनुष्य पापकर्मों से बचा रहता है तथा अपने दैवी गुणों की अभिवृद्धि करता है ।

मनुष्य जीवन की सार्थकता इसी में है ।

न वि जानामि यदिवेदमस्मि
निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन्प्रथमजा ऋत्तस्यादिद्वाचो
अश्नुवे भागमस्याः ॥

(ऋग्वेद १/१६४/३७)

भावार्थ–मनुष्य अपने आपको भी नहीं जानता, यह कितनी बड़ी भूल है । उसे भाषा, साहित्य आदि की जो क्षमता प्राप्त है उससे शरीर और जीवात्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ।

संदेश–यह मनुष्य शरीर बार-बार मिलने वाला नहीं है । यह तो मिला था एक साधन के रूप में हमें अपने परम लक्ष्य प्रभु तक पहुंचाने के लिए । परंतु अज्ञानवश सांसारिक भोग विलास में भटक कर हमने यह सुअवसर गँवा दिया । धन-दौलत, साधन, संपत्ति, पत्नी-पुत्र, बंधु-बांधव कुछ भी हमारे काम नहीं आएंगे । काम आएंगे केवल सत्कर्म । हम यह भूल जाते हैं कि एक दिन हमें इस संसार से जाना है । जिस शरीर को बड़े लाड़, प्यार, दुलार से सजाने-संवारने के लिए हम झूठ-सच, छल-प्रपंच, नीति-अनीति सभी का सहारा लेते हैं, न जाने क्या क्या पाप कर्म करते हैं, वही देह अग्नि में जलकर भस्म हो जानी है । एक क्षण का भी तो भरोसा नहीं है । हमारा सारा ज्ञान, विज्ञान, प्रतिभा, क्षमता, शिक्षा, विद्या सब भौतिक पदार्थों में ही उलझे हैं और इस शरीर के भीतर बैठे इस शरीर के स्वामी आत्मा को हम भूल गए हैं । यह आत्मा ही तो परमात्मा का अंश है पर उसे न जानने से हम अंधेरे में भटक कर सदा दुख ही पाते रहते हैं ।

आत्मा की पहचान करके सत्य मार्ग पर चल सकने की बुद्धि हमें मिल जाए तभी मानव जीवन की सार्थकता है । साधारणतया बुद्धि

के दो रूप होते हैं । एक कुबुद्धि जो हमें स्वार्थ, मोह, लोभ आदि पापकर्मों की ओर आकर्षित करती है । दूसरी सुबुद्धि जो हमें अपने हित के कार्य करने को तो प्रेरित करती है पर पापकर्मों से बचाती भी है । इससे भी आगे होती है मेधा जो अच्छे और बुरे कार्यों में भेद कर पाने की क्षमता विकसित करती है । मेधा से भी आगे है प्रज्ञा जो विवेकानुसार लोकहित के कार्य की प्रेरणा देती है । इसमें तमोगुण का नाश हो जाता है और मनुष्य अपने स्वार्थ को नहीं देखता । प्रज्ञा से भी विकसित स्तर पर प्रतिभा है । इसे आत्मिक दृष्टि भी कह सकते हैं । इस विलक्षण बौद्धिक शक्ति के आधार पर मनुष्य संसार के गूढ़तम रहस्यों को जान लेता है । बुद्धि के सर्वोत्तम रूप को कहते हैं ऋतंभरा बुद्धि । इसमें केवल सतोगुण ही शेष रह जाता है । यह सात्विक बुद्धि सदा एकरस रहती है और सत्य को पहचान कर आचरण में धारण एवं पालन करने की क्षमता प्रदान करती है । इसके प्रकाश में प्रत्येक वस्तु बिल्कुल यथावत दिखाई देती है तथा भ्रम व संशय समाप्त हो जाता है ।

आज मनुष्य भांति भांति के ज्ञान, विज्ञान, भाषा आदि का अध्ययन करके उसका उपयोग अनेकानेक क्षेत्रों में कर रहा है । सुख सुविधा के साधनों का ढेर लगाता जा रहा है । स्थिति यह है कि एक बटन दबाने मात्र से संसार के किसी भी कोने में कोई भी कार्य संपन्न कर सकना संभव हो गया है । मनुष्य अपनी इस उपलब्धि पर स्वयं को परमात्मा से भी बड़ा समझने की मूर्खता तक करने लगा है । पर क्या इसीलिए हमें यह मानव शरीर प्राप्त हुआ है ? क्या यही इस बुद्धि का उपयोग है ? क्या यही जीवन का लक्ष्य है ?

हमें अपनी बुद्धि का विकास करते हुए मानव जीवन के वास्तविक लक्ष्य को पहचान कर उसी ओर अग्रसर होना चाहिए ।

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम् ।
मृळा सुक्षत्र मृळय ॥

(ऋग्वेद ७/८९/४)

भावार्थ–दुख का प्रमुख कारण है मनुष्य का अज्ञान । इसलिए उसे ऊंचे उठकर आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए । इसी से संपूर्ण कामनाएं शांत होती हैं ।

संदेश–आज संसार में हर प्रकार की भौतिक समृद्धि और धन-धान्य की प्रचुरता है फिर भी मनुष्य पहले से अधिक दुखी रहता है । इसका मूल कारण है कि वह अपनी वास्तविक जीवन पद्धति को भूल गया है । हमारे जीने का लक्ष्य क्या है अधिकतर लोग इस बात से ही अनभिज्ञ हैं । धन कमाने की होड़ में मनुष्य पागलों की तरह दौड़-भाग करता है पर इस सबका प्रयोजन क्या है, इसे वह नहीं जानता । जीने का असली मकसद ही पता नहीं बस 'खाओ, पियो और मौज करो' का भौतिकवादी सिद्धांत ही सर्वत्र व्याप्त है । यही मनुष्य के दुखों का मूल कारण है ।

परमात्मा ने संसार में ऐश्वर्य के, सुख-संतोष के सभी साधन संजोए हैं परंतु मनुष्य अपनी कामनाओं व इच्छाओं की पूर्ति में उलझा रहता है और सच्चे सुख का रसास्वादन ही नहीं कर पाता । उसकी आत्मा अमूल्य ज्ञान-रत्नों का भंडार है पर अज्ञानवश मनुष्य उसे पहचान नहीं पाता और भिखारी के समान दीन-दुखी जीवन बिताता है । अमृत के सागर में रहकर भी वह प्यास से मरा जा रहा है । 'पानी में मीन प्यासी' की स्थिति है । ऐसी विषम स्थिति से छुटकारा पाकर आनंदमय जीवनयापन का मार्ग तभी मिल सकता है जब आत्मज्ञान हो जाए ।

आत्मा को पहचानने के लिए प्रबल विवेक शक्ति और दृढ़ संकल्प की आवश्यकता होती है । आत्मा को अर्थात स्वयं को जानना ही अमरत्व है । शाश्वत शांति प्राप्त करने के लिए आत्मा को प्यार करना होगा । संसार में अपनी आत्मा से अधिक कोई भी किसी को प्यार नहीं करता । कोई भी वस्तु तभी तक हमें प्रिय लगती है जब तक वह हमारी आत्मा के अनुकूल हो । जैसे ही वह प्रतिकूल होती है हम उसे त्यागने को तैयार हो जाते हैं ।

आत्मबल का विकास होने पर मनुष्य ऐश्वर्यवान बनता है । वह कभी पराजित नहीं होता । आत्मबल की सत्ता विजय है और आत्मबल का अभाव पराजय । मनुष्य जब अपनी आत्मा का परमात्मा से संबंध स्थापित करके सर्वशक्तिमान अनुभव करने लगता है, तब उसकी हीनता दूर हो जाती है । फिर वह किसी भी कार्य में पराजित नहीं हो सकता । आत्मबल मृत्युंजय होने का साधन है । इसका आश्रय लेकर मनुष्य यशस्वी एवं तेजस्वी हो जाता है तथा उसकी शारीरिक व मानसिक शक्तियों में आश्चर्यजनक वृद्धि होती है ।

मनुष्य जब तक इस तथ्य को समझ नहीं लेता, वह ईश्वर की परम पवित्र सत्ता से भी जुड़ नहीं पाता । परमात्मा की दिव्य सत्ता की न तो उसे अनुभूति होती है और न ही उसका सहयोग प्राप्त हो पाता है । उसके कर्मों पर किसी का भी नियंत्रण नहीं रहता और लोभ, मोह, स्वार्थ, आदि के मकड़जाल में फंसकर उसका जीवन सर्वनाश के मार्ग पर लुढ़कने लगता है । यह अज्ञान ही उसकी समस्त व्याधियों का स्रोत है जो उसकी प्रगति में बाधक बनती है ।

हमें इस अज्ञान को त्याग कर आत्मबल के विकास का प्रयास करते रहना चाहिए ।

न पापासो मनामेह नारायासो न जल्हवः ।
यदिन्न्विन्द्रं वृषणं सचा सुते सखायं कृणवामहै ॥

(ऋग्वेद ८/६१/११)

भावार्थ—अंतःकरण यदि मलिन और अपवित्र बना रहे तो परमात्मा की उपासना भी फलवती न होगी । अतः ईश्वर की उपासना निष्पाप हृदय से करें ।

संदेश—संसार में ईश्वर के विषय में लोगों की भिन्न-भिन्न धारणाएं हैं । कुछ तो ईश्वर को मानते ही नहीं । कुछ कहते हैं कि वह यदि है तो दिखाई क्यों नहीं देता । अरे, बिजली के तारों में से बिजली प्रवाहित होकर बल्ब में प्रकाश उत्पन्न करती है पर वह बिजली हमें कहाँ दिखाई देती है । क्या तारों में बिजली की उपस्थिति को हम नकार सकते हैं ? ईश्वर ही इस सृष्टि का स्रष्टा है, नियंता है, पालक है । उसकी उपासना में ही हमारी भलाई है ।

परंतु अधिकतर व्यक्ति परमेश्वर की उपासना करते हैं फिर भी दुखी व कष्ट में रहते हैं । इसका कारण है कि हमारे अंतःकरण कषाय-कल्मषों से भरे हैं और पापकर्मों में लिप्त रहते हुए जो उपासना होती है वह तो केवल एक ढोंग मात्र ही रह जाती है । फिर हमें लाभ कैसे मिल सकेगा ? पवित्रता ही प्रभु कृपा की एकमात्र शर्त है । परमपिता परमेश्वर तो हमारा सर्वश्रेष्ठ मित्र और सखा है पर हम अपने को निष्पाप और उदार बनाकर खुले दिल से तो उससे मिलते ही नहीं फिर वह अपनी मित्रता के अमृत की हमारे ऊपर वर्षा कैसे करे ?

आज का युग अहं-केंद्रित और इंद्रिय परायण है । हम छायाचित्रों की ओर दौड़ते हैं । एक भयानक थोथेपन ने हमें जकड़ रखा है । 'काम और कांचन' का रोग सर्वत्र भयानक रूप से फैल रहा है ।

इनके भंवर से लोग छूटना नहीं चाहते । लोग भोग विलास में लिप्त हैं फिर भी सदैव अतृप्त ही रहते हैं । इससे बड़ा दुर्भाग्य भला और क्या होगा कि भोग स्वयं ही पुकार पुकार कर कह रहे हैं कि भाई हममें तृप्त करने की सामर्थ्य नहीं है परंतु यह मनुष्य कितना मूर्ख है कि इस तथ्य को भुलाकर बार बार और भी अधिक वेग से उन्हीं भोगों की शरण में जाकर तृप्ति खोजने का असफल प्रयास करता चला जाता है । स्थिति यह हो जाती है 'भोगा न भुक्ता व्यमेव भुक्ता' अर्थात हम सांसारिक विषय भोगों का उपभोग नहीं कर पाए अपितु उन भोगों को प्राप्त करने की चिंता ने हमको ही भोग लिया । वेद ने भौतिकता को कभी भी त्याज्य नहीं कहा है मगर इस प्रकृति को केवल साधन के रूप में ही प्रयोग करने की बात कही है । इस शरीर के बिना या भौतिक पदार्थों के बिना हमारा निर्वहन असंभव है पर इस को सब कुछ मानकर चलना भी अपने आपको धोखा देना है ।

परोपकार के कार्य और नैतिक आचरण उच्चतर आध्यात्मिक जीवन के सोपान मात्र हैं । चित्त की शुद्धि के लिए हमें इनमें से होकर जाना पड़ता है । चित्त को शुद्ध किए बिना उच्चतम ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती । मन के कोनों में जो मैल भरा है, उसे दूर करने के लिए दृढ़ नैतिक आचरण, निःस्वार्थ भाव से दूसरों के हित के लिए किए गए कार्य, स्वाध्याय और आध्यात्मिक साधनाएं आवश्यक हैं । हृदय में दिव्य ज्ञान का प्रकाश इसी राह से अवतरित होता है । इस दिव्यता की आभा का तेज हमारे कषाय कल्मष सहन ही नहीं कर पाते और स्वतः ही दूर भाग जाते हैं । उनके रिक्त स्थान की पूर्ति सद्‌गुणों से होने लगती है ।

यह सब दृढ़ आत्मबल से ही संभव है ।

न वा उ मां वृजने वारयन्ते
न पर्वतासो यदहं मनस्ये ।
मम स्वनात्कृधुकर्णो भयात
एवेदनु द्यून्किरणः समेजात ॥

(ऋग्वेद १०/२७/५)

भावार्थ–हे मनुष्यो ! तुम्हारी आत्मविश्वास की शक्ति बड़ी प्रबल है । तुम्हारे निश्चय को कोई मिटा नहीं सकता । साधारण विघ्नों की तो बात ही क्या बड़े-बड़े पर्वत तक तेरी राह रोक नहीं सकते । तू सूर्य से भी अधिक बलवान है ।

संदेश–संसार में यदि कोई सबसे बड़ी शक्ति है, तो वह है आत्मशक्ति । आत्मशक्ति प्रसुप्त को जगाती, अतींद्रिय क्षमताओं को उभारती तथा भौतिक समृद्धि के अर्जन की क्षमता प्रदान करती है । उसी के बल पर जीवन निर्वाह के सारे क्रिया-कलाप होते हैं, सुविधा सामग्री को जुटाने तथा उनका सुनियोजन करने का मार्ग प्रशस्त होता है । अपना तथा औरों का भला करने की एक सीमित सामर्थ्य ही बुद्धि के सहारे अर्जित करना संभव है; किंतु आत्मबल के बलबूते ऊंचा उठने, आगे बढ़ने की ऐसी प्रखरता प्राप्त की जा सकती है, जिससे मात्र अपना ही नहीं, संसार भर का उत्थान-अभ्युदय भी संभव हो सके । साधन संपन्न व्यक्ति में भी यदि आत्मशक्ति का अभाव है तो वह सुख भोग नहीं पाते; किंतु आत्मबल के धनी इसी जीवन में स्वर्ग-मुक्ति का परमानंद प्राप्त करते हैं और परमात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करके निरंतर जीवन लक्ष्य की ओर बढ़ते रहते हैं ।

हम साधारणतः बाह्य दृष्टि से इस शरीर को ही देखकर सबकुछ समझते रहते हैं । परंतु हमारा जीवन तो शरीर, प्राण, मन, बुद्धि और

आत्मा के पांच कोषों से निर्मित है । यह आत्मा उस परब्रह्म परमात्मा का ही अंश है और सदैव नर से नारायण की ओर बढ़ने में ही प्रयासरत रहती है । उस आत्मा की शक्ति अपरिमित है; उतनी ही जितनी इस संसार के रचयिता विराट परमेश्वर में है । इस तथ्य पर विश्वास करने को ही आत्मविश्वास कहते हैं । आत्मविश्वास की गरिमा से परिपूर्ण मनुष्य एक बार जो निर्णय कर लेता है तो संसार की कोई शक्ति उसे डिगा नहीं सकती ।

आत्मविश्वास के बूते ही हनुमान समुद्र लांघ गए थे । इसके जागृत हो जाने पर अर्जुन ने महाभारत में विजय प्राप्त की थी । वर्तमान में मानव की जितनी भी उपलब्धियां हैं सब दृढ़ इच्छा शक्ति का ही परिणाम हैं । मनुष्य हिमालय की चोटी पर पहुंच गया है, आकाश में उड़ता फिरता है, समुद्र की गहराई में खोज करता है–यह सब केवल उसके आत्मविश्वास की प्रबल शक्ति का ही चमत्कार है ।

समस्या केवल यही है कि मनुष्य न तो आत्मा को पहचानता है और न ही परमात्मा को । वह सांसारिक मृग मरीचिका के पीछे भटकता फिरता है और दुख पाता है पर उस परम सत्य को जानने का प्रयास ही नहीं करता । आत्मा तथा परम आत्मा का आभास भी प्राय: अधिकतर मनुष्यों को नहीं होता । यह जागृति लाने का साधन क्या है ? अपनी आत्मा की प्रचंड शक्ति को पहचान कर उसकी ऊर्जा से अपनी व संसार की सुख समृद्धि में वृद्धि करने का मार्ग क्या है ? वह है केवल ईश्वरीय सत्ता में परम विश्वास । इस विश्वास के दृढ़ हो जाने पर हमें सदैव अपनी आत्मा में ही परमेश्वर की उपस्थिति का अनुभव होता रहता है । उसकी उपस्थिति हमें स्वत: ही सत्कर्मों में प्रेरित करती रहती है ।

आत्मबल ईश्वरीय सत्ता का पर्यायी ही है ।

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते ।
श्रद्धा हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥

(ऋग्वेद १०/१५१/४)

भावार्थ–श्रद्धा हृदय की उच्च भावना का प्रतीक है । इससे मनुष्य का आध्यात्मिक जीवन सफल होता है और वह धन प्राप्त कर सुखी होता है ।

संदेश–श्रद्धा हमारे जीवन की सबसे कोमल, मधुर एवं सर्वश्रेष्ठ अनुभूति है । जीवन में उन्नति के तीन सोपान हैं–श्रद्धा, विश्वास और प्रेम । श्रद्धा के सामने सब कुछ संभव है, विश्वास कठिन कार्य को भी सरल कर देता है और प्रेम तो उसे सरलतम बना देता है । जीवन में इन तीन सद्‌गुणों को धारण करने तथा आचरण में अभ्यास करने से मार्ग सभी विपत्तियों व कष्टों से मुक्त हो जाता है । श्रद्धावान व्यक्ति प्रत्येक कार्य में सफलता प्राप्त करता है ।

तुलसीदास ने भी अपने इष्ट की वंदना 'श्रद्धा विश्वास रूपिणौ' कहकर ही की थी और रामचरितमानस जैसे महान लोकोपयोगी ग्रंथ को लिखने में सफल हुए थे । मीरा ने श्रद्धा के बल पर ही पत्थर में भगवान पैदा कर लिए थे जो उसके हिस्से का विषपान भी कर गए । रामकृष्ण परमहंस ने श्रद्धा से ही काली को अपने साथ भोजन करने को विवश कर लिया था । श्रद्धा से ओत प्रोत मनुष्य अपने जीवन में जो भी कार्य करता है उसमें सफलता अवश्य प्राप्त होती है । श्रद्धा का सहारा मनुष्य जीवन का सबसे सबल सहारा होता है । माता, पिता और गुरु के प्रति श्रद्धा, धर्म और सदाचार के प्रति श्रद्धा तथा अपने कर्म के प्रति श्रद्धा जीवन में प्रगति के मुख्य आधार हैं । इसी से मनुष्य का आत्मविश्वास विकसित होता है और संकल्प की दृढ़ता

उत्पन्न होती है, आलस्य एवं प्रमाद दूर भाग जाते हैं और संपूर्ण मनोयोग से संकल्पपूर्ति का मार्ग प्रशस्त होता है । उसके सामने सबलता और संपदा का दंभ भी चूर-चूर हो जाता है । कैसी भी विपत्ति हो, कितनी ही विषम परिस्थितियां हों कुछ भी तो मार्ग में बाधक नहीं हो पातीं ।

श्रद्धा और विश्वास के संयोग से मन में प्रसन्नता का जन्म होता है । प्रसन्न हृदय मनुष्य उस सूर्य के समान होता है जिसकी किरणें अनेक हृदयों के शोकरूपी अंधकार को भगा देती हैं और उन्हें भी प्रसन्नता से भर देती हैं । प्रसन्नता तो चंदन है; दूसरों के माथे पर लगाइए तो आपकी उंगलियां अपने आप महक उठेंगी ।

हमें सदैव अपने हृदय में श्रद्धा की ज्योति प्रज्ज्वलित रखनी चाहिए । श्रद्धा की ज्योति जगाए बिना हम कोई भी कार्य पूरा नहीं कर सकते । हमारे जीवन में श्रद्धा ओत-प्रोत हो । हम श्रद्धारहित होकर कोई कार्य न करें अपितु प्रत्येक कार्य श्रद्धापूर्वक करें । संध्या-पूजन करें तो श्रद्धापूर्वक । हमारे जीवन में हर समय, हर घड़ी, प्रतिपल, प्रतिक्षण, चौबीसों घंटे श्रद्धा देवी का ही राज्य रहे ।

श्रद्धालु बनने से धन, बल, विद्या, यश सभी कुछ मिलता है, प्रत्येक कार्य में सफलता मलती है, ऐश्वर्य मिलता है । हम कभी भी श्रद्धा का दामन न छोड़ें परंतु अंधश्रद्धा व अंधविश्वास से सदैव बचे रहें । अपनी विवेक बुद्धि से उचित-अनुचित का निर्णय करें और जो उचित लगे उसे ही श्रद्धापूर्वक मानें । बिना विचारे दूसरों की देखादेखी कुछ भी करना अंधविश्वास कहा जाता है और हानिकारक भी होता है ।

श्रद्धा से ही आत्मबल पुष्ट होता है ।

स्वयं वाजिँस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व ।
महिमा तेऽन्येन न सन्नशे ॥

(यजुर्वेद २३/१५)

भावार्थ–दूसरों के आशीर्वाद या उपदेश से किसी की ध्येय सिद्धि कदापि नहीं हो सकती इसके लिए स्वयं अपने शरीर, मन और आत्मा से सत्कर्म तथा परोपकार के कार्य करने होंगे ।

संदेश–भारतीय धर्म और मनुष्य में देवत्व की भावना का जो पतन आज दिखाई दे रहा है उसका मूल कारण यही है कि तथाकथित ब्राह्मणों ने धर्म को अपनी स्वार्थपूर्ति का साधन बनाकर जनता के समक्ष इसका विकृत स्वरूप प्रस्तुत किया है । लोगों में यह भावना जड़ जमा रही है कि बस भगवान की मूर्ति की पूजा करो, ब्राह्मणों की सेवा करो, उन्हें हर प्रकार के दान देकर प्रसन्न रखो तो सारी कामनाओं की पूर्ति सहज ही हो जाएगी । ऐसे ब्राह्मण जो धर्म के स्थान पर सदैव अधार्मिक आचरण ही करते रहते हैं, क्या अपने उपदेश व आशीर्वाद से मनुष्य को भव बंधनों से मुक्त कर सकते हैं ?

यदि केवल किसी के आशीर्वाद देने मात्र से ही हमारा कल्याण संभव होता तो आज संसार में कोई भी दीन-दुखी नहीं होता । इन सब मिथ्या विचारों से ही मानव जीवन में आज चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई है । लोग आलसी और अकर्मण्य हो गए हैं । स्वयं कुछ करते नहीं और अपनी असफलताओं का दोष भगवान और भाग्य को देते रहते हैं । 'बोया पेड़ बबूल का आम कहां से खाए' वाली स्थिति होती है ।

वेद वाक्य है कि मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही बन जाता है ।

जो मनुष्य अपने आपको निर्बल और शक्तिहीन समझता है, संसार की कोई शक्ति उसे बलवान और शक्तिशाली नहीं बना सकती, अतः अपनी भावनाओं को बदलना अत्यंत आवश्यक होता है । उपदेश व आशीर्वाद से उसके मन में उत्साह व तेजस्विता की भावना जन्म लेती है और तदनुसार उसका जीवन श्रेष्ठता एवं पराक्रम से देदीप्यमान हो उठता है । उसकी अंतःचेतना इस विश्वास से भर उठती है कि आशीर्वाद और उपदेश की शक्ति उसके कार्यों में सफलता प्रदान करने में सदैव सहायक रहेगी और उसे मंजिल तक पहुंचा देगी । वह दोगुने उत्साह से कार्य करने लग जाता है ।

आशीर्वाद देना स्वयं में एक गरिमापूर्ण उत्तरदायित्व है । समर्थ एवं सक्षम व्यक्ति ही आशीर्वाद और उपदेश देने का अधिकारी होता है । साथ ही पात्र-कुपात्र का ध्यान रखना भी आवश्यक है । जो व्यक्ति स्वयं कुछ करना ही न चाहे और केवल भगवान या गुरु या ब्राह्मण के आशीर्वाद में ही कामनापूर्ति के स्वप्न देखे, उससे बड़ा मूर्ख और कौन होगा ? धृतराष्ट्र ने भी महाभारत युद्ध से पूर्व अर्जुन को 'विजयीभव' का आशीर्वाद दिया था परंतु स्वयं अपने पुत्र दुर्योधन को वे यह आशीर्वाद उसके आग्रह करने पर भी न दे सके थे ।

उपदेश या आशीर्वाद केवल पुरुषार्थ को पुष्ट करने का कार्य करते हैं । आशीर्वाद देने वाले के प्रति यदि हमारी सच्ची श्रद्धा है तो हमारे मन में अपूर्व उत्साह जागृत हो जाता है तथा कार्य की सफलता के प्रति पूर्ण विश्वास रहता है । इस प्रकार हमारे शरीर, मन और आत्मा एकरस होकर सत्कर्मों तथा परोपकार के कार्यों में लगते हैं और देवत्व की भावना का विकास होता है ।

या मेधां देवगणाः पितरश्चोपास्ते ।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥

(यजुर्वेद ३२/१४)

भावार्थ–विद्वान, तत्वदर्शी तथा आत्मज्ञानी जन जिस मेधावी बुद्धि के द्वारा संसार में श्रेष्ठ कर्मों का संपादन करते हैं, हे ईश्वर ! हमें भी वह मेधा बुद्धि प्रदान करें ।

संदेश–बुद्धि के यों तो कितने ही स्तर हैं और उनके कितने ही नाम हैं । अक्लमंदी, चतुरता, होशियारी, सूझ-बूझ, तीक्ष्णबुद्धि, दूरदर्शिता आदि भी बुद्धि विशेष के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं । आमतौर पर मस्तिष्क बल को ही बुद्धि कहते हैं । जिसका मस्तिष्क अधिक बलवान है, अधिक सूक्ष्म है, अधिक स्फूर्तिमान है, उसे बुद्धिमान कहते हैं । परंतु यह परिभाषा बहुत अधूरी है । कितने ही व्यक्ति बड़े ही चालाक एवं धूर्त होते हैं और अपनी बुद्धि का प्रयोग बदमाशी, मक्कारी व धोखेबाजी के लिए करते हैं । ऐसी बुद्धि तो बेकार की चीज है और संसार में हर कहीं आसानी से मिल सकती है । क्या इसी निकृष्ट वस्तु के लिए हम भगवान से प्रार्थना करें ?

संसार में सफल होने के लिए, सुमार्ग पर चलने के लिए बुद्धि अत्यंत आवश्यक है । बुद्धि द्वारा मनुष्य हर क्षेत्र में सफलता प्राप्त करता है । 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य'–जिसकी बुद्धि उसका बल । हम परमपिता परमेश्वर से ऐसी बुद्धि प्रदान करने की कामना करते हैं जो शुद्ध और पवित्र हो तथा हमें सन्मार्ग में प्रेरित कर सके, जो हमें कुमार्ग से बचाकर सुमार्ग पर ले जा सके । ऐसी बुद्धि ही मेधा कही जाती है जो सत्य-असत्य में, नीति-अनीति में विवेकपूर्वक भेद करके हमें अज्ञान के अंधेरे से निकाल कर

सद्ज्ञान से आलोकित कर देती है । मेधावी बुद्धि से ही ऋषि-मुनि सत्कर्मों और परोपकार के द्वारा श्रेष्ठता के सोपान पर चढ़ते हुए अमृत्व को प्राप्त हुए हैं ।

मेधावी बुद्धि से हमें धन, यश और सुख सभी कुछ प्राप्त होता है । वह हमारी सारी मनोकामनाएँ पूर्ण करती है और सब कार्यों को सिद्ध करती है । गायत्री मंत्र में भी हम इसी 'धि' (मेधा) को प्रेरित करने की परमात्मा से प्रार्थना करते हैं-'धियो यो नः प्रचोदयात' । परमेश्वर की उपासना का मुख्य उद्देश्य यही है कि वह हमें मेधावी और तत्वदर्शी बनाए जिससे हमें आत्मा का सच्चा ज्ञान हो और सत्य आचरण में प्रवृत्ति जागृत हो । संसार में जितने भी श्रेष्ठ पुरुष हुए हैं उन्होंने इसी मेधा बुद्धि से अमरता प्राप्त की है । स्वार्थ त्याग द्वारा पवित्र अंतःकरण से वे सदैव परोपकार के कार्यों में लगे रहे हैं ।

मेधा बुद्धि ही अंततः हमारे आत्मबल में वृद्धि करती है और ऐसी शक्ति प्रदान करती है कि विपरीत परिस्थितियां भी हमें सत्य मार्ग से विचलित नहीं कर पातीं । इससे मन निर्मल, शुद्ध और पवित्र हो जाता है तथा उसे वश में रखना सरल हो जाता है । क्रोध, भय, ईर्ष्या, घृणा, काम, लोभ, दंभ, मोह आदि की वृत्तियां मेधा बुद्धि के सात्विक प्रभाव से शांत हो जाती हैं ।

प्रभु कृपा से ही मेधा बुद्धि का वरदान प्राप्त होता है । जो जितना अधिक परमात्मा की सत्ता से एकाकार होने का प्रयत्न करता है, उतने ही अधिक दैवी गुणों की उसमें अभिवृद्धि होती है और स्वर्गीय आनंद की अनुभूति होती है ।

मेधा बुद्धि ही आत्मबल को बढ़ाती है ।

इदं विद्वानांञ्जन सत्यं वक्ष्यामि नानृतम ।
सनेयमश्वं गामहमात्मानं तव पूरुष ।।

(अथर्ववेद ४/९/७)

भावार्थ–संसार की विचित्रता को ध्यान में रखकर सदैव सत्य बोलें और आत्मबल प्राप्त करें ।

संदेश–परमेश्वर ने संसार को अनेकानेक विचित्रताओं से परिपूर्ण कर रखा है । अपने बुद्धिबल से मनुष्य इन रहस्यों को उद्घाटित करने में लगा रहता है । 'असतो मा सदगमय'–असत्य को हटाकर सत्य की ओर अग्रसर होने की वह कामना करता है ।

संसार में सत्य की बड़ी प्रतिष्ठा व महिमा है । सत्य बहुत ही उत्तम बल और शक्ति है । सत्यवादी होने से बढ़कर और कुछ भी श्रेयस्कर नहीं है । सत्य का अर्थ है–जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही जानना, मानना और प्रकट करना । शास्त्रों ने सत्य को तप और धर्म की संज्ञा दी है । सत्य के अभाव में मनुष्य मनुष्य ही नहीं रह जाता । असत्यवादी के मुखमंडल पर तेज नहीं रहता । सत्य न बोलने वाले का विश्वास टूट जाता है और साख उठ जाती है । मित्र भी उससे कतराते हैं । मनुष्य को सदैव सत्य भाषण का व्रत लेना चाहिए पर साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह सत्य तो बोले पर उसका सत्य कटु न हो । वह सत्य दूसरों के हृदय को चोट न पहुंचाए । वह हितकर भी हो और प्रिय भी ।

'सत्यमेव जयते नानृतम्'–सत्य की जय होती है, असत्य की कभी नहीं । यह हमारे राष्ट्र का महान ध्येय वाक्य है । अपने अंत:करण में झांककर हमें यह देखना चाहिए कि हम इसका कितना पालन कर रहे हैं ।

सत्य बोलने से मनुष्य संसार के बड़े से बड़े पापों से बचकर सुपथगामी बन सकता है । सत्य में बड़ी शक्ति है । इसकी महिमा महान है । सत्य सबसे बड़ा धर्म है और स्वर्ग की सीढ़ी है । सत्य ही तपस्या और योग है, सबसे श्रेष्ठ यज्ञ है । महाभारत में तो यहां तक कहा गया है कि सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है और झूठ से बढ़कर कोई पाप नहीं है, अतः असत्य को छोड़कर सत्य को ग्रहण करो । राजा हरिश्चंद्र, स्वामी दयानंद सरस्वती और महात्मा गांधी ने सत्य के उत्कृष्ट प्रयोग से मानवता को गौरवान्वित किया है ।

सत्य स्वयं अग्नि है । उसे कोई और आग प्रभावित नहीं कर सकती–'सांच को आंच नहीं' । यह अग्नि दोषों को जला देती है और मनुष्य के अंतःकरण को शुद्ध, निर्मल और पवित्र बनाती है । इसी से इसे पावक भी कहते हैं । असत्यवादी के झूठे आक्षेप सत्यवादी पर प्रभावी नहीं हो पाते । असत्य भाषण स्वार्थसिद्धि के लिए किया जाता है या परदोष–दर्शन की दृष्टि से । दोनों दशाओं में अंततः यह मनुष्य के स्वयं पतन का कारण बनता है । परछिद्रान्वेशी एवं कटु वचन बोलने वाले व्यक्ति समाज में कुदृष्टि से देखे जाते हैं । ऐसे व्यक्तियों के आचरण ही स्वयं उनका विनाश करते हैं ।

सत्य आचरण करने वाला व्यक्ति ही सदाचारी होता है, निरंतर उत्तम मार्ग पर बढ़ता रहता है तथा यशस्वी, वर्चस्वी व तेजस्वी होता है । उसकी कीर्ति पताका संसार में सदा फहराती रहती है । उसके नेत्रों से ज्योति की किरणें फूटती रहती हैं । दुराचारी व्यक्ति उनका सामना करने का साहस ही नहीं कर पाते और सदाचारी उनकी शीतलता से अभिभूत हो जाते हैं ।

आत्मबल के धनी ही सत्याचरण कर सकते हैं ।

बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि ।
महाँस्ते महतो महिमा त्वमादित्य महाँ असि ॥

(अथर्ववेद १३/२/२९)

भावार्थ–हे मनुष्यो ! तुम्हारी आत्मा सूर्य के समान तेजस्वी, प्रकाशमान एवं महान है । अपनी शक्ति को तो पहचानो । देखो तुम्हारी महिमा कितनी विशाल है ।

संदेश–आत्मा और परमात्मा के बीच बड़ा ही घनिष्ट संबंध है । यह जो आत्मा हमारे शरीर में विराजमान है उस परब्रह्म परमेश्वर का ही अंश है । उसी की सत्ता सभी प्राणियों में विद्यमान है । हम यह भी कह सकते हैं कि भगवान ने अपने प्रतिनिधि के रूप में आत्मा को भेजा है जो इस शरीर के माध्यम से सदैव देवत्व की ओर अग्रसर होती रहती है । यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि अज्ञानवश हम अपनी आत्मा को ही भुला बैठे हैं और कषाय कल्मषों के ढेर में उसे दबा रखा है ।

जिस प्रकार सूर्य सारे संसार को तेज, प्रकाश, ऊर्जा व जीवन प्रदान करता रहता है उसी प्रकार हमारी आत्मा की महानता भी कम नहीं है । आत्मा को इंद्र भी कहा गया है,'अहमिन्द्रो न परा जिग्ये' मैं इंद्र हूं और कभी पराजित नहीं होता । आत्मा की शक्ति अपरिमित है । जिसमें आत्मिक बल है वह कभी पराजित नहीं होता । आत्मबल की सत्ता में ही विजय है और उसके अभाव में पराजय । मनुष्य जब अपनी आत्मा और परमात्मा के संबंध को श्रद्धा व विश्वासपूर्वक स्वीकार कर लेता है तब वह स्वयं को सर्वशक्तिमान अनुभव करने लगता है ओर उसकी हीन भावना दूर हो जाती है । वह फिर किसी भी कार्य में पराजित नहीं हो सकता । आत्मबल मनुष्य को मृत्युंजय बना देता है ।

आत्मबल एक आंतरिक ज्योति है । आत्मा की शक्ति रोग, शोक आदि दोषों को जलाकर नष्ट कर देती है । पवित्र कर्मों के फलस्वरूप आत्मा के दोष दूर हो जाते है और अंतःकरण में उसकी ज्योति प्रकट हो जाती है । यह ज्योति आत्मिक शक्ति के रूप में प्रकट होती है जो दोषों को नष्ट करती है । इसके कारण हृदय में दुर्गुणों का प्रवेश बंद हो जाता है । यह एक महान शक्ति है जो मनुष्य में स्फूर्ति और ओज लाती है तथा बड़े से बड़े कार्य करने की सामर्थ्य उत्पन्न करती है । बज्र के समान यह बड़े से बड़े विघ्नों को नष्ट करके असंभव को भी संभव बना देती है ।

आत्मिक बल को 'अश्मवर्म मेऽसि' कहा है अर्थात यह मेरा पत्थर का कवच है । इस अटूट, अक्षय आंतरिक शक्ति की उपमा वेद ने पत्थर से दी है क्योंकि यह बड़े से बड़े प्रहारों को रोक सकती है । आत्मिक शक्ति अजेय और अघर्षणीय है । यह पाप और पापी दोनों को नष्ट कर देती है । आत्मबल वाला व्यक्ति कभी जीवन में दास या पराधीन नहीं हो सकता । मनुष्य यशस्वी होता है और समाज में अग्रणी बनता है ।

यह हमारा कर्तव्य है कि अपनी आत्मा की प्रचंड शक्ति को पहचानें । सतत आत्मनिरीक्षण करते हुए आत्मा के ऊपर छाए कषाय-कल्मषों को दूर करते रहें जिससे हमारा जीवन आत्मप्रकाश से आलोकित होकर तेजस्वी और वर्चस्वी बने । आत्मा की यह शक्ति संसार के असंभव कार्यों को भी संभव बना सकती है । परमात्मा की शक्ति के बाद यदि कोई शक्ति है तो वह हमारी आत्मा की ही है । अपनी शक्ति को पहचानना ही ईश्वर की उपासना है ।

आत्मदर्शन से जीवन लक्ष्य की प्राप्ति होती है ।

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥

(अथर्ववेद १९/४१/१)

भावार्थ–आत्मकल्याण की इच्छा करने वाले पुरुष को पहले तप की दीक्षा दी जाती है । इससे शरीरबल, मनोबल तथा पद-प्रतिष्ठा मिलती है और सुख प्राप्त होता है ।

संदेश–संसार के सभी महापुरुषों ने तप करने पर बड़ा बल दिया है । जीवन में अधिक से अधिक सुख और आनंद प्राप्त करने के लिए तप आवश्यक है । परंतु तप है क्या ? आजकल तप के नाम पर पाखंड बहुत हो रहा है । अपने शरीर को तरह-तरह से कष्ट देने का नाम तप नहीं है । तप का अर्थ है धर्म, सत्य और न्याय-मार्ग पर चलते हुए जो विघ्न बाधाएं और कष्ट आएं उन्हें सहते हुए आगे ही बढ़ते जाना । तप का अर्थ है भूख-प्यास, गर्मी-सरदी, सुख-दुख, हर्ष-शोक और मान-अपमान को समभाव से सहन करना । तप का अर्थ है भोजन, वस्त्र, व्यायाम, विश्राम, अध्ययन आदि सभी बातों में आवश्यकता के अनुकूल आचरण, जिससे शरीर पूर्ण स्वस्थ रह सके ।

गीता के अनुसार तप तीन प्रकार का है–शारीरिक तप, वाणी का तप और मानसिक तप । शरीर से हम गुरु, ब्राह्मण, विद्वान आदि का पूजन करें; नम्र और विनीत बनें; पवित्र और स्वच्छ हों; आंख, कान, हाथ, पांव, जिह्वा आदि सभी इंद्रियों को वश में रखें; किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाएं । वाणी से हम दूसरों को कष्ट देने वाली और चुभने वाली बात न कहें । सदा सत्य बोलें पर कटु-सत्य न बोलें, प्रिय और

मीठा बोलें । उत्तम ग्रंथों का अध्ययन और चिंतन-मनन करें । मन से हम प्रसन्न रहें, शांत रहें, मौन रहें, मन का निग्रह करें और अंतःकरण को पवित्र रखें, यह मानस तप है ।

मनुष्य के क्षुद्र स्वार्थ इस उच्च भावना के विरोधी हैं अतः ऋषियों को मनुष्यों में इस भावना के जमाने में बड़े कष्ट सहने पड़े, बड़ी बड़ी तपस्याएं करनी पड़ीं । परंतु वे दृढ़ संकल्प का व्रत ग्रहण किए हुए थे, दीक्षित थे, मानो इसी प्रयोजन से जन्मे थे, अतः उन्होंने अपना व्रत पूर्ण किया । उनका अपना कुछ भी स्वार्थ न था । केवल लोक कल्याण के लिए ही तप का अनुष्ठान किया था ।

अधिकांश लोगों में यह भ्रम है कि तपस्या घोर घने जंगलों में ही होती है जिसमें भूखे प्यासे रहकर शरीर को सुखा दिया जाता है । यह विचार पूरी तरह से असत्य और आधारहीन है । सत्य तो यह है कि संसार में रहते हुए विपरीत परिस्थितियों से जूझने का नाम ही तपस्या है । इससे शरीर, मन व आत्मा की शक्ति बढ़ती है ।

तप का वास्तविक अर्थ यही है कि मनुष्य अपने वैयक्तिक स्वार्थों को त्याग दे, सब एक दूसरे का भला चाहें और उनमें सामुदायिक भले की भावना उत्पन्न हो । सब व्यक्तियों में उत्पन्न इस भावना की मूर्ति ही राष्ट्र हैं । ऐसे तपस्वी नागरिकों की ऊर्जा ही राष्ट्र को बलवान और तेजस्वी बनाती है । भागीरथ जैसे ऋषियों के तप के प्रभाव से यह भारत राष्ट्र 'स्वर्गादपि गरीयसी' कहलाया और संसार में सोने की चिड़िया की उपाधि से विभूषित हुआ । समाज और राष्ट्र के हित में अपना सर्वस्व निछावर कर देना ही तप है ।

हम भी तप के वास्तविक अर्थ को अपने दैनंदिन जीवन में उतार कर उन्नति के शिखर पर विराजमान हो सकते हैं ।

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुत
मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो ।
मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो
मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥

(अथर्ववेद १९/५१/१)

भावार्थ–मैं अकेला ही दस हजार के बराबर हूं । मेरा आत्मबल, प्राणबल, दृष्टि और श्रवणशक्ति भी दस हजार मनुष्यों के बराबर हैं । मेरा अपान और व्यान भी दस हजार के बराबर है । मैं सारा का सारा दस हजार मनुष्यों के बराबर हूं ।

संदेश–आत्मबल और प्राणबल की पुष्टि के लिए जीवन में आनंद और प्रसन्नता अत्यंत आवश्यक है । पर यह तभी संभव है जब दृष्टि व श्रवण शक्ति तथा श्वास, प्रश्वास एवं शरीर की सभी इंद्रियां व अंग-प्रत्यंग आनंदित हों ।

यह आनंदित और प्रसन्न होना क्या है ? संयम और मर्यादा में रहते हुए संसार में सबकी भलाई के कार्य करना ही हमें सच्चा आनंद और आंतरिक प्रसन्नता प्रदान कर सकता है । नैतिक साधना द्वारा जब शरीर बलवान हो, मानसिक समरसता हो, कामनाओं का आध्यात्मीकरण हो और ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण के द्वारा एक निश्चित मानसिक स्थिति पैदा हो जाए तो फिर सर्वत्र आनंद ही आनंद रह जाएगा और यही अंततः परमानंद की प्राप्ति में सहायक होगा ।

आनंद और प्रसन्नता से प्रफुल्लित मनुष्य ऐसे सूर्य के समान होता है जिसकी किरणें अनेक हृदयों के शोकरूपी अंधकार को

दूर कर देती हैं । मनुष्य को सदा प्रसन्न रहना चाहिए । प्रसन्नता स्वास्थ्य के लिए भी उत्तम है और आत्मा को भी अपूर्व बल और शक्ति से भर देती है । जो व्यक्ति सदा प्रसन्न रहता है उसके सारे दुख दूर हो जाते हैं ।

सुख में तो सभी हंस सकते हैं पर जो दुख में भी प्रसन्न रहना जानता है, अखंड प्रफुल्लित रह सकता है वही आदर्श व्यक्ति है । जो व्यक्ति विपत्तियों और संकटों में भी घबराता नहीं अपितु हँसता और मुस्कराता रहता है, वह मानव नहीं देवता है । संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं सभी बड़े विनोदी रहे हैं । प्रसन्न और आनंदित रहने से आत्मिक बल हजारों गुना बढ़ जाता है । परिस्थितियों से जूझने की प्रचंड शक्ति एवं ऊर्जा अंत:करण में उत्पन्न होती है । मनुष्य दीप्तिमान, श्रेष्ठ, ओजस्वी, तेजस्वी और पराक्रमी बनता है ।

भगवान राम और योगेश्वर श्रीकृष्ण के जीवन को देखो । कितनी विकट परिस्थितियां और विपत्तियां आईं परतु हँसते हुए सब कुछ झेला और अग्नि परीक्षा में से कुंदन के समान चमकते हुए बाहर आए । महर्षि दयानंद, स्वामी विवेकानंद, श्री बाल गंगाधर तिलक, महामना पं. मदनमोहन मालवीय आदि वर्तमान युग के महापुरुषों ने भी इस आंतरिक प्रसन्नता से प्राप्त ऊर्जा के आधार पर ही वह कार्य किए हैं जो हजारों-लाखों व्यक्तियों के लिए भी संभव नहीं था ।

आज मनुष्य स्वार्थ के वशीभूत है तथा उसमें दिव्यता की इस भावना का लोप हो गया है । जीवन को सदैव प्रसन्नता और आनंद से परिपूर्ण रखो तो आत्मबल हजारों गुना बढ़ जाएगा और एक अकेला व्यक्ति भी दस हजार के बराबर हो जावेगा ।

आत्मबल में प्रचंड शक्ति होती है ।

वि मे कर्णा पततयतो वि चक्षुर्वींदं
ज्योतिर्हृदय आहितं यत् ।
वि मे मनश्चरति दूरआधीः किं
स्विद्वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये ॥

(ऋग्वेद ६/९/६)

भावार्थ–मनुष्य की इंद्रियां कभी एक ही दिशा में स्थिर नहीं रहतीं । अवसर मिलते ही अपने विषयों की ओर दौड़ती हैं इसलिए मनुष्यों को चाहिए कि वे इंद्रियों की विषय लोलुपता के प्रति सदैव सावधान रहें ।

संदेश–मन का निग्रह सभी के लिए आवश्यक है । आत्मोन्नति चाहने वाले प्रत्येक व्यक्ति से इसका गहन संबंध है । आंतरिक जीवन के अनुशीलन के लिए और धर्म के व्यावहारिक क्षेत्र में सफलता के लिए, इस समस्या से जूझना ही पड़ता है । मन का नियंत्रण किए बिना व्यक्ति अथवा समाज के गुणात्मक विकास का बुनियादी काम कभी भी सुचारु रूप से संपन्न नहीं हो सकता ।

धार्मिक क्षेत्र में तो मन को एकाग्र रखना बड़ा ही कष्टसाध्य होता है । आंख बंद कर के जप या ध्यान के लिए बैठते ही सभी इंद्रियां मानो विद्रोह करने को मचलने लगाती हैं । आंख, कान, नाक जरा सा संकेत पाते ही विचलित होकर इधर-उधर भागने लगते हैं । और मन तो न जाने कहां कहां के विचारों को अपनी पिटारी से निकालकर बैठ जाता है । भगवान का नाम लेने में जरा भी ध्यान नहीं लगता । यही हाल हमारा व्यावहारिक क्षेत्र में भी होता है । कोई भी कार्य ढंग से कर ही नहीं पाते । मन चारों ओर भागता रहता है और काम बिगड़ जाने पर दुःख व पश्चाताप होता है ।

मन की चंचल अवस्था भय, वासना और अपवित्रता के कारण होती है । इसीसे हमारे अंत:करण में एकाग्रता व तन्मयता की ज्योति इधर-उधर हिलती है, कांपती है और बुझने लगती है । मन को भोगों के पीछे दौड़ने देकर और इंद्रियों का गुलाम बनाकर हम ऐसी स्थिति ला देते हैं जिसमें आत्मा की स्वाधीनता नष्ट हो जाती है । इंद्रिय संयम और पवित्रता का जीवन ही मुक्ति प्रदान करता है । आध्यात्मिक जीवन संघर्ष और परिश्रम का एक कठोर जीवन है । हम मुक्ति और निर्भयता चाहते हैं, शरीर और मन की सीमाओं से छुटकारा पाना चाहते हैं, किंतु जब तक हम अपनी इच्छाओं और लालसाओं से चिपके रहेंगे, तब तक यह संभव नहीं है ।

मन की इस चंचलता को एक नियमित दिनचर्या के पालन द्वारा बहुत हद तक कम किया जा सकता है । सुव्यवस्थित ढंग से सोचने की और तदनुसार कार्य करने की आदत डालनी चाहिए । व्यक्तित्व के सभी अंगों में पूर्ण सामंजस्य होना चाहिए । उसके लिए सबसे महत्वपूर्ण है चित्तशुद्धि । सर्वप्रथम संयम के द्वारा और अधिक गंदगी जमा नहीं होने देना चाहिए । साथ ही विवेक द्वारा पुरानी भ्रांत धारणाओं तथा कषाय-कल्मषों को दूर करना चाहिए । चित्तशुद्धि की प्रक्रिया बहुत धीमी होती है पर अभ्यास से यह संभव हो सकता है ।

मनोनिग्रह एक बहुत ही मजेदार भीतरी खेल है । हारने की संभावना के बावजूद भी एक खिलाड़ी की मनोवृत्ति से इस खेल का भरपूर मजा लेना चाहिए । यह खेल हमसे पर्याप्त मात्रा में कौशल, सतर्कता, विनोदप्रियता, सहृदयता, रणचातुर्य, धीरज और शौर्य की अपेक्षा रखता है जो सैकड़ों असफलताओं के बाद भी हमें टूटने से बचाता है । यह आत्मबल का ही कमाल है ।

अपहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर ।
परो निर्ऋत्या आचक्ष्व बहुधा जीवतो मनः ॥

(ऋग्वेद १०/१६४/१)

भावार्थ–मैं अपने कुविचारों को सदैव दूर रखूंगा । इनसे अपना विनाश नहीं करूंगा । मेरे मन की शक्ति और सामर्थ्य अपार है, इसे बरबाद न करूंगा ।

संदेश–संसार में हम जो भी कार्य-कलाप देखते हैं, मानव समाज में जो भी गति हो रही है, हमारे चारों ओर जो कुछ हो रहा है, वह सारा का सारा केवल मन का ही खेल है । यह सब कर्म द्वारा ही नियमित होता है । कोई भी कर्म सर्वप्रथम मन में विचार रूप में जन्मता है । इस विचार पर आंतरिक चिंतन-मनन होता है और फिर उसे कार्य रूप में परिणित करने की इच्छाशक्ति जागृत होती है । तब मनुष्य वह कार्य करता है । उसके कर्मों से ही अंततः उसके चरित्र का निर्माण होता है ।

जीवन पर अपनी पकड़ बनाए रखने का एक ही उपाय है–उचित और गहन चिंतन । आजकल हम सभी मुक्त चिंतन की प्रशंसा करते नहीं अघाते । मुक्त चिंतन अच्छा है पर उचित चिंतन उससे भी अच्छा है । और उचित चिंतन का गहन चिंतन में परिणत हो जाना अति उत्तम है । आत्म निरीक्षण की आदत डाले बिना मन के अंदर क्रियाशील सभी विचारों पर उचित नियंत्रण रख पाना असंभव है । अंतःकरण में मल, विक्षेप और आवरण तीन दोष होते हैं । जब तक इन दोषों को दूर करके मन को शुद्ध, पवित्र और निर्मल नहीं बना लिया जाता उसमें दूषित विचार जन्म लेते रहते हैं । वैचारिक पवित्रता होने पर ही हमारे आचरण व कर्म में उत्कृष्टता के दर्शन हो सकते हैं ।

गीता का उपदेश है कि मनुष्य को निरंतर कर्म करते रहना चाहिए । हम ऐसा कोई भी कर्म नहीं कर सकते, जिससे कहीं कुछ भला न हो; और ऐसा भी कोई कर्म नहीं है, जिससे कहीं न कहीं कुछ हानि न हो । प्रत्येक कर्म अनिवार्य रूप से गुण-दोष से मिश्रित रहता है । सत और असत दोनों प्रकार के कर्मों की जड़ हमारे मन में ही विकसित होती है । मन में अच्छे विचार उत्पन्न होंगे तो हमारे कर्म भी शुभ होंगे और कुविचारों का परिणाम अशुभ कर्मों के रूप में प्रकट होगा । मन में उत्पन्न होने वाले दूषित विचार हमें दुष्प्रवृत्तियों की ओर प्रेरित करते हैं और हमारे सर्वनाश का कारण बनते हैं । अतः हमें अपने मन में पनपने वाले कुविचारों को समूल उखाड़ फेंकने का सदैव प्रयास करते रहना चाहिए ।

भारतीय संस्कृति में मन की असीम शक्ति और अपार सामर्थ्य का सदैव अनुशीलन किया जाता है । संस्कार, परिष्कार और संशोधन द्वारा मन में से अवांछनीय तत्वों, दुर्गुण-दोष आदि को हटाकर उनके स्थान पर सदगुणों को प्रतिष्ठापित करना ही हमारी संस्कृति का मूल आधार है । इसी से दुर्गुणों, दुर्विचारों और दुखदायी तत्वों को मन में घुसने से रोका जा सकता है तथा उनके स्थान पर शुभ तत्व, शुभ विचार और सद्‌गुण अपनी सुगंध फैलाने लगते हैं ।

आत्मशोधन का यह क्रम जीवन भर चलता रहना चाहिए । इससे सत्कर्मों के द्वारा मानव जीवन देवत्व की ओर अग्रसर होता है । कुविचार और कुसंस्कार हमारे मन में घुसने का साहस नहीं कर पाते । जीवन पवित्र और निर्मल बनता है ।

आत्मशक्ति का सदुपयोग करें ।

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि ।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां
वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः ॥

(अथर्ववेद ६/४५/१)

भावार्थ–तुम्हारा मन किन्हीं बुरे विचारों में भटकने न पावे इसलिए उसे सदैव किसी न किसी काम में अटकाए रहो अर्थात उसे बेकार न बैठने दो ।

संदेश–श्रीकृष्ण भगवान ने अर्जुन को उपदेश देते हुए बताया था कि संसार में कुछ लोग तो दैवी संपदा वाले होते हैं और कुछ आसुरी संपदा वाले । दैवी संपदा वाले शुद्ध अंतःकरण से भय रहित होकर ध्यानयोग से तत्वज्ञान को जानने वाले होते हैं । वे सदैव सात्विक काम करते हैं, इंद्रियों का दमन और स्वाध्याय करते हैं । मधुरभाषी तथा मन, वाणी और शरीर से किसी को कष्ट न देने वाले होते हैं । अभिमान उनके निकट नहीं आता और वे संसार के सारे कार्य करते हुए भी अलिप्त रहते हैं तथा मानव जीवन के उद्देश्य को पूरा कर लेते हैं । आसुरी स्वभाव के लोगों के बारे में तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है । चारों ओर ऐसे ही स्वभाव के व्यक्ति भांति-भांति के दारुण दुःख झेलते हुए दिखाई पड़ते हैं ।

दैवी या आसुरी संपदा दो भावनाओं या वृत्तियों का ही नाम है । आसुरी वृत्ति उन मनुष्यों में उत्पन्न होती है जो इस अनित्य संसार की अनित्य वस्तुओं को ही नित्य समझ कर उन्हीं का चिंतन करते रहते हैं । दैवी अथवा आसुरी वृत्ति का मूल कारण अंतःकरण है, इसी के द्वारा मनुष्य विवश होकर न चाहते हुए भी

आसुरी भावनाओं के गंभीर भंवर में जा फंसता है ।

आज का मनुष्य तन से तो स्वस्थ दिखाई देता है पर मन से अशांत है । इसका कारण यही है कि उसके मन में सदैव कुविचारों का ही जमघट रहता है । मानसिक प्रदूषण इतना बढ़ता जा रहा है कि सोते-जागते, उठते-बैठते, दिन-रात कुत्सित, अश्लील विचार ही हमारे मन को घेरे रहते हैं । इस दुखद स्थिति से अपने को बचाए रखने का एकमात्र उपाय यही है कि मन को सदैव शुद्ध और पवित्र विचारों में ही नियोजित रखें । कभी भी उसे खाली न रहने दें । कहते हैं 'खाली दिमाग शैतान का घर' अतः हमें कभी भी अपने मन-मस्तिष्क को खाली नहीं छोड़ना चाहिए । हर समय उसे किसी न किसी रचनात्मक लोकोपयोगी कार्य में व्यस्त रखने से मन में कुविचारों का प्रवेश नहीं हो पाता ।

मन को इस प्रकार कुविचारों से बचाए रखने का अभ्यास बचपन से ही करना आवश्यक है । बालपन के कोमल मन पर पड़ा हुआ प्रभाव स्थायी होता है अतः बच्चों को सदैव ऐसे वातावरण में रखना चाहिए जिससे उन्हें सदैव शुभ विचार ही मिलें । आंखों व कानों से सदा अच्छी बातें ही देखें व सुनें तथा उच्च विचारों से परिपूर्ण ज्ञानवर्धक पुस्तकें ही पढ़ें । विदेशी प्रचार तंत्र के द्वारा हमारी उच्च संस्कृति पर जो कुठाराघात किया जा रहा है उससे स्वयं अपने को और विशेष रूप से बच्चों को बचाकर रखना चाहिए और दैवी संपदा की अभिवृद्धि में सदैव प्रयासरत रहना चाहिए ।

'व्यस्त रहो, मस्त रहो, स्वस्थ रहो'-मनुष्य जब हर समय किसी न किसी कार्य में व्यस्त रहता है तो वह आनंदमग्न रहता है, मस्त रहता है । इससे उसका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य भी ठीक रहता है, आत्मबल भी बढ़ता है ।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

(ऋग्वेद १०/१९१/४)

भावार्थ–सभी लोग एक संकल्पवान हों । सभी के हृदय एक हों मन एक हों ताकि कोई दुखी न रहे ।

संदेश–मनुष्य सामाजिक प्राणी है । उसका संबंध समाज से है। वह समाज का एक अंग है । समाज के सहयोग से ही मनुष्य अपने जीवन के क्रिया-कलापों को समुचित रीति से चला सकता है। सामाजिक संगठन निर्बल को भी बलवान और शक्तिहीन को शक्तिशाली बना देता है । 'संघे शक्तिः कलौयुगे' कलियुग में संगठन में ही शक्ति है ।

सद्‌गुणयुक्त थोड़े से व्यक्ति भी हों तो उनका संगठित होना समाज के लिए कल्याणकारी होता है । तिनके-तिनके को मिलाकर मोटे रस्से बना लिए जाते हैं जिनसे मत्त हाथी भी बांधे जा सकते हैं । संगठन की महिमा अपार है । समाज में प्रतिष्ठित रूप से जीवित रहने के लिए यह आवश्यक है कि लोक कल्याण की भावना से ओत-प्रोत व्यक्ति संगठित होकर कार्य करें ।

आसुरी व्यक्तियों के संगठन तो हर जगह दिखाई देते हैं। चोर, डकैत, भ्रष्टाचारी, व्यभिचारी व्यक्ति सदैव एक दूसरे की सहायता जी जान से करते हैं । तस्करों व अपराधियों के गिरोह अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सक्रिय रहते हैं और समाज में दूषित वातावरण का निर्माण करते रहते हैं । इस समस्या से निपटने के लिए प्राचीन ऋषि-मुनि एकत्व के महत्त्व को समझकर सदैव संगठन पर ही बल देते थे ।

संगठन के तीन मूल तत्व हैं – विचार साम्य, हृदय साम्य और मनः साम्य । किसी भी संगठन के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता है कि संगठित होने वाले समूह में विचारों की एकता हो । यदि विचारों में एकता नहीं है, विचार भेद है, मतभेद है, तो वह संगठन सुदृढ़ नहीं हो सकता । जहां विचारों की एकता होगी, वहां लक्ष्य एक होगा, साध्य एक होगा । वह एक लक्ष्य सबको एकसूत्र में बांधे रहेगा ।

दूसरी आवश्यकता है हृदय की एकता । लक्ष्य भले ही एक हो पर यदि हम उसमें हृदय से सहयोगी नहीं बनते, हृदय से साथ नहीं हैं, हार्दिक एकता नहीं है, तो लक्ष्य एक होने पर भी सफलता नहीं मिलेगी ।

मन की एकता अत्यंत आवश्यक तत्व है ! लक्ष्य एक है और हृदय में सहानुभूति भी है पर यदि क्रियाशीलता नहीं है, प्रेरणा नहीं है, प्रबुद्धता नहीं है तो वह संगठन दृढ़ नहीं होगा । आधे-अधूरे मन से किया गया कार्य कभी भी पूर्ण नहीं हो पाता । मन रूपी लगाम को नियंत्रण में रखकर पूर्ण मनोयोग से जब कार्य को गति देंगे तभी संगठन सुव्यवस्थित और दृढ़ होगा । इस मन में हर समय उठने वाले विचारों का मानव जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है । विचार ही मनुष्य को ऊपर उठा देते हैं और विचार ही नीचे गिरा देते हैं । मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही बन जाता है । मन का चिंतन हमारे समस्त क्रिया कलापों में अत्यंत महत्वपूर्ण है । इसीलिए मन को सदैव कुविचारों से मुक्त रखने का प्रयास करना होता है । दृढ़ आत्मशक्ति के बूते ही उनके प्रलोभन से बचा जा सकता है ।

स्वस्थ एवं सक्रिय समाज के लिए आत्मबल के धनी व्यक्तियों के ऐसे संगठन ही ठोस आधार बन सकते हैं ।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं
तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गम ज्योतिषां ज्योतिरेकं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

(यजर्वेद ३४/१)

भावार्थ–हमारे मन की शक्ति अनंत है । वह जागृत और सुप्त अवस्था में भी सदैव क्रियाशील रहता है । वह ज्योतिस्वरूप है किंतु मलावरण से ग्रसित है । इसलिए हमारा मन शुभ एवं कल्याणकारी विचारों वाला हो ।

संदेश–हमारा मन दिव्यशक्ति रूप है । यह बड़ा ही बलवान और क्रियाशील है । सोते-जागते कभी भी इसका कार्य रुकता ही नहीं । हर समय कुछ न कुछ सोचता और यहां-वहां भटकता रहता है । कभी भूतकाल की घटनाओं का चिंतन करता है कभी भविष्य के कल्पनालोक में विचरण करता है । प्रतिक्षण किसी न किसी विषय पर संकल्प-विकल्प, चिंतन-मनन, तर्क-कुतर्क में उलझा रहता है । एक पल के लिए भी रुकता नहीं । जागृत अवस्था में तो यह स्थिति चलती ही रहती है पर जब हम सो जाते हैं तब भी इस मन की कार्यवृत्ति बंद नहीं होती और यह भांति-भांति के स्वप्न देखता फिरता है । चौबीसों घंटे कुछ न कुछ करता रहता है और क्षणांश में ही प्रकाश की गति से भी अधिक वेग से न जाने कितनी दूर जा पहुँचता है ।

मनुष्य जो मन में विचार करता है वही वाणी से कहता है, जो वाणी से कहता है वही कर्म से करता है और जो कर्म से करता है उसी का फल प्राप्त करता है । मन के विचार ही अंततः उसके चरित्र का निर्माण करते हैं । यदि मनुष्य का चिंतन भद्र एवं शुभ है तो वचन

और कर्म भी शुभ होंगे तथा उनके फल भी शुभ होंगे । इसी प्रकार यदि चिंतन अशुभ होगा तो वचन, कर्म और फल भी अशुभ होंगे । मन का चिंतन सबसे महत्वपूर्ण तत्व है ।

बुरे विचारों का प्रभाव हमारे भीतर आसुरी वृत्तियों को जन्म देता है । मन तो लगाम के समान है जो इंद्रियों को घोड़े के समान नियंत्रण में रखती है । मन में जब कुविचार होंगे तो इंद्रियां भी कुमार्गगामी बन जाएंगी । जिसका मन वश में होता है, उसकी इंद्रियां भी रथवान के सुधरे हुए घोड़ों की तरह वश में होती हैं । जो विवेक रहित, मन के पीछे चलने वाला, सदा अपवित्र विचारों से ग्रसित रहता है वह जन्म-मरण के चक्र में भटकते हुए दारुण दुख पाता है और जो विवेक संपन्न, मन को वश में करने वाला, निरंतर शुद्ध एवं पवित्र विचार करता है वह अपने सत्कर्मों के फलस्वरूप मोक्ष प्राप्त करता है । मनुष्य के मन का अज्ञान और ज्ञान, शुभ और अशुभ विचार ही उसके बंधन या मोक्ष का मूल कारण होते हैं ।

हमें सदैव यह प्रयास करते रहना चाहिए कि कुविचारों के मल-आवरण से हमारे मन की ज्योति धीमी न पड़ने पाए । मन में उठने वाले संकल्प प्रवाह में एक भी अशुभ संकल्प हम में न उठे । मन द्वारा सदा दिव्य, शुभ एवं कल्याणकारी संकल्पों का प्रवाह ही चलता रहे । विचारों की यह दिव्यता हमारे कर्मों में भी परिलक्षित होती है और उन्हीं के आधार पर समाज हमारा मूल्यांकन करता है । हमारे कर्मों के आधार पर ही हमें यश-अपयश, मान-अपमान मिलता है । मन की पवित्रता ही हमारे कर्मों को पवित्र बना सकती है ।

प्रचंड आत्मबल संपन्न व्यक्तियों के लिए यह कार्य असंभव नहीं है ।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो
यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

(यजुर्वेद ३४/२)

भावार्थ–मन से ही पारलौकिक साधन तथा लौकिक सुख प्राप्त होता है । यह प्राणिमात्र के भीतर रहता है । इसलिए हमारा मन शुभ और कल्याणकारी विचारों में सदैव रत रहे ।

संदेश–अनेक पुण्यों के फलस्वरूप मानव-जीवन प्राप्त होता है । यह मानव जीवन सत्कर्म का साधन है । इसका ठीक उपयोग होने पर मनुष्य शाश्वत आनंद प्राप्त कर सकता है । वेद की शिक्षा है कि इस जीवन में मनुष्य का सदा उत्थान हो, कभी भी वह पतन की ओर न जाए । पुरुषार्थ, उत्साह और स्वावलंबन का आश्रय लेकर जीवन को अमर बनाए, मृत्यु के बंधन को तोड़कर सदा उन्नति की ओर बढ़े और दीर्घायु प्राप्त करे ।

मनोबल कार्यसिद्धि का प्रमुख साधन है । जो जिस कार्य में जुट जाता है, वह उसको पूरा कर ही लेता है । संलग्नता, अटूट विश्वास और निष्ठा उसे सफलता देती हैं । उसे धन, ऐश्वर्य, विद्या आदि सब कुछ प्राप्त होता है । दृढ़ निश्चय की महान शक्ति असंभव कार्यों को भी संभव बना देती है । दृढ़ निश्चयी व्यक्ति अपने पथ से कभी भी विचलित नहीं होता । पहाड़ भी उसके निर्णय को नहीं बदल सकते । सूर्य की किरणें भी उसके निश्चय के सामने कांप जाती है ।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्नऽऋते किं चन कर्म क्रियते
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

(यजुर्वेद ३४/३)

भावार्थ–उत्कृष्ट ज्ञान, चिंतनशीलता तथा धैर्य आदि सद्गुणों का स्रोत हमारा मन है । वह अंधकार में अर्थात दुष्कर्मों की ओर न बढ़े इसलिए हमारा मन शुभ एवं कल्याणकारक विचारों वाला हो ।

संदेश–ऐहिक अथवा पारलौकिक उन्नति का सबसे बड़ा साधन शरीर है । उसके भीतर जो सर्वशक्तिमान मन है वही शरीर की समस्त इंद्रियों का संचालन करता है । उसमें शुभ–अशुभ हर प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं और वहीं से चिंतन–मनन के आधार पर ज्ञान की उत्कृष्ट धारा प्रवाहित होती है । धैर्य, संयम, शुचिता, मृदुता आदि सद्गुणों का स्रोत भी हमारा यह मन ही है । अनुशासनप्रियता, योजनाबद्धता, प्रत्येक काम में एक व्यवस्था रखने का अभ्यास, दूसरों के प्रति आदर, अपने द्वारा किसी को कष्ट न हो ऐसी इच्छा, इन सब बातों के कारण लोगों का जीवन प्रायः शांत, सौम्य और मृदु दिखाई देता है । इस सबके लिए हमें सत्वगुण की उपासना करनी होगी । कठोरता, क्रूरता, अनास्था, अनादर, अस्नेह आदि तमोगुण से परिपूर्ण बातों को अपने मन से निकालना होगा ।

'तमसो मा ज्योतिर्गमय' हमारा बोध वाक्य है । हमें अपने मन में ज्ञान की ज्योति प्रज्ज्वलित करके अज्ञान के अंधेरे को दूर करना चाहिए । इससे मन शुद्ध और पवित्र बनता है और त्याज्य कर्म उसमें प्रवेश नहीं कर पाते ।

इस प्रकार प्रचंड मनोबल और दृढ़ निश्चय से मनुष्य सभी प्रकार के लौकिक सुख भोग सकता है । यही नहीं, अपने सत्कर्मों और दिव्य भावनाओं के आधार पर अनेकानेक सुख साधन भी उसे प्राप्त होते हैं । हमारे कर्मों के आधार पर ही हमारे भावी जीवन का निर्धारण होता है ।

मनोबल की दृढ़ता तभी संभव है जब हमारा मन शुद्ध, स्वच्छ, निर्दोष एवं पवित्र हो । अपना व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन यदि हमें सुदृढ़, श्रेष्ठ, उन्नत और ऐश्वर्यशाली बनाना हो, तो हमें मन की शुचिता का महत्व पहचानना ही होगा, मन का कूड़ा-करकट साफ करना होगा । शरीर और मन, साध्य और साधन, व्यक्ति और समाज सभी को स्वच्छ, शुद्ध, निर्मल और पवित्र रखना आवश्यक है ।

ऐहिक और पारलौकिक, व्यक्तिगत और सामाजिक सभी प्रकार की उन्नति के लिए निर्मलता जरूरी शर्त है । मन की निर्मलता सभी दैवी गुणों की बाह्य अभिव्यक्ति मात्र ही है । निर्मलता माने स्वच्छता, स्वच्छता माने सात्विकता, सात्विकता माने परमात्मा के स्वागत की सिद्धता । इसके विपरीत मलिनता माने आत्मग्लानि और तमोगुण । मलिनता माने ईश्वर के लिए प्रवेश निषेध । मलिनता माने आत्मनाश और समाजघात के मार्ग का अवलंबन । मनुष्य को मन की निर्मलता चाहिए या मलिनता, इसका निर्णय तो उसे स्वयं ही करना होगा । अपने विवेकानुसार उसे ही यह तय करना होगा कि वह किस पथ पर चले ।

मन को शुभ और कल्याणकारी विचारों की क्रीड़ास्थली बनाकर ही लौकिक एवं पारलौकिक आनंद की प्राप्ति हो सकती है ।

त्याज्य कर्म वे हैं, जो समाज और राष्ट्र के लिए अहितकर हैं। उनको छोड़ देने से कोई भी समाज या राष्ट्र उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकता है। सबकी उन्नति में ही हमारी स्वयं की भी उन्नति है। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह सभी दुर्गुणों और दुष्कर्मों का परित्याग करे। असत्य भाषण से मनुष्य का नैतिक पतन होता है। जो दूसरों पर झूठे आरोप लगाता है, वह स्वयं अपना नाश कर लेता है, अतः असत्य भाषण त्याज्य है।

पाप से मनुष्य का नाश होता है अतः पाप सर्वथा त्याज्य है। वेद का कथन है कि अकर्मण्य और नास्तिक अपने पापों से मरते हैं। उनका ऐश्वर्य दूसरों के पास चला जाता है। पाप कर्म से भी होता है और मानसिक विचारों से भी। जो चोरी करता है वह भी मानसिक पाप करता है। इसी प्रकार पर-स्त्री चिंतन, अश्लील साहित्य का अध्ययन, अश्लील चित्र-दर्शन, अश्लील गीतों का गायन, पर-स्त्री का नृत्य-दर्शन आदि मानसिक पाप हैं। मन में उठने वाले कुविचार मनुष्य को पापकर्मों में प्रेरित करते रहते हैं। वह भांति भांति के त्याज्य एवं अनैतिक कर्मों में लिप्त रहता है। पापकर्मों के प्रलोभन से अपने को बचाने के लिए दृढ़ आत्मशक्ति ही एकमात्र सहारा होती है। वही हमें दुष्कर्मों के अंधकूप में गिरने से बचाती है।

अपने मन को सभी प्रकार के पापयुक्त विचारों से मुक्त करके सात्विक विचारों को जागृत करते रहना आत्मबल का द्योतक है और ऐसे मनुष्य ही जीवन में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। हमें अपने मन की अपूर्व शक्ति को पहचानकर अपने विकास का पथ प्रशस्त करना चाहिए।

येनेदं भूतं मुवनं भविष्यत्
परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

(यजुर्वेद ३४/४)

भावार्थ–जो नाश रहित भूत, भविष्यत् और वर्तमान का योग साधन द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है, जिससे जीवनयज्ञ के संपूर्ण कार्य विधिवत पूरे होते हैं, वह हमारा मन शुभ और कल्याणकारी विचारों से युक्त हो ।

संदेश–देवता, मानव और दानव ऐसी तीन श्रेणियों की कल्पना हम करते हैं । इनमें दानव हीन, मानव मध्यम और देवता श्रेष्ठ हैं । दानव दुर्गुणों से युक्त रहते हैं, मानवों का जीवन अच्छी-बुरी दोनों बातों से युक्त रहता है और देवता सर्वगुण संपन्न होते हैं । वे परोपकाररत और तेजस्वी होते हैं । देवताओं में असामान्य सामर्थ्य और तेज रहता है । परमात्मा तो घट-घट में और कण-कण में है किंतु तेजस्विता के कारण ही हमें उसका साक्षात्कार होता है ।

वैदिक धर्म कर्म के सिद्धांतों पर आधारित है । पहला है कि मनुष्य कर्म के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता, दूसरा, कर्म का फल अवश्य मिलता है और तीसरा, उत्तम व श्रेष्ठ कर्मों का फल उत्तम होता है तथा अशुभ व बुरे कर्मों का फल बुरा । कर्मों की गति बड़ी विचित्र है । कभी-कभी कर्मफल पर संदेह होने लगता है । पापियों को धन-संपत्ति सहित फलते-फूलते देखकर भी मन में शंका होती है । पर यह शंका निराधार है । जिस अपराधी को फांसी दी जाती है, उसको भी फांसी से पूर्व इच्छानुसार भोग

सामग्री दी जाती है । कुछ ऐसा ही ईश्वर का भी विधान है ।

हमारा मन इतना सामर्थ्यवान है कि यदि वह विवेकपूर्वक चिंतन करे और अपने भूत, भविष्य तथा वर्तमान का सतत गहन अध्ययन करता रहे तो वह अपनी वास्तविक स्थिति को सरलता से जान सकता है । वह मानव बन रहा है या दानवता की दलदल में धंस रहा है या फिर दैवी कार्यों के द्वारा देवताओं के समान यशस्वी और तेजस्वी हो रहा है, इसका आभास हम स्वयं ही कर सकते हैं । तेजस्विता देवत्व का सर्वश्रेष्ठ गुण है । तेजस्विता एक आंतरिक वृत्ति है जो हमारे स्वभाव में समाई हुई रहती है । किसी संकट की परवाह न करते हुए अपने अभीष्ट कार्य में आवेशपूर्वक जुटे रहना ही तेजस्विता है । वास्तव में इस संघर्षमय संसार में जो तेजस्वी होगा वही जीवित रहेगा, उसी की उन्नति होगी और जीवनयज्ञ में उसके संपूर्ण कार्य विधिवत पूरे होंगे ।

पर यह सब तभी संभव है जब हमारे मन में शुभ विचार ही रहें और काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर के राक्षस उसके पास फटकने भी न पाएं । मन में कभी भी पाप की भावना न आए और हम कुमार्ग पर जाने से बचे रहें । हम सदैव मन से बुरे विचारों को दूर कर शुभ और कल्याणकारी कर्मों का संकल्प ही लेते रहें । परंतु शेखचिल्ली की भांति केवल संकल्प करने से भी कुछ नहीं बनेगा । अपने संकल्प के अनुसार कार्य भी करें तभी सफलता हमारे चरण चूमेगी । अधिकांश व्यक्ति हर समय हवाई किले बनाते रहते हैं । बातें तो बड़ी बड़ी करते हैं पर उनको आकार देने का पुरुषार्थ उनसे बन ही नहीं पड़ता । इस प्रकार वे शुभ विचार धीरे धीरे लुप्त होने लगते हैं ।

शुभ विचारों का पालन करने में प्रमाद न करें ।

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन्
प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

(यजुर्वेद ३४/५)

भावार्थ–हे मनुष्यो ! तुम्हारा मन स्वच्छ हो, अंतःकरण धर्म और सदाचरण से पवित्र हो ताकि ब्रह्मविद्या और व्यवहारिक ज्ञान उपलब्ध कर सको ।

संदेश–संसार के सभी प्राणियों में मनुष्य परमेश्वर के निकटतम है । अन्य कोई भी प्राणी परमेश्वर से इतनी निकटता प्राप्त किए हुए नहीं है जितनी कि मनुष्य । परमात्मा ने मनुष्य को इतना साधन-संपन्न बनाया है कि यदि वह ऊंचा उठना चाहे तो उसकी कोई सीमा नहीं और यदि गिरना चाहे तो उसकी भी कोई सीमा नहीं । यह सब उसके मानसिक नियंत्रण पर आधारित है । मन का नियंत्रण ही सबसे बड़ी साधना है । मानसिक वृत्तियों के द्वारा ही उसकी मनुष्यता को परखा जा सकता है । नैतिकता की परिधि बहुत विस्तृत है, अतः मनुष्यता को धारण करने के लिए मनुष्य को अपनी मानसिक प्रवृत्तियों का परिष्कार करना पड़ता है । चित्त के मैल को स्वच्छ करके अंतःकरण को शुद्ध और पवित्र करना होता है ।

मन में जो मैल एक बार प्रवेश कर जाता है वह आसानी से नहीं निकलता । स्वार्थ, कामना, राग-द्वेष, मोह आदि की मलिनता इस मन से सूक्ष्मता से चिपटी हुई है जो कि अनजाने ही अशुभ संकल्पों को जन्म देती रहती हैं । मन की शक्ति को पहचानकर सदैव इसे पुष्टता प्रदान करते रहने से ही मन स्वच्छ होकर शुभ

संकल्पों को विकसित कर सकता है ।

यह मन अथाह ज्ञान का भंडार है । मनुष्यों के मनस्तत्त्व में जहां उनका सब प्रकार का चित्त, उनके संस्कारों का महाकोष, उनका अनंत वासनाजाल और सब योनियों की असंख्य वासनाएं मौजूद हैं वहीं उस मन में सब सत्य ज्ञान भी मौजूद है । यह सारा का सारा वेद ज्ञान, ऋक् ज्ञान, साम ज्ञान और यजु ज्ञान तभी प्रकाशित हो सकता है जब मन कुसंस्कारों से मुक्त हो जाए । वेद ज्ञान के प्रकाश से ही मन में शुभ संकल्प आते हैं, शिव संकल्प और सत्य संकल्प आते हैं । उसी से हमें व्यावहारिक ज्ञान और ब्रह्मविद्या की उपलब्धि होती है ।

अंतःकरण में धर्म और सदाचार की स्थापना तभी संभव है जब हम पाप कर्मों से दूर रहें । पाप और पुण्य विवादास्पद विषय हैं । जब भी आत्मा मन को और मन इंद्रियों को किसी कार्य में प्रेरित करता है तो उसी क्षण से आत्मा पर उसका प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगता है । बुरे काम करने में भय, शंका और लज्जा का अनुभव होता है तथा अच्छे काम करने में अभय, निःशंकता और आनंदोत्साह उठता है । इसी कसौटी पर पापकर्मों को कसा जा सकता है । ऐसे पापकर्मों का विचार भी मन में न आने पाए, इसके लिए सतत अभ्यास करते रहना चाहिए । जब भी इस संबंध में मन में कोई विचार आए तो उसे कठोरतापूर्वक फटकारते हुए मन से दूर भगा देना चाहिए । यह भर्त्सना यदि प्रबल रहेगी तो मन में पाप की भावना प्रवेश नहीं कर सकेगी ।

शुद्ध एवं पवित्र अंतःकरण तथा सत्य ज्ञान के व्यवहारिक स्वरूप से आत्मबल में वृद्धि होती है ।

सुषारथिरश्वानिव
यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

(यजुर्वेद ३४/६)

भावार्थ–जिस प्रकार सारथी अपने दसों घोड़ों को वश में रखकर चलाता है, हे मनुष्यो ! उसी प्रकार तुम भी अपने मन द्वारा दसों इंद्रियों को अपने काबू में रखो । इसके लिए तुम्हें संकल्पवान होना पड़ेगा ।

संदेश–परम लक्ष्य की प्राप्ति में हमारी वासनाएं सबसे बड़ी बाधा हैं । यदि हम निरंतर विषय वासनाओं में फंसे रहेंगे, सांसारिक आनंद के पीछे भागते रहेंगे तो हम उनके दास हो जाएंगे । यदि हम सदैव विषय वासनाओं का चिंतन करते रहेंगे तो वे हमारे मन में इंद्रियों को संतुष्ट करने वाले पदार्थों को प्राप्त करने की इच्छा पैदा करेंगी तथा हम इंद्रियों की विभिन्न प्रकार की तृप्तियों में लग जाएंगे । सर्वप्रथम मन में विचार उत्पन्न होते हैं । जो बात चिंतन स्तर पर है वही धीरे-धीरे कर्म स्तर तक आ जाती है । अतः लालसा मन के भीतर उत्पन्न होती है और कर्म बाहर प्रकट होते हैं ।

व्यक्तिगत रूप में हम इंद्रिय विषयों का चिंतन करते रहते हैं, मानसिक तौर पर हम उन्हें प्राप्त करना चाहते हैं, यद्यपि बाह्य रूप में हम उनसे बचना भी चाहते हैं । ऐसे लोगों को पाखंडी कहा जाता है । इंद्रिय सुखों का चिंतन मन में एक के बाद दूसरी लालसा को जन्म देता है और मनुष्य पापकर्मों की ओर अग्रसर होता जाता है । अनियंत्रित इंद्रिय चिंतन मनुष्य के संयम और मर्यादा का नाश कर देता

है । उसका आचरण विवेकहीन, अनैतिक एवं अहितकर हो जाता है । वह विषय वासना के दलदल में फंसता चला जाता है ।

विवेकी पुरुषों को इस प्रकार पतन के गर्त में जाने से अपने को बचाए रखना चाहिए । उसका एक ही उपचार है कि हमें अपने मन की उस प्रवृत्ति को नकारना होगा जो इंद्रिय सुख की ओर भागती है, जो कि इस अनिष्ट का मूल कारण है । शारीरिक रोगों के उपचार के लिए हमें बहुत सी चीजों से परहेज करना पड़ता है उसी प्रकार मानसिक स्वास्थ्य के लिए, सांसारिकता नामक रोग से बचने के लिए हमें इंद्रिय विषयों का कठोरता से नियंत्रण करना होगा ।

'संसार दीर्घ रोगस्य, सुविचारो महौषधम्' यह संसार दीर्घ रोग से परिपूर्ण है । इसमें चारों ओर दोष-दुर्गुण भरे पड़े हैं । उनसे मुक्ति पाने के लिए सुविचार ही महान औषधि का कार्य कर सकते हैं । अपने मन में सदैव शुभ विचार ही आएं और इंद्रियां हमारे ऊपर हावी न हो सकें यही हमारा ध्येय होना चाहिए । जिस प्रकार रथवान एक लगाम के सहारे दसों घोड़ों को वश में रखता है और जिधर चाहता है उसी ओर उन्हें हांक ले जाता है उसी प्रकार हमें भी अपने मन की लगाम को कठोरता पूर्वक कसे रहना चाहिए जिससे इंद्रियां संयम में रहें और सदैव सत्कर्मों की ओर ही प्रेरित हों । विवेक और वैराग्य की सहायता से हमें अपने मन को भौतिक पदार्थों से हटाना चाहिए और अपनी वास्तविक सत्ता के अनुरूप जीवन व्यतीत करने का सच्चा प्रयास करना चाहिए ।

यदि हम ऐसा करने का आत्मबल और दृढ़ इच्छाशक्ति विकसित कर लेंगे तभी हम अपने मानव जीवन का लक्ष्य प्राप्त कर सकेंगे ।

शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते ।
आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चत्वंहसः ॥

(अथर्ववेद ७/११२/१)

भावार्थ–जिस प्रकार सूर्य पृथ्वी एक नियम व्यवस्था से वर्षा, प्रकाश और अन्न द्वारा प्रजा का हित संपादन करते हैं वैसे ही मनुष्यों को भी चाहिए कि वे इंद्रियों को नियमित बनाकर लोक मंगल के कार्यों में लगें और स्वयं अपराधों से बचने का प्रयत्न करते रहें ।

संदेश–सकल ब्रह्मांड का संचालन करने वाले परमपिता परमेश्वर ने ऐसी व्यवस्था कर रखी है कि सारा कार्य एक निश्चित गति से स्वयमेव चल रहा है । सूर्य, पृथ्वी, चांद, तारे सभी अपनी गति से अपनी कक्षाओं में लाखों करोड़ों वर्षों से चल रहे हैं और कभी भी कोई व्यवधान नहीं होता । ऋतु परिवर्तन, कृषि, जलवायु आदि भी अपने क्रम से ही संपन्न होते रहते हैं ।

गायत्री मंत्र का जप करते समय हम भी सविता देवता का आवाहन करते हैं परंतु उसके आदर्श को अपने जीवन में उतारने के नाम पर आलस्य व प्रमाद हमें घेरे रहता है । अपने जीवन को हम नियमित नहीं कर पाते तथा अपनी इंद्रियों के दास बनकर कुविचारों और कुकर्मों में ही उलझे रहते हैं ।

आध्यात्मिक और सुख-संतोष युक्त जीवन जीने के लिए अत्यधिक आत्मसंयम और पवित्रता की आवश्यकता होती है । इंद्रिय सुख की लालसा पूर्ति में हम लगे रहते हैं फिर भी हमें तृप्ति नहीं मिल पाती । हम इस सत्य को भूल जाते हैं कि वास्तविक आनंद तभी संभव है जब हम असंयम का नहीं, आत्मसंयम का जीवनयापन करें ।

पवित्र जीवन का तात्पर्य यह नहीं है कि इंद्रियों को कुचल दें या उनका दमन कर दें वरन उन्हें नियमित बनाकर नियंत्रित करें । शारीरिक प्रलोभनों द्वारा हमारे मन के अंदर जो अपवित्र अवगुण और विचार उत्पन्न होते हैं उन पर संयम के सदगुणों से विजय प्राप्त करें ।

हमें अपनी सभी इंद्रियों का विशेष ध्यान रखना चाहिए । सभी को समुचित प्रकार से निर्देशित करना चाहिए । किसी भी इंद्रिय में किसी भी प्रकार की अशुद्ध प्रवृत्ति को प्रविष्ट नहीं होने देना चाहिए । हमारे अंदर तो पहले से ही अनेक अशुद्ध प्रवृत्तियां विद्यमान हैं । हमें उनका विनाश करके उनके स्थान पर अच्छी प्रवृत्तियों को प्रतिष्ठापित करना चाहिए । अपने मन में विद्यमान देवत्व का बार-बार चिंतन करना चाहिए । मन बहुत ही चंचल होता है उसके प्रति सदैव सतर्क रहना चाहिए । अपने मन पर एक क्षण के लिए भी कभी विश्वास मत करो । कभी बुराई सूक्ष्म रूप में गुण, दया अथवा मित्रता के रूप धारण करके हमें मोहित कर सकती है और हम आसक्ति में फंस सकते हैं । हमें सदैव सतर्क रहना चाहिए ।

पृथ्वी पर मनुष्य का जीवन प्रलोभनों से परिपूर्ण है । तरह-तरह की लालसाएं, कामनाएं व वासनाएं उसे घेरे रहती हैं । प्रत्येक मनुष्य को इन प्रलोभनों से सतर्क रहकर सतत संघर्षरत रहना चाहिए जिससे वे हमारे मन पर अधिकार न जमा सकें । यदि हम मन के प्रशिक्षण और अनुशासन की तकनीक का विकास कर लेते हैं तथा उपस्थित परिस्थितियों से ऊपर उठने की इच्छा रखते हैं और धैर्य एवं विनम्रता का अभ्यास करते हैं तभी हम इस प्रकार के प्रलोभनों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं ।

आत्मबल से ही प्रलोभनों पर विजय प्राप्त होती है ।

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः
षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि।
यैरेव ससृजे घोर
तैरेव शान्तिरस्तु नः॥

(अथर्ववेद १९/९/५)

भावार्थ–मन की अवस्था इंद्रियों के बर्ताव के अनुरूप होती है । यह मनुष्य के हाथ की बात है कि इंद्रियों का चाहे सदुपयोग करे चाहे दुरुपयोग । इसलिए सदैव इंद्रियों की उत्तेजना से बचने का प्रयत्न करना चाहिए ।

संदेश–परमेश्वर ने यह मानव शरीर बहुत सोच-समझ कर बनाया है । इतना विलक्षण और परिपूर्ण शरीर किसी भी प्राणी का नहीं है । ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियों की इस प्रकार से रचना की गई है कि उनसे सुख, संतोष व आनंद की प्राप्ति के साथ साथ व्यक्तित्व के विकास में भी सहायता मिलती है ।

पर यह भोला भाला मूर्ख मनुष्य इंद्रियों के मायाजाल में फंसकर अपना सर्वनाश स्वयं ही कर लेता है । यह उसके हाथ में है कि वह अपने मन की लगाम को कसे रहे और इंद्रियों का सदुपयोग करते हुए आत्मिक सुख प्राप्त करे । पर वह तो उनके दुरुपयोग में ही अपनी बहादुरी समझता है । इंद्रियों का प्रलोभन उलटे हमारे मन को ही भ्रमित कर देता है । सबसे पहले यह मन को बुराई का परामर्श देता है । फिर यह कल्पना के रूप में व्यक्त होता है । कल्पना में निर्मित उस चित्र का अनुसरण करने से सुख मिलता है । फिर इस सुख का विचार मन को आंदोलित करता है, थोड़ी हलचल होती है और अंततः हम आत्मसमर्पण कर देते हैं तथा उस प्रलोभन के पीछे भागने लगते हैं ।

धीरे-धीरे मन का पतन होता जाता है । कुविचार और कुसंस्कार उस पर हावी होने लगते हैं जिससे वह इंद्रियों के प्रलोभन में और अधिक फंसता जाता है ।

इससे बचने का उपाय है कि वैराग्य और अभ्यास के द्वारा मन को सदैव इंद्रियों की उत्तेजना से बचाए रहना । इंद्रियों को नियंत्रण व संयम से उपयोग में लाया जाए तो मन उनसे अलिप्त रहेगा । यही पवित्र जीवन का अर्थ है । किसी भी जीव से मोह या आसक्ति न रखो । हमारा प्रिय तो केवल परमात्मा है । कई लोग, विशेषकर युवावर्ग, ईश्वर की सत्ता के प्रति शंकालु होते हैं । परंतु सत्य यही है कि परमात्मा ही एकमात्र वास्तविकता है । ईश्वर हमारे अंदर विद्यमान है पर हम उसके बारे में सचेत नहीं हैं । मानवता की यह महान त्रासदी है । मनुष्य जितना ही मन से पवित्र होता जाएगा, उतना ही वह अपने अंदर ईश्वर के मूर्त एवं विद्यमान रूप को देख सकेगा ।

मन को इंद्रियों के प्रलोभन से बचाए रखने का सबसे सरल उपाय यही है कि उसे ईश्वर भक्ति में लगाए रखा जाए । मानव को जीवन के कर्म करते हुए मन को उनसे अलिप्त रखना चाहिए और उसे लोकोपयोगी कार्यों में लगाए रखना चाहिए । यही सच्ची ईश्वर भक्ति है । एक बार स्वामी दयानंद से प्रश्न किया गया,'आपका भी तो हाड़ मांस का शरीर है । क्या कभी आपको कामवासना ने नहीं सताया ?' तो उन्होंने उत्तर दिया था, 'मुझे तो जीवन भर कामवासना के चिंतन का अवसर ही नहीं मिला ।' इस प्रकार अपने मन को प्रभु के कार्य में इतना अधिक संलग्न कर दो कि वासनाओं का विचार ही मन में न घुस सके ।

दृढ़ इच्छाशक्ति का यही सुफल है ।

पवित्रं ते विततंब्रह्मणस्पते
प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते
श्रतास इद्वहन्तः सं तदाशत ॥

(ऋग्वेद ९/८३/१; सामवेद ५६५)

भावार्थ–यह संसार शुभ मंगलदायक और मधुर पदार्थों से भरा पड़ा है किंतु वे मिलते उन्हीं को हैं जो तप के द्वारा उनका मूल्य चुकाने को तैयार रहते हैं । विवेकपूर्ण तप से विद्या, धन आदि की प्राप्ति होती है ।

संदेश–सृष्टि रचना में परमेश्वर ने जिस कौशल का परिचय दिया है उसके हजारवें-लाखवें भाग की भी हम कल्पना नहीं कर सकते । जीव-जंतुओं की चौरासी लाख योनियों के लिए हर प्रकार के पदार्थों से यह संसार पटा पड़ा है । वनस्पतियां, औषधियां, धन, धान्य, हीरे, मोती सभी कुछ हैं जो प्राणि जगत के लिए शुभ एवं मधुर फलदायक हैं ।

जिस प्रकार ईश्वर सर्वत्र व्यापक है, उसका प्रकाश चारों ओर फैल रहा है, उसी की ज्योति से सूर्य-चंद्र आदि चमक रहे हैं, उसी प्रकार प्रभु की महान सत्ता अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ प्रत्येक जीवन के रोम-रोम में व्याप्त है । फिर भी उसकी कृपा सहज ही प्राप्त नहीं हो पाती । चारों ओर हर प्रकार के मंगलदायक पदार्थों के रहते हुए भी मनुष्य हर समय अभावग्रस्त ही दिखाई देता है, परमात्मा की कृपा के आनंद रस से वह वंचित है, जल में रहकर भी प्यासा है । इसका कारण यही है कि उसने तपस्या के द्वारा अपनी पात्रता विकसित नहीं की है । उसका मन दोष-दुर्गुणों से भरा हुआ है । चारों ओर से कषाय-कल्मष उसे घेरे हुए हैं ।

अज्ञान के अंधकार में, कूप-मंडूक के समान संकुचित क्षेत्र से बाहर देखने की उसमें न तो सामर्थ्य है और न ही उत्साह । ब्रह्मचर्य, व्यायाम, आसन, प्राणायाम, संयम, योग, मनोयोग, एकाग्रता आदि में उसका मन ही नहीं लगता । वह तो हर समय इंद्रिय लोलुपता के जाल में ही उलझा रहता है ।

जीवन में कुछ पाने के लिए तप सबसे आवश्यक है । तप का अर्थ अकारण ही अपने शरीर को कष्ट देकर सुखा देना नहीं है, अपितु जीवन पथ पर आने वाली कठिनाइयों से विचलित हुए बिना अपनी पूरी क्षमता व प्रतिभा से उन्हें पार कर लेना ही है । इस निमित्त किए गए पुरुषार्थ को ही तपस्या कहते हैं । परमात्मा कठोर परिश्रम करने वाले की ही सहायता करता है और उसे हर प्रकार के धन-धान्य के अनुदान-वरदान प्रदान करता है ।

वेद का निर्देश है कि तपस्या के द्वारा विद्या और धन को प्राप्त करो । तप करने के लिए तो दृढ़ आत्मबल की आवश्यकता होती ही है । इसी से मनुष्य संयमपूर्वक इंद्रियों के प्रलोभनों से बचकर एकाग्रतापूर्वक सत्य मार्ग पर चल सकता है । इंद्रियों के प्रलोभन से भी बढ़कर धन की लालसा होती है । मनुष्य किसी भी प्रकार से अधिकाधिक धन कमाने के चक्कर में रहता है और उसके लिए नीति-अनीति, उचित-अनुचित कुछ भी नहीं देखता । परंतु जब वह तप के द्वारा अपने मन को पवित्र करके ईश्वरीय ज्ञान को प्राप्त कर लेता है तो वह विवेकपूर्ण आचरण ही करता है और ईमानदारी से धन कमाने का ही पुरुषार्थ करता है ।

ईमानदारी के लिए प्रचंड इच्छाशक्ति की आवश्यकता है और वही हमें जीवन में सफलता के मार्ग पर ले जाने में सक्षम है ।

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥

(यजुर्वेद ४०/१)

भावार्थ—इस संसार में सर्वत्र परमात्मा की सत्ता समाई हुई है । यह जानकर जो दूसरों के धन का अपहरण नहीं करता वह धर्मात्मा पुरुष इस लोक में सुख और परलोक में मोक्ष प्राप्त करता है ।

संदेश—यह सारा संसार ईश्वर से आच्छादित है । वह सर्वत्र कण-कण में व्याप्त है । समस्त जीव जंतु उसी की ऊर्जा से गतिशील रहते हैं । संसार के सभी भोग्य पदार्थ, धन-धान्य उसी की कृपा से उत्पन्न होते हैं । परंतु यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि मनुष्य इस सत्य को पहचानने से ही इनकार कर देता है । संसार में जो कुछ भी है उस पर अपना सर्वाधिकार समझकर स्वयं ही भोग करने में रत रहता है । यह सही है कि ईश्वर ने उसीके लिए संसार में सब कुछ उत्पन्न किया है परंतु उसे त्यागपूर्वक भोग करने का निर्देश भी दिया है । केवल अपनी आवश्यकता के अनुरूप ही लो और शेष अन्य प्राणियों के उपयोग के लिए छोड़ दो । इसी में उसका कल्याण है ।

'कस्य स्वित् धनम्' यह धन किसका है ? हम इस मूल प्रश्न को भूल जाते हैं । यह सारा वैभव, संपत्ति, मकान, बंगले, भूमि, खेत, बाग, किसी के नहीं है, अपितु ये तो उसी के हैं जो प्रजा का पालन करता है । यह सबकुछ समाज का है, राष्ट्र का है और ईश्वर का है जो सदा से है, सदा रहता है और सदा रहेगा । हम तो कुछ समय के लिए ही इस मानव योनि में यहां आए हैं और सांसारिक सुखों को भोगकर अपने कर्मों के अनुसार अगली यात्रा पर प्रस्थान कर जाएंगे । न तो

यह धन हमारे साथ आया था और न ही हमारे साथ जाएगा । फिर यह लोभ-लालच की प्रवृत्ति किसलिए ? दूसरों का धन हड़प लेने की योजनाएं क्यों ? संसार की समस्त धन संपत्ति पर अपना अधिकार जमाने की लालसा क्यों ? यह सब केवल इसी भ्रम का परिणाम हैं कि हम धन को अपना समझते हैं और यह भूल जाते हैं कि वह तो परमपिता परमेश्वर का है । हमें तो केवल उसके सीमित उपभोग का ही अधिकार मिला है ।

इसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य धन कमाने का प्रयास ही न करे । वरन वेद तो यह कहता है कि उसे अधिकाधिक तप, श्रम व पुरुषार्थ से धन उपार्जन करना चाहिए । परंतु साथ ही उसे हर समय यह ध्यान भी रखना चाहिए कि सारा धन परमपिता परमेश्वर का ही है । उसमें से अपनी ब्राह्मणोचित आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए शेष को समाज के कल्याण हेतु समर्पित कर देना चाहिए । प्राप्त धन का त्यागपूर्वक भोग करना चाहिए । पहले त्याग की बात सोचें, दूसरों के भले का विचार करें और उसके बाद अपने उपभोग की । पर हम उलटी बातें ही करते हैं और जो कुछ भी है उसे अपने उपभोग में लाने की योजनाओं में उलझ जाते हैं । दूसरों के बारे में सोचने का फिर अवसर ही नहीं रह जाता और यही संसार की सभी विपदाओं की जड़ है । जो इस तथ्य को समझ लेता है उसके माया मोह के बंधन स्वतः ही कट जाते हैं । आत्मवत सर्वभूतेषु की भावना से वह सभी प्राणियों में अपनी ही आत्मा का दर्शन करने लगता है तथा पहले उनके सुख की बात ही सोचता है ।

धन के इस स्वरूप को पहचान लेने से ही मानव जीवन सुख एवं शांतिपूर्ण बन सकता है ।

अग्निना रयिमश्नवत पोषमेव दिवेदिवे ।
यशसं वीरवत्तमम् ॥

(ऋग्वेद १/१/३)

भावार्थ–हम ईश्वर के बनाए नियमों से ही धन कमाएं । बेइमानी का धन हमसे दूर रहे । अनुचित रीति से कमाया धन हम न रखें । धर्म से कमाओ और धर्म में खर्च करो ।

संदेश–वेद ने मनुष्य को लोभ से परे रहने का उपदेश दिया है । प्रश्न यह है कि लोभ क्या है ? लोभ इसी का नाम है कि व्यक्ति अधिक से अधिक धन प्राप्त कर लेने पर भी संतुष्ट नहीं होता । लोभ के अनेक रूप हैं । अपने स्वास्थ्य का नाश करके धन प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते रहना भी लोभ है । परिवार व बच्चों की उपेक्षा करते हुए धन कमाने में लगे रहना भी लोभ है । धोखा देकर, चोरी, घूसखोरी, कर चोरी, भ्रष्टाचार आदि से धन कमाना भी लोभ है । दहेज प्रथा भी लोभ का ही रूप है । धन कमाने के ये सारे तरीके बेइमानी के हैं ओर हमारी आत्मा को पतित करते हैं । मनुष्य लोभ-लालच में पड़कर अनुचित और पापकर्मों से धन कमाते हैं जो कि सर्वत्र निंदनीय है ।

इस संसार में सर्वत्र अर्थ की प्रधानता है । जीवन में प्रत्येक कार्य के लिए धन आवश्यक है । छोटा काम हो या बड़ा, धर्म हो या राजनीति, साधना हो या अनुष्ठान, सभी के लिए धन की आवश्यकता होती है । अतएव वेदों ने धन संग्रह को भी एक आवश्यक कर्तव्य बताया है और सर्वत्र पुरुषार्थ से अधिकाधिक धन कमाने की सराहना की है । इससे उसको ऐश्वर्य और श्रीवृद्धि का वरदान मिलता है । श्रीवृद्धि और सौभाग्य के लिए ज्ञान और दक्षता आवश्यक गुण हैं । ज्ञान

के द्वारा मार्गदर्शन होता है और दक्षता से धन की प्राप्ति या पुष्टता । दक्षता किसी विशिष्ट कार्य में अनुभवजन्य कुशलता को कहते हैं । यह कुशलता ही समृद्धि का मार्ग प्रशस्त करती है । मनुष्य जीवन में ईश्वर के बाद चरित्र का और फिर धन का स्थान है ।

पर मनुष्य की धन से कभी तृप्ति नहीं होती । इसी तृष्णा को लोभ भी कहते हैं । यह एक बहुत बड़ा विकार है । लोभ मनुष्य की बुद्धि को अज्ञानरूपी अंधकार से ढांप देता है । उसकी बुद्धि अज्ञान से ढंक जाती है तो वह अमानवीय कर्म करने में भी किसी प्रकार की लज्जा अनुभव नहीं करता । निर्लज्ज बनकर वह अपने धर्म की हानि कर लेता है । इस प्रकार वह धन, धर्म और सुख तीनों को नष्ट कर देता है । लोभ और घूस आदि से अनीतिपूर्वक कमाया हुआ धन मन को अशांत और बेचैन रखता है और बेकार ही नष्ट हो जाता है । ऐसा घर और परिवार बुरे कार्यों में ही बरबाद हो जाता है तथा मनुष्य का नैतिक पतन होता है ।

इसी से वेद ने यह निर्देश दिया है कि मनुष्य को धर्मानुसार आचरण करते हुए ही पुरुषार्थ करके अधिक से अधिक धन कमाने का प्रयास करना चाहिए । ऐसा धन पवित्र होता है और सुख, शांति व संतोष प्रदान करता है । मनुष्य ऐसे धन को अकारण बरबाद भी नहीं करता और स्वयं अपनी आवश्यकता पूर्ति के पश्चात शेष धन को समाज के उत्थान में व्यय करके आनंदित होता है । जन सामान्य का उस धन से उत्कर्ष होते देखकर वह मन ही मन प्रफुल्लित होता है । वह पवित्र धन लोगों में सात्विकता का विकास करता है तथा सबको सत्याचरण में प्रेरित करता है ।

ईमानदारी की कमाई ही शुभ फलदायक होती है ।

अस्मभ्यं तद्वसो दानाय राधः
समर्थयस्व बहु ते वसव्यम्।
इन्द्र यच्चित्रं श्रवस्या अनु
द्यून्बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥
(ऋग्वेद २/१३/१३)

भावार्थ–*न्याय और परिश्रम की कमाई ही मनुष्य को सुख देती, फलती-फूलती और मन को प्रसन्न रखती है। इससे आत्मा निर्मल व पवित्र रहता है, पौरुष बढ़ता है और सत्कर्मों की प्रेरणा मिलती है। चोरी, छल व कपट से कमाया हुआ धन सदैव दुख देता है।*

संदेश–जीवन में धन के महत्व से इनकार नहीं किया जा सकता। एक निश्चित सीमा के अंदर वह मनुष्य और समाज के विकास के लिए आवश्यक है, पर सीमा का अतिक्रमण होने पर वह 'अर्थ' से 'अनर्थ' बन जाता है और विकास के स्थान पर विनाश का, शोषण और संघर्ष का कारण बनता है। धन जब तक धर्म की सीमा में रहता है उसे 'अर्थ' कहते हैं और अधर्म के क्षेत्र में पहुंचते ही वह 'अनर्थ' बन जाता है।

यह सत्य है कि आज हम भौतिक विकास के जिस स्तर पर हैं वह अद्वितीय है और इसका प्रमुख आधार धन ही है। आजकल धन का जितना महत्व है पहले कभी भी नहीं था। प्राचीनकाल में अध्यात्मवाद को ही प्राथमिकता दी जाती थी और अर्थोपार्जन दूसरे नंबर पर रहता था। आज तो बिल्कुल ही उलटा चल रहा है। लोग धन कमाने के पीछे बुरी तरह से पागल हो रहे हैं और अध्यात्म को भूल गए हैं। पूजा पाठ का ढोंग या दिखावा करने तक का समय नहीं मिलता, वास्तविक उपासना या साधना की तो बात ही छोड़ दें।

भौतिकवाद ही समाज का जीवन दर्शन बन गया है ।

अध्यात्म और भौतिकता दोनों ही समाज के लिए आवश्यक हैं और दोनों में उचित सामंजस्य व संतुलन भी होना चाहिए । प्राचीनकाल में कुछ लोग अध्यात्म को ही सर्वस्व मानते थे । अध्यात्म की एकपक्षीय प्रगति से समाज को कभी भी कोई हानि नहीं हुई । केवल मनुष्य कुछ भौतिक सुविधाओं के उपभोग से ही वंचित रहा । आज भौतिकता के एकांगी विकास से हित के स्थान पर अहित ही अधिक हुआ है । समाज में जो भी अव्यवस्था और अराजकता है उसके मूल में अर्थप्रधान दृष्टिकोण ही है । चोरी, डकैती, बेइमानी, झूठ, फरेब, आदि के द्वारा कमाया हुआ धन मनुष्य को हर प्रकार से बरबाद ही करता है । सर्वप्रथम तो मानसिक शांति समाप्त हो जाती है । अनीति व अन्याय से प्राप्त की हुई लक्ष्मी उसके जीवन रस को चूस लेती है ।

वर्तमान अर्थव्यवस्था नीति-अनीति में भेद नहीं करती और वैध-अवैध किसी भी प्रकार से धन संग्रह पर ही बल देती है । यही सभी सांसारिक विपत्तियों का मूल कारण है । न तो हम भौतिक प्रगति की उपेक्षा कर सकते हैं और न ही आध्यात्मिकता को नकार सकते हैं । दोनों को मिलाकर एक समन्वित दृष्टिकोण पैदा करना पड़ेगा । नैतिक और अनैतिक अर्थ-स्रोतों में स्पष्ट विभेद करना होगा । अवैध रूप से कमाए हुए धन की निंदा-भर्त्सना करनी होगी और न्याय मार्ग की सराहना ।

उचित रूप से परिश्रमपूर्वक अर्जित धन मनुष्य को सुख, शांति व संतोष प्रदान करता है, उसके आत्मबल को बढ़ाता है, आत्मा को शुद्ध, पवित्र और निर्मल बनाता है । इसीसे समाज में दिव्य वातावरण बनता है ।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि
देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥

(ऋग्वेद १/१८९/१)

भावार्थ–हम कुटिल कुटेवों को त्यागकर सदैव अच्छे मार्ग पर चलकर धन धान्य की प्राप्ति करें ।

संदेश–'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तता', संसार में मनुष्य के सामने श्रेय मार्ग और प्रेय मार्ग दोनों ही खुले हुए हैं और यह उसके ऊपर है कि वह किस मार्ग का अनुसरण करे । ईमानदारी के सत्यमार्ग पर चले जो भले ही कठिनाइयों से भरा हो पर श्रेय को देने वाला हो या प्रिय लगने वाले अधोपतन के मार्ग पर चले । धनोपार्जन के क्षेत्र में तो यह निर्णय करना अत्यंत आवश्यक है । आज हर कोई एक दूसरे से अधिक धन कमाने की स्पर्द्धा में लगा है । वर्तमान भ्रष्टाचार का यही मुख्य कारण है । आर्थिक अपराधों में द्रुतगति से बढ़ोतरी इसी से हो रही है ।

आज जो भौतिकता का अर्थशास्त्र हम पर हावी है उसके मुख्य आधार हैं–इच्छा, आवश्यकता और मांग । इच्छाओं की पूर्ति कर पाना तो असंभव है क्योंकि इच्छा की कोई सीमा नहीं होती । इच्छा बढ़ने से आवश्यकता अपने आप बढ़ जाती है और फिर मांग अधिक होने से छीना झपटी, लूट खसोट की स्थिति आ जाती है । आज का मनुष्य अपनी सुविधा, आसक्ति, विलासिता और प्रतिष्ठा के लिए कुछ भी करने को तैयार है । दूसरों का कितना अहित हो रहा है, देश की कितनी हानि हो रही है, यह सब देखने का उसके पास समय

ही नहीं है । अपनी जरूरत से अधिक धन संग्रह करके मनुष्य फिर विलासिता की ओर भागता है जो न तो उसकी आवश्यकता है और न ही अनिवार्यता । यह केवल भोगवृत्ति का उच्छृंखल स्वरूप है जो मनुष्य को अंततः पतन के गर्त में ढकेल देता है ।

आज की दुनिया की सबसे बड़ी आवश्यकता यही है कि लोगों को यह समझाया जाए कि जिस संपदा के तुम पुजारी बने बैठे हो वह संपदा ही तुम्हें दुखी कर रही है और आगे इससे भी अधिक दुख के सागर में डुबो देगी । नाना प्रकार के दुखों, झगड़ों और आपत्तियों से यदि बचना है तो मनुष्य को पहले तत्वज्ञान प्राप्त करना होगा । तत्वज्ञान से ही मनुष्य में मनोनिग्रह एवं इंद्रिय संयम का आत्मबल जागृत होता है । तभी वह अपनी इच्छाओं, कामनाओं और लालसाओं पर उचित नियंत्रण रखने में समर्थ हो सकता है । इस प्रकार वह उचित पुरुषार्थ करते हुए ईमानदारी से जो धन कमाता है वह शुभ फलदायक होता है । 'पोषमेव दिवे दिवे', यह धन पोषण करता है और आत्मशक्ति को बढ़ाता है । ऐसा धन मन को प्रसन्नता प्रदान करता है और व्यक्तित्व का विकास करता है ।

अग्नि के समान हमें सदैव अपनी पापवृत्तियों को जलाते हुए उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होना चाहिए और धर्मानुसार कमाए हुए धन पर ही संतोष करना चाहिए । अग्नि की ज्वाला सदैव ऊपर की ओर ही जाती है । कितनी ही प्रचंड आंधी या तूफान हो, वह ऊर्ध्वगति को छोड़कर नीचे को नहीं जाती, भले ही उसका अस्तित्व समाप्त हो जाए । इसी प्रकार दृढ़ आत्मशक्ति का व्यक्ति टूट भले ही जाए पर अनीति के आगे झुकता नहीं है । कोई भी प्रलोभन उसे ईमानदारी के मार्ग से डिगाने में समर्थ नहीं होता ।

शतहस्त समाहर सहस्त्रहस्त सं किर।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥

(अथर्ववेद ३/२४/५)

भावार्थ–अपने अध्यवसाय और दूसरों से सलाह लेकर हे मनुष्यो ! सैकड़ों हाथों से खूब धन कमाओ और हजारों हाथों से उसे उत्तम कार्यों में प्रसारित करो । इससे सदैव तुम्हारी उन्नति बनी रहेगी ।

संदेश–धनोपार्जन की महत्ता को वेद ने भी स्वीकार किया है । मनुष्य केवल अपने दो हाथों से एकाकी ही कार्य न करे वरन समाज के अन्य वर्गों का भी सहयोग लेकर सैकड़ों हाथों से कमाए । उसे अपनी सारी प्रतिभा, क्षमता और पुरुषार्थ अधिकाधिक धन कमाने में लगाना चाहिए ।

किसलिए यह सब करें ? क्या स्वयं अपने उपभोग के लिए ? नहीं ! संसार में जो भी धन संपत्ति है वह सब प्रजापति की है, परमपिता परमेश्वर की है । हमारे अध्यवसाय और पुरुषार्थ से जो हमें प्राप्ति होती है वह भी उस भगवान की ही है । उसी ने कृपापूर्वक हमें उसका ट्रस्टी नियुक्त किया है । अपनी उचित आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त हमें अधिक लेने का कोई अधिकार नहीं है । वह सब धन हमें पुनः समाज में वापस पहुंचा देना चाहिए । हजार हाथों से उसे लोकहित के उत्तम कार्यों में व्यय कर देना चाहिए । कमाया हुआ धन तो थोड़े समय तक ही हमें लाभ देता है पर दान देने से जो यश प्राप्त होता है वह जन्म जन्मांतरों तक सुख प्रदान करने में समर्थ होता है । जिस प्रकार खेत में बोने से एक दाना हजार दानों के रूप में हमें प्राप्त होता है उसी प्रकार शुभ कार्यों हेतु दिया गया दान असंख्य गुना

बढ़कर हमें यश व सौभाग्य प्रदान करता है ।

शास्त्रों में धन के प्रयोग के बारे में स्पष्ट रूप से कहा है 'धर्माय यशसेऽर्थाय आत्मने स्वजनाय च' । जो धन ईमानदारी से कमाया है उसके पांच भाग कर दो-धर्म के लिए, यश के लिए, अर्थ के लिए, स्वयं के लिए और स्वजनों के लिए । सबसे पहले धर्म का भाग निकालना होता है । धर्म के लिए दान का अर्थ है-गुप्तदान । किसी को पता भी न चले और शुभ कार्य हेतु उचित पात्र को दे दें । यश के लिए दान का अर्थ है अस्पताल बनवाना, धर्मशाला बनवाना, छात्रवृत्ति देना, पेड़ लगवाना आदि । दुर्घटना या दैवी विपदा में लोगों की जी जान से सहायता करना । तीसरा भाग अर्थ के लिए है अर्थात अर्थोपार्जन में, धन को बढ़ाने में उसे काम-धंधे में लगाना, व्यापार में, खेती-बाड़ी में लगाना । चौथा भाग स्वयं अपने लिए व पांचवा भाग स्वजन-संबंधियों के लिए है । इसी से रोटी-कपड़ा-मकान की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करें और सुख सुविधा के सरंजाम भी जुटाएं ।

इस प्रकार शास्त्रों ने दान को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है । इसी से परमेश्वर के अनुदान वरदान की हम पर सतत वर्षा होती रहती है । दान से सभी प्राणी वश में हो जाते हैं और शत्रुता का भी नाश हो जाता है । धन, ज्ञान, शक्ति, प्रसन्नता जो भी संभव हो दूसरों में बांटते रहो । मनुष्य के पास देने को कितना कुछ है-प्रेम का सागर है, हंसी के फूल हैं । इन्हें भी बांटो, स्वयं खिलो और दूसरों को भी खिलाते चलो ।

मनुष्य को ईमानदारी और पुरुषार्थ से यथासंभव कमाना चाहिए और सत्कार्यों में उसका उपयोग करना चाहिए ।

यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय ।
स्तोतारमिद्दिधिषेय रदावसो न पापत्वाय रासीय ॥

(ऋग्वेद ७/३२/१८)

भावार्थ–उचित रीति से कमाया धन, सत्कार्यों में लगाने से सद्‌गति प्रदान करता है । जो उसे पाप के कामों में लगाता है उसका नाश हो जाता है ।

संदेश–धन का महत्व सर्वत्र है । राजा-रंक, अमीर-गरीब, भोगी-योगी, किसी का भी काम धन के अभाव में नहीं चल सकता । इस धन मूलक संसार में हर कोई धन देवता की उपासना में ही व्यस्त है । धन-अर्जन के उपाय तो करने ही चाहिए परंतु उपाय ऐसे होने चाहिए जिनको प्रयोग में लाने से श्रेष्ठ पुरुषों में निंदा और अपयश न हो, अपितु शुद्ध कमाई हो ।

सांसारिक व्यवहार चलाने के लिए तो निःसंदेह धन आवश्यक पदार्थ है । इसका तिरस्कार करना सर्वथा असंभव है । जैसे अपने वास्तविक उद्देश्य को पाने के लिए शरीर रक्षा आवश्यक है, वैसे ही धन भी जरूरी है । परंतु मानव जीवन का यह अंतिम ध्येय तो नहीं है । आज हमारी समस्त परेशानियों का कारण यही है कि हमने धन को ही सबकुछ समझ लिया है । उसके आगे हमें कुछ भी दिखाई नहीं देता । 'बाप बड़ा न भइया, सबसे बड़ा रुपइया' वाली उक्ति हो रही है । यही क्यों, धन तो अब भगवान से भी बड़ा हो गया है । लोग धन कमाने के आगे भगवान का ध्यान ही नहीं करते पर यदि कभी उनके धनोपार्जन के कार्य में बाधा, व्यवधान या हानि हो जाती है तो भगवान को गालियां अवश्य देते हैं । ऐसा लगता है कि भगवान पर उनके अनैतिक कार्यों में सहयोग देने तथा धन की रक्षा करने का

दायित्व है जिसमें वह असफल हो गया । धन को ही सब कुछ समझने वाले एकांगी चिंतन से अपने धनी बनने की उलटी-सीधी कल्पनाएं करते रहते हैं पर उस अनुचित तरीके से समाज का कितना अहित होता है, इस पर जरा भी विचार नहीं करते । उन्हें तो केवल अपना स्वार्थ ही दिखाई देता है । किसी भी प्रकार उन्हें अधिकाधिक धन कमाना है, सोने की लंका बनानी है फिर भले ही अपने अनैतिक आचरणों के फलस्वरूप उसके साथ वह स्वयं भी भस्म हो जाएं ।

'सर्वेगुणाः काञ्चनमाश्रयंति'-संसार के सभी गुण सोने (धन) में छिपे हैं । पर इसके साथ ही धन से काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि अनेकानेक दुर्गुण भी जन्म लेते हैं । परंतु जब धन ईमानदारी से कमाया जाता है तो इस 'पसीने की कमाई' में एक सुगंध होती है ओर ऐसा धन सत्कर्मों में लगाने से मनुष्य यशस्वी बनता है । मेहनत से कमाया हुआ धन मनुष्य कभी भी कुमार्ग पर व्यय नहीं करता पर अनीति से जो धन आता है उसे जहां कहीं भी बरबाद कर देने में उसे जरा भी दर्द नहीं होता । 'माले मुफ्त, दिले बेरहम' की भावना हो जाती है और जुआ, शराब आदि अनेकानेक व्यसन उसे अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं । अनाचार, व्यभिचार, भ्रष्टाचार में उसका दुरुपयोग होने लगता है । पापकर्मों की एक शृंखला चल पड़ती है और मनुष्य उसमें इस प्रकार जकड़ता चला जाता है कि फिर चाह कर भी उससे पीछा छुड़ाना मुश्किल हो जाता है । तमोगुणी और रजोगुणी विचार उसे घेरे रहते हैं तथा वह आत्मकल्याण और जन कल्याण के बारे में सोच भी नहीं पाता ।

ईमानदारी से कमाया हुआ धन सात्विक बुद्धि का विकास करता है और मनुष्य को लोकहित में धर्मानुसार आचरण की प्रेरणा देता है ।

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं
ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः ।
उतो रयिः पृणतो नोप
दस्यत्थुतापृणन्मर्डितारं न विन्दते ॥

(ऋग्वेद १०/११७/१)

भावार्थ–धन की उपयोगिता दुखियों के अभाव दूर करने से है इसलिए उसे सदैव चलते रहना चाहिए । अदानी, कंजूस, संग्रह वृत्ति के मनुष्य सदैव कष्ट ही पाते हैं । भय और आशंका बनी रहती है इसलिए अपनी आवश्यकताओं से बचा हुआ धन समाज को दे देना चाहिए ।

संदेश–परमेश्वर ने मनुष्य को क्षुधा क्या दी है उसे मौत दे दी है । भूख, भूख और हर समय भूख । न जाने कितने प्रकार की भूख उसे सताती रहती है । पेट भरने को भोजन ही नहीं, धन-दौलत की भूख, पद-प्रतिष्ठा की भूख, इंद्रियों की भूख, अहंकार की भूख उसकी मिटती ही नहीं । संसार में जो कुछ भी है उसे वह अपने अधिकार में रखने को व्याकुल रहता है । इस प्रकार संग्रह वृत्ति के स्वार्थी व्यक्ति सदैव कष्ट पाते हैं । धन के कमाने में, कमाकर उसे बढ़ाने में, फिर उसकी रक्षा और व्यय करने में, नाश और उपभोग में मनुष्य को बड़ा भारी परिश्रम करना पड़ता है । हर किसी से भय, चिंता और भ्रम होता है । धन के कमाने में दुख, कमाकर उसकी रक्षा करने में दुख, धन का नाश हो जाए तो दुख, खर्च हो जाए तो दुख । हर प्रकार से यह दुख का ही कारण बनता है ।

धन की उपयोगिता संग्रह में नहीं उसके सदुपयोग में है । अपनी क्षुधा को शांत करके शेष समाज को अर्पण कर देने में ही धन की

सार्थकता है । त्यागपूर्वक भोग करने का वेद का आदेश है । पहले दूसरों को खिलाकर फिर स्वयं खाओ । जिसके पास है उसे जरूरतमंद लोगों को देना चाहिए । हम अकेले नहीं हैं वरन हमारा जीवन समस्त जनसमाज के साथ जुड़ा हुआ है । हमारे ऊपर समाज़ का, राष्ट्र का एक ऋण है जो हमें चुकाना है । यदि हम इस तत्व को समझ जाएं तो हमारे मन से यह भय समाप्त हो जाएगा कि दूसरों को दान देने से धन घट जाता है । हम जिस पात्र को धन देते हैं वह हमारा ही अंश है, 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' । उस दान से जो एक आवश्यकता पूरी होती है उससे हमारी उन्नति होती है जो अंततः हमारे वैयक्तिक सुख को बढ़ाती है तथा धन की भी वृद्धि करती है । जो व्यक्ति दूसरों को जरूरत के समय सहायता करता है उसे भी जरूरत पड़ने पर उदारतापूर्वक ईश्वरीय सहयोग प्राप्त होता है ।

कृपण, कंजूस व्यक्ति सदा समाज से कटे हुए एकाकी रहते हैं । उनका न तो कोई मित्र होता है और न ही कोई उन्हें सहायता देने को तत्पर होता है । मनुष्य धन के संग्रह में लगा रहता है पर वह जीवन के लिए इतना आवश्यक नहीं है । मुख्य तत्व तो हैं ज्ञान, बल, सुख, सौहार्द्र, प्रेम आदि । यद्यपि यह सत्य है कि संसार में भूखे और पेट भरे दोनों की ही समय पर मृत्यु होती है । दान देने वाले और न देने वाले दोनों का ही अंत होता है । पर भेद यह है कि दान देने वाले को तो अमूल्य जीवनदायी संपत्तियां मिलती हैं और उसका धन भी नहीं घटता जबकि न देने वाला व्यक्ति इन सबसे वंचित होकर, सुखहीन, मुर्दा सा, संकुचित जीवन बिताता है ।

दान वही दे सकता है जिसमें पवित्र आत्मबल हो ।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः
सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं
केवलाघो भवति केवलादी ॥

(ऋग्वेद १०/११७/६)

भावार्थ–दुर्बुद्धि मनुष्य के पास धन संग्रह न होने पावे । इससे वह अपने साथियों का हित नहीं करता । जो इस प्रकार अकेला भोग भोगता है वह निश्चय ही चोर है, पाप भोगता है ।

संदेश–धन से मन में लोभ, मोह, मद और अहंकार की भावना का जन्म होता है । बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति भी इसके चंगुल में फंस जाता है फिर दुर्बुद्धि व्यक्तियों की क्या बात है । वे तो धन पाकर पागल हो उठते हैं और उचित-अनुचित का विचार किए बिना ही भोग विलास में लिप्त हो जाते हैं । संसार में चारों ओर अनेक पापबुद्धि व्यक्ति दिखाई देते हैं जिनके पास अन्न, धन एवं नाना प्रकार की भोग सामग्री के भंडार भरे हैं । प्रत्यक्ष वे बहुत धनी और सुखी दिखाई देते हैं, पर क्या वास्तव में ऐसा होता है ? नहीं, ऐसा नहीं है । ये सारी भोग सामग्री वे भोग नहीं पाते, उलटे वह ही भोगकर उनका भक्षण कर डालती है । यह सारी की सारी धन-संपदा वास्तव में सुंदर मनोहर रूप रखकर आया हुआ उनका काल ही है । पापी, दुर्बुद्धि व्यक्ति के पास एकत्र हुआ सांसारिक भोग का सामान उसकी मृत्यु के समान ही है ।

ऐसा व्यक्ति उस धन का सदुपयोग करने में सर्वथा असमर्थ होता है । सारे धन को वह अपनी देह के पोषण में तथा विलासिता में व्यय करता है । यज्ञीय भावना का उसमें पूर्ण रूपेण अभाव होता है । न तो वह उस धन से प्राणि जगत के पोषण का कार्य करता है और न ही

किसी पारमार्थिक आयोजन में व्यय करता है । यदि वह यज्ञादि कर्म से संसार का उपकार करते हुए यज्ञ-शेष का उपयोग करता तो वही धन संपत्ति उसके लिए अमृत के समान पवित्र और पुण्य फलदायक हो जाती । समाज में व्याप्त कुरीतियों एवं कुप्रथाओं का जन्म पापकर्मों से अर्जित व संग्रहीत धन से ही होता है । इससे लोगों में अपराधिक प्रवृत्ति भी बढ़ती है, अनाचार व दुराचार को बढ़ावा मिलता है तथा अराजकता फैलती है ।

अकेला भोगने वाला, औरों को खिलाए बिना स्वयं अकेला खाने वाला केवल पाप को ही भोगता है । जब चारों ओर असंख्य व्यक्ति ऐसे हैं जिन्हें एक वक्त की रोटी भी नहीं मिल रही, भूखे-नंगे झोंपड़ों में पड़े यातनाएं भुगत रहे हों तो उनके बीच हलुआ पूरी खाने वाले और विलासिता का जीवन जीने वाले व्यक्ति से बढ़कर पापी और कौन हो सकता है । ऐसा व्यक्ति बाहर से देखने पर तो बहुत सुखी और मजे में दिखाई देता है परंतु ध्यान से देखें तो वह केवल अपने पाप को ही भोगता है, शुद्ध पाप का भागी बनता है और अयज्ञ के भारी पाप बोझ को अकेला ही उठाए फिरता है । संसार में जरूरत पड़ने पर कोई भी उसकी सहायता नहीं करता और वह समाज से कटा हुआ एकाकी जीवन बिताता है ।

शरीर, मन और आत्मा को पुष्ट करने वाले सच्चे भोजन (धन) में और शीघ्र विनाश को पहुंचा देने वाले पापमय भोजन (धन) में भेद कर सकने की विवेक बुद्धि हमें आनी चाहिए । पाप से सना हुआ हलुआ पूरी खाने की अपेक्षा रूखा-सूखा खाना या भूखा रहना हजार गुना श्रेष्ठ होता है ।

वही धन मौत भी हो सकता है और अमृत भी ।

मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः ।
मान्त स्थुर्नो अरातयः ॥

(ऋग्वेद १०/५७/१; अथर्ववेद १३/१/५९)

भावार्थ–धन से प्रायः लोगों को प्रमाद हो जाता है जिससे लोग कुमार्गगामी हो जाते हैं । इसलिए धन प्राप्त करें पर कभी उन्मत्त न हों और दानशील बनें ।

संदेश–समाज की उन्नति लोगों के सन्मार्ग पर चलने से ही होती है । असत मार्ग सदा पतन का कारण बनता है । सन्मार्ग को अपनाने से समाज में नैतिकता, पवित्रता और शुद्धता आती है । समाज में यदि अशुद्धि और अनैतिकता होगी तो वह जन साधारण तक पहुंचकर आंतरिक दोष उत्पन्न करेगी, अतः कभी भी असत मार्ग को प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए ।

समाज के जो शत्रु हैं वे मुख्य रूप से शोषकवर्ग एवं स्वार्थीवर्ग में ही आते हैं । ये तत्व समाज को अंदर से खोखला करते रहते हैं । समाज के इन शत्रुओं को शीघ्रातिशीघ्र निकाल बाहर करना चाहिए । समाज में सभी लोग ईश्वर के दिव्य गुणों को अंगीकार करते हुए सन्मार्ग पर चलें और यज्ञीय भावना से सबके उपकार के लिए पुरुषार्थ करते रहें । हानिकारक दुखदायी पापकर्मों से अपने को बचाए रखें तथा धर्म पालन व पुण्य संचय के सर्वसुलभ लाभकारी मार्ग पर बढ़ते रहें ।

ऐसे पुरुषार्थी व संयमी जीवन से जो अनुदान वरदान प्राप्त हों उन्हें ईश्वर की कृपा समझकर रखें और अहंकार न करें । सब कुछ ईश्वर का है । हम तो उसके चाकर मात्र हैं । उसने जिस कार्य के लिए हमें नियुक्त किया है, उसे पूरे मनोयोग से हमने किया है । फलतः उसने जो कुछ हमें दिया है वह भी उसी का है । जब हम उस धन को

अपना समझने की भूल करते हैं तभी मन में अहंकार आता है जो वास्तव में हमारी क्षुद्रता को ही प्रकट करता है ।

हम जो भी कमाते हैं उसका एक अंश धर्म के लिए और एक यश के लिए दान करने का विधान है । 'धर्माय यशसेऽर्थाय आत्मने स्वजनाय च', कमाई को इस प्रकार पांच भागों में विभाजित करना चाहिए । दान करते समय पात्र-कुपात्र का ध्यान अवश्य रखें । हम दान देते हैं तो किसी पर उपकार नहीं करते, वह तो अपने ही ऊपर उपकार होता है । दान देते समय हमें निरभिलाषी एवं निरपेक्ष भाव रखना चाहिए । प्रतिफल की अपेक्षा रखकर दिया हुआ दान तो वस्तुतः दान नहीं वरन व्यापार हुआ । दान के रूप में कुछ देना और फिर उसके बदले में मान-सम्मान मिले, पद मिले, कम से कम अपना नाम चमके, अपनी सब ओर कीर्ति हो, यह अभिलाषा सर्वथा गलत है ।

दान देने के लिए धैर्य और आत्मविश्वास बहुत आवश्यक है । मुझमें सब कमाने की योग्यता है, जिसमें ऐसा विश्वास होता है, वही दान दे सकता है और देता है । जो अयोग्य और असमर्थ होता है वह धन को घेर कर बैठ जाता है । दान देते समय हमारे मन में सेवक भाव होना चाहिए । सहस्रशीर्ष, सहस्रबाहु, सहस्रपाद, ऐसे विराट समाज-पुरुष का हम 'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्' पूजन कर रहे हैं, ऐसा भाव अंतःकरण में होना चाहिए । हो सकता है कि ईश्वर के अस्तित्व को कोई माने या न माने पर समाज के अस्तित्व और महत्व को तो कोई भी नकार नहीं सकता और समाज की उन्नति में ही हमारी भी उन्नति है ।

ईमानदारी का जीवन जीना आजकल के समय में प्रबल इच्छाशक्ति द्वारा ही संभव हो सकता है । आत्मबल और ईमानदारी

सात्विक जीवनरथ के दो पहिए हैं । प्रगति के लिए, जीवन में सुख व शांति के लिए तथा यश व कीर्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति को इसी पथ पर चलने का प्रयास करना चाहिए । स्वयं भी ईमानदारी, पुरुषार्थ तथा परमार्थ का पालन करें और दूसरों को भी उसी मार्ग पर प्रेरित करें ।

प्रचंड आत्मबल से ही मनुष्य में अनीति से संघर्ष करने की सामर्थ्य जागृत होती है । अनीतिपूर्वक कमाए गए धन के प्रलोभन से अपने को मुक्त रखने में सफलता मिलती है । यह तो सर्वविदित है कि अच्छी बातों की अपेक्षा बुरी बातों का आकर्षण भी तीव्र होता है और उनका आक्रमण भी बड़ी तेजी व दृढ़ता से होता है । एक बार उनके चंगुल में फंस जाने पर उस दलदल से निकल पाना बड़ा कठिन हो जाता है । आंतरिक देवासुर संग्राम में आसुरी शक्तियों को कुचलने की सामर्थ्य तभी आती है जब मनुष्य अपने आत्मबल में वृद्धि करते हुए दैवी गुणों को अपने आचरण का अंग बना लेता है । धैर्य और मनोयोगपूर्वक मानसिक संतुलन बनाए रखकर हमें नित्य ही आत्मनिरीक्षण करना चाहिए और अपनी दुष्प्रवृत्तियों को दूर करने का प्रयास भी करना चाहिए ।

जीवन लक्ष्य की प्राप्ति का यही राजमार्ग है ।

वेदों का दिव्य संदेश

खंड-३

चरित्र निर्माण

आत्मोन्नति के लिए उत्कृष्ट चरित्र पहली आवश्यकता है । जीवन में सद्‌गुणों का महत्व प्रदर्शित करने वाले मंत्रों की सरल विवेचना ।

स्मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत द्राघीय
आयुः प्रतरं दधानाः ।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन,
शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः ॥

(ऋग्वेद १०/१८/२)

***भावार्थ**-जो लोग दुराचार को मिटाकर सदाचार पर स्थिर रहते हैं वे उत्तम जीवन और दीर्घ आयुष्य प्राप्त करते हैं । धन और संतानयुक्त होकर शारीरिक और मानसिक पवित्रता प्राप्त करते हैं ।*

संदेश-मनुष्य जीवन ईश्वर का एक अनुपम उपहार है । जो सुविधाएं किसी जीव जंतु को नहीं मिलीं वे मनुष्य को मिली हैं । हँसना, बोलना, लिखना, पढ़ना, सोचना, परिवार, चिकित्सा, उद्योग, निवास, वाहन, मनोरंजन आदि के जितने जैसे सुविधा साधन मनुष्य को मिले हैं वैसे क्या और किसी प्राणी को उपलब्ध हैं ? मनुष्य पर ही ईश्वर का यह विशेष अनुग्रह क्यों है ?

संसार में प्रत्येक प्राणी जन्म लेता है और कुछ काल बाद मृत्यु को प्राप्त हो जाता है । मृत्यु का पांव कब उसे कुचल दे, कोई नहीं जान सकता । मनुष्य को ही परमात्मा ने यह क्षमता प्रदान की है कि वह मृत्यु को भी परे ढकेल कर अमृत्व को प्राप्त करे । संसार में मरे हुए लोगों के समान अपना जीवन व्यतीत न करके, अमर पुत्रों की तरह दृढ़ता से रहे ।

इतिहास और श्रेष्ठ पुरुषों के चरित्रों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति की उन्नति के लिए कुछ गुण अत्यावश्यक हैं । वे गुण ही मानवता की कसौटियां हैं । जिसके पास जिस परिमाण में यह गुण होंगे, उस परिमाण में ही वह व्यक्ति श्रेष्ठ और

अमर हो जावेगा । संसार के सभी महापुरुषों के जीवन इन्हीं गुणों से परिपूर्ण हैं । इन गुणों की सीढ़ियां चढ़े बिना अमृत्व के सिंहासन पर कोई भी आरूढ़ न हो सकेगा । गीता में इन गुणों की महिमा अनेक स्थानों पर अनेक प्रकार से वर्णित है । इन गुणों को 'दैवी संपदा' कहा गया है । इन गुणों को अपने जीवन में धारण करने से ही मनुष्य संसार में अमर हो सकता है ।

हमारा देश महापुरुषों का देश है । प्रभु रामचंद्रजी से लेकर आज तक विश्व-कीर्ति के सैकड़ों महापुरुष यहां उत्पन्न हुए हैं । परंतु केवल महापुरुषों के निर्माण से ही काम नहीं चलता । कुछ गिने चुने लोग ही दैवी संपदा को धारण करके महान बन जाएं और शेष अधिकांश नारकीय जीवन बिताते रहें, यह अनुचित भी है और असंभव भी । देश के साधारण, अति साधारण जनों का स्तर भी श्रेष्ठ होना चाहिए ।

हमारी शारीरिक आवश्यकताएं भी अन्य प्राणियों की तरह सामान्य ही हैं और सरलता से पूरी हो जाती हैं । पर हम अपनी अतिरिक्त क्षमता को भोग, विलास, संग्रह, अहंकार आदि की पूर्ति में नियोजित करते रहते हैं और भांति-भांति के दुराचारों में इस अमूल्य मानव जीवन को बरबाद कर देते हैं । हम अपने जीवनोद्देश्य से भटक जाते हैं और मरे हुए मनुष्य के समान आयु के बोझ को ढोते हुए जैसे-तैसे जीवन की गाड़ी को घसीटते रहते हैं ।

हमें सदैव उचित आहार, व्यायाम, तप आदि के द्वारा शरीर को शुद्ध और अंत:करण को पवित्र बनाकर यज्ञीय जीवन व्यतीत करना चाहिए तभी हम सौ वर्ष से भी अधिक तक शुभ कर्म करते हुए उत्तम धन और श्रेष्ठ संतान का सुख भोग सकते हैं और आत्मा की अमरता का आनंद प्राप्त कर सकते हैं ।

अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम् ।

(ऋग्वेद १०/७१/५)

भावार्थ-*जो सदाचरण का पालन नहीं करते उन्हें शिक्षित होने पर भी उसी प्रकार लाभ नहीं मिलता जैसे जादू की गाय दूध नहीं देती ।*

संदेश-कितने आश्चर्य की बात है कि हमें मनुष्य जीवन जैसे अमूल्य अवसर का लाभ उठाने की बात नहीं सूझती और इसे ऐसे ही व्यर्थ की बाल क्रीड़ाओं में गँवा देते हैं । गँवा ही नहीं देते वरन विविध दुराचारों में इसका दुरुपयोग करके अगले जन्म के लिए पाप की गठरी और नारकीय यंत्रणा का भारी बोझ लेकर विदा होते हैं । इससे तो पशु ही अच्छे हैं जो जैसे आते हैं वैसे ही चले जाते हैं । क्या यही मनुष्य की बुद्धिमत्ता है ? इतना ज्ञान, विज्ञान, शिक्षा आदि पाकर क्या वह अपने विवेक का उचित उपयोग भी नहीं कर सकता ?

सांसारिक सफलता की बातों को जानकर हम कितने ही ज्ञानवान, चतुर, चालाक कहलाएं पर यह भी कम आवश्यक नहीं है कि हम अपने जीवन के मूल उद्देश्य को समझें और अपने स्वरूप, कर्तव्य के बारे में भी जानें, उन पर गंभीरतापूर्वक विचार करें । हमें यह भी सोचना चाहिए कि हम कौन हैं ? क्या हैं ? और अपने अस्तित्व की सार्थकता किस प्रकार सिद्ध कर सकते हैं ? यह आत्मबोध यदि न हो सका तो मनुष्य शरीर होते हुए भी नर-पशु और नर-पिशाच जैसा घृणित जीवन जीना पड़ेगा ।

प्रत्येक विवेकवान व्यक्ति को अपनी वर्तमान स्थिति पर विचार करना चाहिए और संभव हो सके तो वह साहस जुटाना चाहिए जिससे जीवन को पश्चात्ताप से बचाकर स्रष्टा की

आकांक्षा पूर्ति के लिए नियोजित किया जा सके । यदि ऐसी स्फुरणा अंतःकरण में जाग उठे तो समझना चाहिए कि अंतरात्मा में ईश्वर का प्रकाश चमकने लगा और भगवान का अनुग्रह परिलक्षित होने लगा ।

अधिकतर व्यक्ति अपने आचरण को सुधारने के लिए तैयार ही नहीं होते । दुराचारों को छोड़कर जीवन में सदाचार का पालन करना नहीं चाहते और यह आशा करते हैं कि भगवान उनकी मनोकामनाओं को फटाफट पूरा कर दें । पूजा, अर्चना, कीर्तन, कर्मकांड सब इसी भावना से करते हैं । वे समझते हैं कि भगवान की प्रशंसा करने, नाक रगड़ने, गिड़गिड़ाने या रिश्वत देने से भगवान को बहका कर अपना काम निकाला जा सकता है । पूजा उपासना का मतलब तो यही है कि ईश्वरीय गुणों को अपने स्मृति पटल पर मजबूती से जमा लेना । अपने मन में अधिकाधिक निर्मलता, विवेकशीलता और पवित्रता उत्पन्न करना ।

अपनी स्थिति के अनुरूप हर कोई विश्व मानव की, जनता जनार्दन की, भावनात्मक स्थिति को ऊंचा उठाने में कुछ न कुछ योगदान दे ही सकता है । इस प्रयोजन के लिए समय, श्रम, बुद्धि, धन आदि का जितना अनुदान दिया जा सके, समझना चाहिए कि उतने ही अंशों में हमने भगवान की इच्छा पूर्ति के लिए साहस किया । इसके लिए हमें विचारणा, मनोभूमि, गुण, कर्म, स्वभाव की शृंखला एवं गतिविधियों में अधिकाधिक पवित्रता, उदारता, उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता का समावेश करना होगा । साथ ही अपनी प्रतिभा व क्षमता का लोकमंगल के लिए बढ़ चढ़ कर समर्पण करने को उद्यत रहना होगा ।

सुगः पन्था अनृक्षर आदित्यास ऋतं यते ।
नात्रावखादो अस्ति वः ॥

(ऋग्वेद १/४१/४)

भावार्थ-सत्य का मार्ग ही कंटक रहित, सरल और सुगम होता है अतएव सभी को सत्य का आचरण करना चाहिए ।

संदेश-'सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः' यह भारतीय संस्कृति का सार है । इसमें सत्य को धर्म से भी पहले स्थान दिया गया है । हम सदैव सत्य आचरण ही करें । भीतर और बाहर की एकता, जिसे सत्य के नाम से पुकारा जाता है, मनुष्यता का सर्वप्रथम गुण है । हम जैसे हैं वैसे ही दूसरों के सामने अपने को प्रकट करें । जो मन में है वही वाणी से प्रकट करें और वैसे ही कर्म भी करें । 'मनसा वाचा कर्मणा' एकरूप, एकरस ही रहें । इस सच्चाई से अंतरात्मा की निर्मलता बनी रहती है और चित्त प्रफुल्लित रहता है । इस प्रकार के शुद्ध अंतःकरण में ही शांति रहती है और ईश्वरीय प्रकाश की किरणें फूटती हैं ।

हम एक दूसरे पर सहज विश्वास करें तो ही पारस्परिक सद्भावना से रह सकते हैं । समाज की सारी व्यवस्था एक दूसरे के विश्वास पर ही टिकी है । यह विश्वास नष्ट हो जाए तो न तो एक दूसरे पर भरोसा करेंगे और न समाज व्यवहार स्थिर रखा जा सकेगा । प्रेम, मित्रता, सहयोग, सहायता आदि का आधार सत्य ही है ।

असत्य व्यवहार एवं असत्य भाषण करना, असत्य विश्वास दिलाना, अपनी मान्यता के विपरीत कुछ का कुछ बता देना, अपनी स्थिति को छिपाकर दूसरी तरह की प्रकट करना, अपने इरादों को छिपाना, यह सब असत्य भाषण के अंतर्गत ही आता है । केवल झूठ बोलना ही असत्य नहीं है । अन्य प्रकार से अपने द्वारा किसी

को भ्रम में डाल देना, यह सारा क्रियाकलाप भी असत्य की परिधि में ही आता है । उसे दूसरे शब्दों में छल या ठगी भी कह सकते हैं । भले ही किसी का पैसा न ठगा गया हो पर विश्वास को ठग लेना भी कुछ कम पाप या अपराध नहीं है ।

विश्वास खो बैठना, संदिग्ध एवं अप्रामाणिक रहना मनुष्य का अशोभनीय पतन है । प्रतिष्ठा उसी की है जिसका विश्वास किया जा सके । जिसका विश्वास चला गया वह समाज में निकृष्ट स्तर का समझा जाता है । असत्य भाषण से परस्पर संदेह, आशंका, अविश्वास और प्रवंचना की स्थिति बनती है और मन से प्रेम और मैत्री का उल्लास समाप्त हो जाता है । आशंका का आतंक हर बात में हर व्यक्ति के प्रति संदेह और अविश्वास करने के लिए प्रेरित करता है । ऐसे में श्रद्धा की भावना कहां टिक सकेगी । सभी में घृणा और धूर्तता की गंध आएगी । वचन पालन और विश्वास जब मानवीय आचार संहिता से बाहर हो जाएंगे तब मनुष्य अपने को एकाकी अनुभव करेगा और जीवन निर्वाह कठिन ही नहीं असंभव हो जाएगा ।

झूठ बोलने वाला व्यक्ति स्वयं भी सदा भयभीत रहता है । असलियत छिपती नहीं । वह आज नहीं तो कल प्रकट हो ही जाती है । झूठ का प्रभाव कुछ समय तक ही रहता है । एक झूठ को छिपाने के लिए हजार झूठ और बोलने पड़ते हैं । फिर भी शंका बनी ही रहती है । दूसरी ओर सत्य एक दृढ़ चट्टान के समान सदा स्थिर रहता है और मन पर किसी भी प्रकार का बोझ नहीं रहता । सत्य की आभा से मनुष्य का व्यक्तित्व दमकता रहता है ।

श्री सत्यनारायण की कथा का केवल श्रवण ही न करें, उसे अपने जीवन में भी उतारें ।

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः ।
मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥

(ऋग्वेद १/९०/७)

भावार्थ-संसार में ऐसे कार्य करने चाहिए जिससे सभी को सुख, शांति और प्रसन्नता मिले ।

संदेश-मनुष्य जीवन की स्थिरता एवं प्रगति की आधारशिला है उसकी कर्तव्य-परायणता । यदि हम अपनी जिम्मेदारियों के प्रति उदासीन रहें और निर्धारित कर्तव्यों की उपेक्षा करें तो फिर ऐसा गतिरोध उत्पन्न हो जाए कि प्रगति एवं उपलब्धियों की बात तो दूर, मनुष्य की तरह जीवनयापन कर सकना भी संभव न रहे । चारों ओर कलह कलेष ही दिखाई दे ।

जीवन की हर विभूति कर्तव्यपरायणता पर निर्भर है । हर उपलब्धि की स्थिरता एवं सुरक्षा कर्तव्यनिष्ठा पर ही आधारित है । हमें जो बहुमूल्य शरीर मिला है उसे निरोग, परिपुष्ट एवं दीर्घजीवी रखने की जिम्मेदारी हमारी ही है जिससे कि हम संसार में अधिकाधिक लोकमंगल के कार्य कर सकें और सर्वत्र सुख, शांति और प्रसन्नता का वातावरण बना सकें । मन की समर्थता और प्रखरता के लिए उसे चिंता, शोक, निराशा, भय, क्रोध, आवेश आदि से बचाने का काम भी हमारा ही है । इसी से अंतःकरण में उल्लास, उत्साह, धैर्य, साहस, संतोष, संतुलन, स्थिरता, एकाग्रता, विश्वास जैसे सदगुणों को स्थापित किया जा सकता है । यदि मन को जंगली घास-फूंस की तरह चाहे जहां बढ़ने दिया गया तो यह स्वयं हमारा ही शत्रु बन जाएगा । मन

को साधने और अपने व्यक्तित्व को सुसंस्कृत बनाने की जिम्मेदारी प्रत्येक व्यक्ति की है ।

पारिवारिक जीवन की उपलब्धियां अनुपम हैं । पर यह तभी संभव है जब परिवार का प्रत्येक सदस्य अपने उत्तरदायित्व का उचित निर्वाह करे । सबके स्वास्थ्य, सुविधा, संतोष एवं विकास की हर आवश्यकता को पूरी तत्परता, सावधानी और ईमानदारी के साथ निबाहा जाए । बच्चों को सुसंस्कृत और सुव्यवस्थित बनाने के लिए उन्हें प्यार, समय और सहयोग देते रहने की जिम्मेदारी भी हमको पूरी करनी चाहिए । परिवार का आनंद केवल कर्तव्य परायण लोग ही ले सकते हैं ।

समाज का प्रत्येक नागरिक भी मानवीय उत्तरदायित्वों से लदा हुआ है । सभ्य समाज का हर नागरिक अपनी नैतिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जिम्मेदारी के प्रति सजग और सचेष्ट रहता है तथा देश की प्रतिष्ठा बढ़ाता है । समाज में विचार, वातावरण और पर्यावरण की शुद्धता बनाए रखना हर व्यक्ति का कर्तव्य है । सामूहिक उत्कर्ष में जो जितनी रुचि लेता है और लोकमंगल के लिए जितना त्याग प्रस्तुत करता है, वह उतना ही बड़ा महामानव गिना जाता है ।

समाज में चहुं ओर सुख-शांति का वातावरण बने और सभी प्रगति के पथ पर सुगमतापूर्वक चल सकें, इसके लिए आवश्यक है कि हम सभी अपने कर्तव्यों को भलीभांति समझें । आत्मा की आवाज को सुनें और परमात्मा द्वारा निर्धारित कर्तव्यों का पालन करते हुए मानव जीवन को सार्थक बनाने का प्रयत्न करते रहें ।

ये पायवो मामतेयं ते अग्ने
पश्यन्तो अन्धं दुरितादरक्षन् ।
ररक्ष तान्त्सुकृतो विश्ववेदा
दिप्सन्त इद्रिपवो नाह देभुः ॥

(ऋग्वेद १/१४७/३)

भावार्थ-*परोपकार और परमार्थ के कार्यों में निंदा, लांछन, उपहास आदि का भय नहीं करना चाहिए । ऐसे मनुष्यों की रक्षा स्वयं परमात्मा करता है । अतः निश्चिंत होकर लोक कल्याण में लगे रहना चाहिए ।*

संदेश-परोपकार का अर्थ है दूसरों की भलाई । मनुष्य का धर्म है कि वह दूसरों की भलाई करे । मनुष्य जीवन की सार्थकता इसी में है कि वह दूसरों के काम आए । यदि वह शक्ति होते हुए भी दूसरों की सहायता नहीं करता तो वह पशु समान ही है । अपने लिए तो सभी जीते हैं पर दूसरों के लिए वह कितना जिया, इसी से उसके जीवन की उत्कृष्टता का पता चलता है । अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए तो मनुष्य उद्योग करता ही है परंतु दूसरों के लिए कितना प्रयत्न किया, इसी से उसकी दिव्यता प्रकट होती है ।

हर मनुष्य को एक दूसरे के सहयोग की आवश्यकता होती है । बड़े से बड़े समर्थ व्यक्ति को भी दूसरों का सहयोग अपेक्षित होता है । परमार्थ के कार्यों से मनुष्य जीवन की शोभा और महिमा बढ़ती है । सच्चा परोपकारी सदा प्रसन्न चित्त रहता है और आंतरिक हर्ष की अनुभूति करता है, दिव्य प्रकाश का अनुभव करता है । व्यक्ति जितना परोपकारी बनता है उतना ही ईश्वर की समीपता प्राप्त करता है । सत्पुरुष वे हैं जो बिना किसी

स्वार्थ के दूसरों की भलाई करते हैं। परोपकार के लिए संकुचित विचारों को छोड़ने की आवश्यकता होती है ।

परोपकार है क्या ? ध्यान से देखें तो इसकी तीन स्थितियां हैं-परामर्श, कार्यसिद्धि में सहयोग और आर्थिक सहायता । अपनी योग्यता, क्षमता और अनुभव के आधार पर लोगों को सन्मार्ग पर चलने का परामर्श देना चाहिए । उचित समय पर हितकारी परामर्श जीवन में प्रकाश स्तंभ का कार्य करता है । इसी प्रकार जहां जब भी संभव हो दूसरों को हर प्रकार से कार्य सिद्धि में सहयोग देने व आर्थिक सहायता देने से पीछे नहीं हटना चाहिए ।

परमार्थ के कार्य करना आसान बात नहीं है । इस मार्ग में अनेकानेक बाधाएं आ खड़ी होती हैं, जो मन को विचलित कर देती हैं। न जाने किन पुण्य कर्मों के प्रभाव से तो हमारे मन में परोपकार की भावना जागृत होती है । ऐसे में संगी-साथी उपहास करते हैं और तरह-तरह के लांछन व आरोप लगाकर हमें हतोत्साहित करते हैं । आजकल तो लोगों ने परोपकार को भी व्यवसाय बना लिया है और परमार्थ की आड़ में माल काटने में लगे रहते हैं । इस स्थिति में एक सच्चे परोपकारी को अपनी अस्मिता की रक्षा करना भी कठिन हो जाता है । हर प्रकार का विरोध प्रदर्शन उसे सहन करना पड़ता है । परंतु उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि परोपकार से उसके अंतःकरण में पवित्रता के संस्कार संचित होते हैं जो उसे शुभ गति प्रदान करते हैं । शुभ कार्य करने वाले का न तो विनाश होता है और न ही दुर्गति । परमेश्वर हर समय, हर प्रकार से उसकी रक्षा करता है ।

'कोई क्या कहेगा' इसकी चिंता किए बिना कर्तव्यपालन करें ।

मा नो अग्नेऽमतये मावीरतायै रीरधः ।
मागोतायै सहसस्पुत्र मा निदेऽप द्वेषांस्या कृधि ॥

(ऋग्वेद ३/१६/५)

भावार्थ-हमारा मानव जीवन सफल हो इसलिए हम बुद्धिमान, वीर तथा धनी बनें । निंदक, धूर्त, पिशुन और अपकारी न हों । हम कभी भी मतिहीन न हों ताकि जीवन पर्यंत सुखी रहकर परमात्मा की उपासना करते रहें ।

संदेश-संसार में हर व्यक्ति सुखी रहना चाहता है । इसके लिए तरह-तरह के आयोजन करता है और अपनी बुद्धि व क्षमता से साधनों का विकास करता है । इसके साथ यह भी एक निर्विवाद सत्य है कि दुख जीवन का अटूट अंग है । चाहे मनुष्य कितना ही प्रयत्न कर ले, पर दुख से उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती । संसार में दुख के इतने कारण हैं कि व्यक्ति कितना भी समझबूझ से काम ले पर किसी न किसी ओर से दुख आकर घेर ही लेता है । बड़े बड़े ज्ञानी और धनवान व्यक्ति भी इससे बच नहीं सकते । वास्तव में संसार में सुख के इतने अधिक साधन हैं कि सुखों के आधिक्य वाले व्यक्ति भी दुख से घिरे रहते हैं । ऐसी स्थिति में जब मनुष्य दुख से बच नहीं सकता तो फिर उसे चाहिए कि वह दुख के स्वागत के लिए मानसिक रूप से तत्पर रहे । इस प्रकार दुख की तीव्रता उसे अधिक प्रभावित नहीं करती ।

हमारी योग्यता और प्रतिभा की सार्थकता इसी में है कि हम धीर, गंभीर और वीर बनें तथा हर प्रकार के सांसारिक दुखों को हंसते-हंसते काट दें । सदा इस बात का ध्यान रखें कि जब सुख के दिन नहीं रहे तो अब ये दुख के दिन भी जल्दी ही कट जाएंगे । जीवन के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण भी मनुष्य को दुखी कर देता

है । इससे सदैव बचने का प्रयास करना चाहिए । यदि वह हर समय जीवन में अभाव की स्थिति का ही ध्यान करता रहेगा तब भी उसे दुख सताएगा । यह विचार करना चाहिए कि जो कुछ भी हमें मिला है या मिल रहा है वह परमात्मा की असीम अनुकंपा का ही फल है और हमारे सुख के हेतु ही है ।

अधिकांश दुख मनुष्य ने अपने अज्ञान, मानसिक विकारों, छल, कपट और स्वार्थ के कारण स्वयं ही उत्पन्न कर लिए हैं । उसने अपने ही हाथों अपना सर्वनाश कर रखा है । यही हमारी दयनीय स्थिति का कारण है । पहले तो मनुष्य अपने दुर्गुणों-दुर्व्यसनों के द्वारा ऐसा वातावरण निर्मित कर लेता है कि चारों ओर से उसे परेशानियां घेर लेती हैं । ऐसे में उसका विवेक और धैर्य भी नष्ट हो जाता है और वह स्वयं इन कठिनाइयों से छुटकारा पाने का मार्ग नहीं खोज पाता । दूसरे यदि उसे कुछ राय दें तो वह भी उसे असह्य होती है । इस प्रकार की मानसिक विकृति उसके दुख को और अधिक बढ़ाने का ही कार्य करती है ।

दुखों से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को स्वयं अपनी सहायता करनी होती है । दूसरों की सांत्वना से कोई विशेष लाभ नहीं होता । गीता के अनुसार प्रसन्न रहने से मनुष्य के सभी दुखों का नाश हो जाता है । यदि वह हर समय हंसने और मुस्कराने का अभ्यास कर ले तो उसकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिरता को प्राप्त कर लेती है और इस प्रकार वह निश्चित रूप से सुख की वृद्धि कर सकता है ।

सुख दुख या संसार में, सब काहू को होए ।
ज्ञानी काटे ज्ञान से, मूरख काटे रोए ॥

हमारे ज्ञान की सार्थकता का यही मापदंड है ।

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः,
सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।
तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य
चक्रा भुवनानि विश्वा ॥

(अथर्व वेद १९/५३/१)

भावार्थ-*जो समय आज निकल जाएगा वह फिर आने का नहीं । समय बड़ा बलशाली है, यह जानकर ज्ञानी लोग सदैव समय का सदुपयोग करते हैं ।*

संदेश-समय मानव जीवन की सबसे मूल्यवान संपत्ति है । इसके सदुपयोग से संसार में हर प्रकार की सफलता प्राप्त की जा सकती है, सारे सुख, वैभव खरीदे जा सकते हैं । दिन, रात, मास और वर्ष व्यतीत हो रहे हैं और समय भागता जा रहा है । यह समय घोड़े के समान तीव्र गति से भागता रहता है । कितना ही इसके पीछे दौड़ो, जो समय निकल गया सो निकल गया, फिर वह वापस नहीं आ सकता ।

इस मंत्र में काल अर्थात समय के अनेक गुण बताए हैं । जिस प्रकार सूर्य सात रंगों के साथ प्रकाशमान रहता है, उसी प्रकार काल भी प्रकाशमान है । जिस प्रकार सूर्य की सत्ता संसार में प्रमुख है उसी प्रकार काल की महत्ता भी मान्य है । काल के सैकड़ों नेत्र हैं जो हर समय हम सबको देखते रहते हैं । कालचक्र में सैकड़ों धुरे हैं उसी के सहारे संसार सतत गतिमान है । काल सदा एक समान रहता है और अत्यंत बलशाली है ।

संसार के सभी कार्य देश और काल की सीमा में बंधकर होते हैं । परमात्मा और आत्मा को छोड़कर शेष सभी वस्तुएं काल के बंधन में बंधी हुई हैं । केवल ज्ञानवान और बुद्धिमान

व्यक्ति ही काल रूपी घोड़े पर सवारी कर सकते हैं अर्थात जिनका जीवन में कोई उच्च लक्ष्य होता है वही समय का सदुपयोग करके काल को भी परास्त कर सकते हैं ।

समय धन से भी अधिक मूल्यवान है । संसार के सभी पदार्थों में समय का महत्व सर्वोपरि है । जो समय के महत्व को समझते हैं वे उसे कभी भी नष्ट नहीं करते । जो समय को नष्ट करता है, समय उसे ही नष्ट कर देता है । समय शुभ जीवन और लक्ष्मी का भंडार होता है । समय के सदुपयोग से ही मनुष्य जीवन शुभ और पवित्र बनता है । जीवन नश्वर है तो इसका यह अर्थ नहीं कि समय को नष्ट किया जाए । अपितु, इससे तो हमें यह प्रेरणा लेनी चाहिए कि इस अमूल्य निधि को व्यर्थ न जाने दें और समय का सदुपयोग करते हुए इससे अधिकाधिक लाभ उठाएं । जीवन में सफलता का रहस्य भी यही है कि निश्चित समय पर निश्चित कर्म किया जाए । पर आज जिसे देखो वह समय बरबाद करता रहता है । हर काम 'समय काटने' के उद्देश्य से करता है । आलस, निद्रा, गपबाजी में समय व्यतीत करता है और कहता है कि बड़े व्यस्त हैं । यदि अब भी हम वास्तविकता से आंखे मूंदे रहेंगे तो यह काल हमें कुचल देगा ।

'काल करे सो आज कर, आज करै सो अब' की दृष्टि अपनानी चाहिए । कल किसने देखा है । भविष्य कभी भविष्य के रूप में नहीं आता । वह तो प्रतिक्षण हमें वर्तमान के रूप में ही प्राप्त होता है । अतः जो वर्तमान का लाभ उठा लेता है वह मानों स्वयं अपने भविष्य का निर्माण करता है तथा कालजयी बन जाता है ।

समय का सदुपयोग चरित्र का सर्वश्रेष्ठ गुण है ।

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।
पुनर्ददताघ्नता जानता संगमेमहि ॥

(ऋग्वेद ५/५१/१५)

भावार्थ-*हे मानवो ! सूर्य चंद्रमा जिस प्रकार नियमित रूप से अपने निर्धारित पथ पर चलते रहते हैं उसी प्रकार तुम्हें भी न्याय का मार्ग नहीं छोड़ना चाहिए ।*

संदेश-यह संसार क्या है ? ब्रह्मांड का एक छोटा सा अंश है और यह अखिल ब्रह्मांड बहुत महान है, अत्यंत विस्तृत है । दिन प्रति दिन वैज्ञानिक प्रगति करते हुए भी मनुष्य उसके एक छोटे से अंश को ही जान पाया है । परमेश्वर ने न जाने कितने सौर मंडल, सूर्य, पृथ्वी, नक्षत्र आदि बनाए हैं जो सब एक निश्चित व्यवस्था में बंधे हुए करोड़ों वर्षों से ब्रह्मांड में चक्कर लगा रहे हैं । कभी भी उस व्यवस्था में किसी प्रकार का भी व्यवधान नहीं होता । निश्चित नियम पालन में कोई भी आलस या प्रमाद नहीं करता ।

मानव जीवन की यह सबसे बड़ी त्रासदी है कि चहुं ओर ईश्वरीय व्यवस्था के चमत्कार का प्रत्यक्ष दर्शन करते हुए भी मनुष्य स्वयं व्यवस्था पालन को एक बंधन मानता है । चाहे उसका व्यक्तिगत कार्य हो या पारिवारिक या फिर सामाजिक, वह हर काम में मनमर्जी करना चाहता है और नियम पालन को भार स्वरूप एवं अपमानजनक समझता है । कानून के रखवाले स्वयं ही कानून तोड़ने में अपनी शान समझते हैं । वह यह भूल जाते हैं कि व्यवस्थित ढंग से नियमानुसार कार्य करने से हर व्यक्ति को विकास की अधिकाधिक सुविधा मिलती है और आनंद व उत्साह का वातावरण भी बनता है । उच्छृंखलता के व्यवहार से

संभव है कि कुछ व्यक्तियों को थोड़ा बहुत अनुचित लाभ मिल जाए पर अधिकांश में कुंठा का जन्म होता है जो आपस में बैर, द्वेष और वैमनस्य की विष बेल के रूप में ही विकसित होता है ।

किसी जमाने में मनुष्य एकाकी रहता था पर आज तो वह एक सामाजिक प्राणी है । उसकी स्थिरता, सुविधा, व्यस्तता, प्रगति और प्रसन्नता सभी समाज की व्यवस्था पर आश्रित है । रोटी, कपड़ा, मकान, सुख-सुविधा के अनेकानेक साधन उसके लिए कौन जुटाता है ? न जाने कितने व्यक्ति खेत, खलिहान, कारखानों में दिन रात कार्य करके यह सब बनाते हैं और उस तक पहुंचाते हैं । इस व्यवस्था में जरा भी गड़बड़ हो जाए या स्वार्थवश कोई कुछ कर दे तो समाज में त्राहि-त्राहि मच जाती है । समाज में यदि व्यवस्था एवं नियमबद्धता पर उचित ध्यान नहीं दिया जाएगा तो सर्वत्र अनिश्चितता, आशंका और अशांति की काली घटाएं छा जाएंगी । सब ओर नीरसता और कर्कशता ही दीखेगी, अवांछनीय एवं आक्रामक दुष्टता का ही सामना करना पड़ेगा । इस स्थिति में अपनी सुरक्षा, शांति, व्यवस्था और भविष्य की आशा सब धूमिल पड़ जाएंगी ।

हमें अपने व्यक्तिगत जीवन में और पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन में भी हर कार्य नियम से करने की आदत डालनी चाहिए । अपने आहार, विहार, व्यायाम, पूजा-पाठ, कार्य-व्यापार सभी को नियमपूर्वक एवं सुव्यवस्थित रीति से करना चाहिए । परिवार के सदस्यों, विशेषकर बच्चों को प्रारंभ से ही इसका महत्व समझाना चाहिए, जिससे वे आगे चलकर सूर्य के समान समाज में चमकते रहें ।

नियम पालन को अपना स्वभाव बना लेना चाहिए ।

मा नो निदे च वक्तवेऽर्यो रनधीररावणे ।
त्वे अपि क्रतुर्मम ॥

(ऋग्वेद ७/३१/५)

भावार्थ-*हे मनुष्यो ! तुम कभी किसी को कटु वचन मत बोलना, किसी की निंदा न करना, कृतघ्न न बनना । दुखी लोगों की सहायता करते रहना । तुम्हारा प्रत्येक शुभ कर्म परमेश्वर को समर्पित हो ।*

संदेश–मधुर वचन से सभी को सुख मिलता है, सभी प्रसन्न और संतुष्ट होते हैं । जबकि कटु वचन हृदय में कांटे के समान चुभ जाते हैं और असह्य कष्ट देते हैं । मीठा बोलना वशीकरण मंत्र है अतः मनुष्य को सदैव मधुर भाषी बनना चाहिए । सबके साथ मधुरता का व्यवहार करने से ही सर्वत्र सुख, शांति व उल्लास का वातावरण बनता है ।

मधुर भाषण कामधेनु के समान है । यह समस्त कामनाओं को पूरा करता है, यश और कीर्ति को बढ़ाता है । कितना ही कठोर हृदय व्यक्ति हो, प्यार के दो मीठे बोल सुनकर वह हर प्रकार का सहयोग देने को तत्पर हो जाता है । प्रिय वचन बोलने से संसार में हर प्रकार का सुख प्राप्त हो जाता है पर इसका तात्पर्य किसी की खुशामद या चापलूसी करने से नहीं है । अपनी बात को पूरी दृढ़ता से कहते हुए भी मधुरता का आंचल कभी भी नहीं छोड़ना चाहिए । मधुर भाषण से मनुष्य को जितना सुख और आनंद प्राप्त होता है, उतना न तो शीतल जल प्रदान कर सकता है, न शीतल छाया और न ही चंदन, इसलिए सदा मीठी वाणी ही बोलनी चाहिए ।

ऐसी वाणी बोलिए, मन का आपा खोए ।
औरन को शीतल करे, आपहुं शीतल होए ॥

प्रभु ने हमें वाणी का एक दैवी अनुदान प्रदान किया है और

वह नहीं चाहता कि हम कभी भी कठोर वचन बोलें । तभी तो उसने जबान में हड्डी का प्रयोग नहीं किया है । इस मीठी वाणी से हम संसार को वश में करके मित्र समान बना सकते हैं । तुलसीदास जी ने भी यही सीख दी थी-

तुलसी मीठे वचन से, सुख उपजत चहुं ओर ।
वशीकरण एक मंत्र है, तज दे वचन कठोर ॥

कटु भाषण बहुत अनर्थकारी होता है । मर्मभेदी वाणों से मनुष्य के हृदय को उतना संताप नहीं होता जितना कठोर वचनों से होता है । शस्त्र से कटा हुआ घाव फिर भी भर जाता है, परंतु कटु वाणी रूपी शस्त्र का घाव नहीं भरता । रूखे और तीखे वचन मनुष्य के मर्म को बींध डालते हैं, अतः कटु एवं रूखी वाणी कभी भी नहीं बोलनी चाहिए । अंधे, काने, लंगड़े, लूले और कुरूप पुरुष से भी ऐसा कहकर उसकी खिल्ली नहीं उड़ानी चाहिए और न उसका दिल दुखाना चाहिए। दूसरों की निंदा करना, उनके दोषों को प्रचारित करके मजे लेना, जो हमें सहयोग दें उनके प्रति कृतघ्नता का प्रदर्शन करना भी कटु वचनों के समान ही मर्मभेदी होता है ।

यदि हमें परमात्मा की कृपा प्राप्त करनी है तो सदैव शुभ कर्मों में ही ध्यान रखना चाहिए । परमात्मा जहाँ दुष्ट कर्म करने वालों का नाशक है वहीं दूसरी ओर सत्कर्म करने वालों का पितातुल्य रक्षक एवं शक्तिवर्धक है । अनुचित, विरुद्ध एवं कटु वचन बोलने वालों को वह अपनी शक्ति से नष्ट कर देता है । परछिद्रान्वेषी, अशिष्ट, कटुभाषी एवं कृतघ्न व्यक्ति समाज में कुदृष्टि से देखे जाते हैं । ऐसे व्यक्तियों का आचरण स्वयं उनके विनाश का कारण होता है ।

मधुर भाषण मनुष्य के चरित्र का उत्कृष्ट गुण है ।

न स सखा यो न ददाति सख्ये
सचाभुवे सचमानाय पित्वः ।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति
पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥

(ऋग्वेद १०/११७/४)

भावार्थ-*जो कृतज्ञता का बदला नहीं चुकाते, अपनी सेवा देने में कृपणता दिखाते हैं, उनका संसार में कोई भी हितैषी नहीं होता । इसलिए मनुष्य को सदैव उदार स्वभाव का होना चाहिए ।*

संदेश-मनुष्य ईश्वरीय विराट सत्ता का एक अति सूक्ष्म अंश है । परमेश्वर ने असंख्य जीव-जंतु, पेड़-पौधे, वनस्पतियां, औषधियां उत्पन्न की हैं । जल, थल, नभ, पवन, सूर्य, चंद्र, तारे आदि बनाए हैं । इन सब में इस मनुष्य शरीर की रचना विशेष प्रयोजन से की है । परमपिता की यह अद्भुत कृपा ही है कि उसने इस दिव्य रचना में अपने सर्वोत्तम कौशल का प्रदर्शन किया है । संसार में जो कुछ भी उत्पन्न किया है वह उसके उपभोग के लिए बनाया है । यह जानकर भी हम उस परम प्रभु के प्रति आभार व्यक्त करने में कंजूसी बरतते हैं । उसके प्रति कृतज्ञ होने के बजाए स्वयं अहंकार से भरे रहते हैं ।

ईश्वर का आदेश है 'त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः' त्यागपूर्वक भोग करो और लालच न करो । पर हम सब कुछ स्वयं ही समेट लेना चाहते हैं और स्वार्थ में हर समय अंधे बने रहते हैं । हमें सर्वप्रथम उस विराट सत्ता के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना चाहिए और उसके आदेशानुसार स्वार्थ वृत्ति छोड़कर समाज़ में सबकी भलाई के कार्य ही करने चाहिए ।

दैनंदिन जीवन में भी मनुष्य एकाकी नहीं रहता । हर समय, हर ओर से उसे सहयोग मिलता रहता है तभी वह

इतनी प्रगति कर सका है । हम में कितनी भी प्रतिभा और क्षमता हो पर दूसरों के सहयोग के बिना कुछ कर पाना प्रायः असंभव ही होता है । हमें अपने सभी सहयोगियों का उदारतापूर्वक आभार मानना चाहिए । छोटे-बड़े, ऊंच-नीच का कोई भेदभाव किए बिना ही उनकी सहायता का अधिकाधिक प्रतिकार करने का प्रयास करना चाहिए । इसमें जो कृपणता बरतते हैं वे घोर पाप कर्म करते हैं और परमात्मा की कृपा से सदैव वंचित रह जाते हैं ।

यह मनुष्य का दुर्भाग्य ही है कि हर समय वह अपने शरीर की पुष्टि, इंद्रियों की तृप्ति, धन की प्राप्ति, सांसारिक प्रेम, शानो-शौकत, घर-गृहस्थी को ही इस जीवन का परम लक्ष्य समझे रहता है और उसी में अपना सारा जीवन लगा देता है । इस गोरखधंधे में फंसा हुआ मनुष्य जीवन मूल्यों के प्रति उदासीन भाव रखता है और समाज में तिरस्कृत होता है । समय पड़ने पर संसार में कोई भी उसकी सेवा-सहायता को आगे नहीं आता । कोई भी उसका हितैषी नहीं होता । जो व्यक्ति दूसरों का आभार नहीं मानता, किसी को सहयोग नहीं करता, केवल अपने में ही मगन रहता है, समाज भी उसका तिरस्कार ही करता है ।

हमें अपने आदर्श जीवन मूल्यों को सुदृढ़ बनाने का प्रयास करना चाहिए और संसार में जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत जिस जीव जंतु का भी हमें सहयोग-सहकार मिलता है उनके प्रति कृतज्ञताज्ञापन में कृपणता नहीं बरतनी चाहिए । हर समय यही प्रयास करते रहें कि उन सबके उपकार के बदले उनकी अधिक से अधिक सेवा कर सकें । परमपिता परमेश्वर के प्रति तो आभार व्यक्त करना हमारा परम धर्म है ही ।

एकपादभूयो द्विपदो वि चक्रमे
द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे
सम्पश्यन्पङ्क्तीरूपतिष्ठमानः ।।

(ऋग्वेद १०/११७/८)

भावार्थ-इस संसार में सभी एक समान नहीं हैं । सब श्रेणीबद्ध हैं, एक से बढ़कर एक धनी, विद्वान आदि । अपनी तुलना अधिक क्षमतावान व्यक्ति से करना दुखदायी होता है इसीलिए जो कुछ भी हमें मिला है उसे ही परमात्मा का प्रसाद मानकर अपना कर्तव्य पालन करते रहना चाहिए ।

संदेश-भारतीय जीवन दर्शन का घोष वाक्य है 'ज्ञानमय कर्म एवं कर्ममय ज्ञान' । जीवन में ज्ञान और कर्म दोनों के समन्वय की आवश्यकता होती है । हमारे शास्त्रों एवं समस्त विद्याओं का यही लक्ष्य है कि अंतःकरण में परमज्ञान का प्रकाश सदैव हमारे जीवनपथ को आलोकित करता रहे ।

संसार में सब एक समान नहीं हैं । पशु-पक्षी, जीव-जंतु और यहां तक कि मनुष्य भी अलग-अलग योग्यताओं और क्षमताओं से परिपूर्ण होते हैं । हर कोई न तो हर काम कर सकता है और न ही हर प्रकार की उपलब्धियां ही प्राप्त कर सकता है । अधिकतर मनुष्य स्वयं कर्म से जी चुराते हैं और भांति-भांति की उपलब्धियां प्राप्त करने के लिए रोते ही रहते हैं । संसार में अधिकांश व्यक्ति अपने कष्टों से नहीं वरन इस बात से दुखी रहते हैं कि दूसरे लोग सुखी क्यों हैं ? वे स्वयं तो कुछ करते नहीं और आशा करते हैं कि संसार की सारी सुख-सुविधाएं, धन-संपत्ति, उपलब्धियां उन्हें मिल जाएं । कल्पना लोक में विचरण करने वाले ऐसे अज्ञानी व्यक्ति अपने लिए तो नारकीय जीवन

निर्मित करते ही हैं, साथ ही समाज में भी अराजकता का वातावरण बनाते हैं । उनका यह भ्रष्ट चिंतन ही उनके ज्ञान को कुंठित कर देता है । उन्हें केवल अपनी समस्याएं ही दिखाई देती हैं और वे सदा उन्हीं का रोना रोते रहते हैं । लाखों करोड़ों अभावग्रस्त व्यक्तियों का दुख समझने का न तो उनके पास समय होता है और न ही ज्ञान ।

वस्तुस्थिति का उचित ज्ञान जब मन को आलोकित कर देता है तो मनुष्य उसी के अनुसार अपने कर्म का निर्धारण करता है । इस समन्वय के लिए सतत अभ्यास की आवश्यकता होती है । अभ्यास में कोई बात कठिन ही नहीं अपितु असंभव भी लगती है, किंतु धीरे-धीरे वह साध्य हो जाती है । 'करत करत अभ्यास के जड़मत होत सुजान' । तैरना न जानने वाला भी जब पानी में उतारा जाता है तो उसके प्राण संकट में पड़ जाते हैं पर कुछ दिनों में ही उसे तैरते देखकर मछली को भी ईर्ष्या होने लगती है । सतत अभ्यास से संपूर्ण जीवन इसी प्रकार ज्ञानमय बनाया जा सकता है और उसके आधार पर ज्ञानमय कर्म करते हुए अपेक्षित सफलता प्राप्त की जा सकती है ।

ज्ञानी पुरुष शांत और संतुलित वृत्ति का होता है । वह अपनी समस्त उपलब्धियों को परमात्मा का प्रसाद समझकर संतोष करता है । ईर्ष्या, द्वेष के भाव उसके मन में नहीं आते । दूसरों की सुख, सुविधा व प्रगति देखकर उसके मन में कोई दुर्भावना नहीं होती । वह कभी रोता या चिढ़ता नहीं और न कभी क्रोध करता है । ज्ञानी व्यक्ति कर्म की पवित्रता को जानता है और व्यापक दृष्टिकोण से प्राणिमात्र में प्रेमभाव रखता है । 'आत्मवत सर्वभूतेषु' की भावना से वह केवल अपनी ही उन्नति से संतुष्ट नहीं होता वरन सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझता है ।

चरित्रवान व्यक्ति की यही पहचान है ।

सत्यं चमे श्रद्धा च मे जगच्च मे धनं च मे विश्वं च मे महश्च मे क्रीडा च मे मोदश्च मे जातं च मे जनिष्यमाणं च मे सूक्तं च मे सुकृतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्

(यजुर्वेद १८/५)

भावार्थ-मैं ऐसे कर्म करूं जिससे मेरा सत्य, श्रद्धा, मित्रता, धन, व्यापकता, क्रीड़ा, विनोद, वचन और शुभ कर्म समुन्नत हों ।

संदेश-हमारा कितना सौभाग्य है कि हमें यह सुर दुर्लभ मानव शरीर मिला है । साथ ही कितना दुर्भाग्य है कि हम इसे पेट-प्रजनन की पशु प्रवृत्ति में ही नष्ट कर देते हैं । जीनव के सदुपयोग की समस्या हमारी सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण समस्या है जिसका उचित समाधान करना ही दूरदर्शिता है । तभी हमारे लिए अपने जीवन लक्ष्य को प्राप्त करना और ईश्वर की इच्छा को पूरा कर पाना संभव हो सकेगा ।

ईश्वर ने हमें जो शक्ति भंडार दिया है, जो प्रतिभा, क्षमता, योग्यता और विवेक बुद्धि दी है, वह क्या केवल अपने शरीर और परिवार के निर्वाह हेतु ही है । यदि हम अपनी सामर्थ्य को पहचानें तो प्रतीत होगा कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद हमारे पास कितना समय, धन एवं बल शेष रह जाता है जिसका हम सदुपयोग ही नहीं करते वरन उलटे उसका दुरुपयोग करते हुए पतन के गर्त में गिरते जाते हैं । व्यापार या कार्यालयों में मनुष्य को अधिक से अधिक दस घंटे ही सामान्यतः व्यय करने होते हैं । ६-७ घंटे सोने के तथा ३-४ घंटे नित्य कर्म व भोजन आदि के लिए चाहिए । फिर भी ४ घंटे प्रति दिन बच

जाते हैं । उसका कितना उपयोग करते हैं इस पर भी कभी विचार करना चाहिए ।

हमें अपनी आध्यात्मिक प्रगति की ओर भी ध्यान देना चाहिए । संसार को भगवान का विराट रूप मानते हुए उसे और अधिक सुरभित, सुगंधित, सुविकसित बनाने के लिए अपने निर्वाह से बची हुई सारी सामर्थ्य लगा देनी चाहिए । यह तभी संभव होगा जब हम अपने दोष-दुर्गुणों, दुष्प्रवृत्तियों, कुविचारों और कुसंस्कारों को खोजकर उनके निराकरण का प्रबल पुरुषार्थ करें । साथ ही गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता का अपने चरित्र में अधिकाधिक समावेश करते हुए पूर्णता पाने में प्रयासरत रहें । लोकमंगल के लिए नियोजित परमार्थ प्रयोजनों को ही सच्ची ईश्वर पूजा मानें और चारों ओर फैले हुए पिछड़ेपन, अज्ञान एवं अनाचार को हटाने के लिए जो कष्ट सहना पड़े उसी को उच्च कोटि की तपश्चर्या समझें । इन बातों पर हम जितना ध्यान देंगे उसी अनुपात में आत्मिक प्रगति होगी और आत्म शक्ति की वृद्धि होगी । हमें अपने अंतःकरण में बैठे भगवान की आवाज भी सुननी चाहिए और उसके निर्देशानुसार कुछ कर्तव्य निर्धारित करने चाहिए । अन्यथा आत्मा के हितों को पददलित करते रहने और सारा मनोयोग काया-माया पर ही निछावर कर देने की आदत अंततः मूर्खतापूर्ण सिद्ध होगी और मंहगी पड़ेगी ।

इस प्रकार शुभ कर्मों में अपने को प्रवृत्त करने में ही जीवन की सार्थकता है । मन, वचन और कर्म से सदैव शुभ ही सोचें, शुभ ही देखें, शुभ ही बोलें, और शुभ ही करें । चारों ओर पवित्रता का वातावरण बनाएं और अपनी सभी इंद्रियों को शुभ कर्मों में प्रेरित करते हुए उन्नति के पथ पर बढ़ते रहें ।

चरित्रवान व्यक्ति इसी प्रकार के आदर्श जीवन को अपनाकर यशस्वी बनते हैं ।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व
उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य च्छायामृतं यस्यमृत्युः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(ऋग्वेद १०/१२१/२; यजुर्वेद २५/१३)

भावार्थ-आत्मा, मन और शरीर के अधिष्ठाता परमेश्वर ! हम जब आपके अनुशासन अर्थात सत्कार्य करते हैं तब जीवित रहते हैं । दुष्कर्मों से हमारा विनाश होता है इसलिए हम सदैव सुमार्ग पर ही चलें ।

संदेश-इस सृष्टि का अधिपति भगवान है । उसने हर वस्तु को बनाकर उसकी सीमा व मर्यादाएं भी निश्चित कर दी हैं । हर पदार्थ एवं प्राणी अपनी नियत मर्यादा में रहकर ही ईश्वरीय प्रयोजन को पूरा करता है । एक मनुष्य ही है जो अपनी बुद्धि एवं प्रकृति का दुरुपयोग अधिक करता है और कुमार्गगामी बनता है, धर्म का सारा ढांचा, सारी परंपराएं, मान्यताएं और आस्थाएं इसी प्रयोजन के लिए हैं कि मनुष्य अपनी नियत निर्धारित मर्यादा के भीतर रहकर ही जीवनयापन करे ।

धर्म का आधार है-आस्तिकता, ईश्वर विश्वास । जब मनुष्य ईश्वर की सर्वव्यापकता में विश्वास रखकर उसके अनुशासन से अपने कर्मों का नियोजन करता है तो यह मान्यता उसकी दुष्प्रवृत्तियों पर अंकुश रखने में समर्थ होती है । सर्वव्यापी ईश्वर की दृष्टि से हमारा कोई भी आचरण या भाव छिप नहीं सकता और देर-सबेर वह न्यायकारी, घट-घटवासी प्रभु उसका दंड भी देगा । समाज की आंखों में धूल झोंकी जा सकती है पर उससे कुछ भी छिपाना संभव नहीं है । यह मान्यता हमें पाप कर्मों से बचाती है । हमारी अधिकांश दुष्प्रवृत्तियां इसीलिए चलती रहती हैं कि राजदंड या समाज दंड से हम चतुरता

पूर्वक बच सकते हैं । परंतु ईश्वर के सामने ऐसी चतुरता नहीं चल पाती। इसी आधार पर मनुष्य पाप से डरता है और मर्यादाओं में रहने तथा सज्जनोचित सभ्य जीवन जीने के लिए विवश होता है । उसकी आत्मा, मन और शरीर तीनों शुद्ध और पवित्र बनते हैं ।

आज हर दिशा में विकृतियों की भरमार है । आस्तिकता भी विकृत हो गई है । लोग मान बैठे हैं कि थोड़ी से चापलूसी करने या भेंट-पूजा की छोटी-मोटी रिश्वत देकर ईश्वर को अपना पक्षपाती बनाया जा सकता है और फिर अयोग्य होते हुए भी बड़ी-बड़ी उपलब्धियां प्राप्त की जा सकती हैं तथा पापों के दंड से बचने की छूट भी पाई जा सकती है । इसी दुर्भावना के कारण चारों ओर लोग दुष्कर्मों में लगे हुए हैं और अपना विनाश कर रहे हैं । इस विडंबना से छुटकारा पाने के अलावा और कोई चारा ही नहीं है । अनुशासन के बिना जीवन में सफलता प्राप्त कर पाना संभव ही नहीं है । परमेश्वर ने हमें समाज में सत्कर्मों के द्वारा सबकी उन्नति में सहयोग देने के लिए ही यह नर तन प्रदान किया है । इस ईश्वरीय अनुशासन का पालन करना हम सबका पुनीत कर्तव्य है ।

इसके लिए मनुष्य को प्रतिदिन थोड़ा समय निकाल कर ईश्वर की उपासना करनी चाहिए । परमात्मा के गुणों का चिंतन करते हुए उन्हें अपनी आत्मा में धारण करने का प्रयास करते रहना चाहिए । उसकी मंगलमय छाया में रहने वाले को संसार में कोई संताप नहीं रहता और उसके लिए मृत्यु भी अमृत समान बन जाती है । वह आत्मस्वरूप परमात्मा हमारे उतम कर्मों के आधार पर हमें अमर कर देता है ।

यशस्वी जीवन का यही रहस्य है ।

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभूः
रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न बिभाय
मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥

(अथर्व वेद १०/८/४४)

भावार्थ-परमात्मा निःस्वार्थ भाव से धैर्यपूर्वक प्राणियों की सेवा करता है । जो परमात्मा के इन गुणों का अनुसरण करता है वह निर्भय होकर सदैव आनंद पाता है ।

संदेश-परमपिता परमात्मा ने इस विशाल सृष्टि की रचना की है। वही इसका नियामक है, नियंता है, सर्वत्र व्याप्त है, और इसे गति प्रदान कर रहा है । यह इतना प्रचंड पुरुषार्थ क्या उसने अपने लिए किया है ? वह तो सर्वथा 'अकाम' है । उसकी कोई कामना नहीं । सदा एकरस, अखंड, अचल, अमर, अभय वह प्रभु तो हमेशा धीर-गंभीर रहता है । उस आप्तकाम परमेश्वर ने यह सारी सृष्टि रचना हम प्राणियों के कल्याणार्थ ही की है । उसका कोई अपना स्वार्थ नहीं है फिर भी उसने सबके हित का ध्यान रखकर संसार को विविध प्रकार की संपदाओं से परिपूर्ण कर दिया है ।

परोपकार ईश्वर का एक महान गुण है । इसी गुण को अपनाकर हम प्रभुकृपा प्राप्त कर सकते हैं । यह नर तन जो हमें मिला है, उसकी सार्थकता भी परमार्थ में ही है । परोपकार के समान कोई धर्म नहीं है । जिसका मन परहित में लग जाता है उसके लिए संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता । जिसके मन, वचन और कर्म में परोपकार की भावना होती है वही संत जन कहलाते हैं ।

वैदिक धर्म में यज्ञ का बड़ा महत्त्व है । ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी, सभी के लिए यज्ञ आवश्यक है । यज्ञ से तात्पर्य केवल अग्नि कुंड में घी सामग्री आदि की आहुति देने से नहीं है । यह तो यज्ञ का एक अर्थ है । व्यापक अर्थ तो अपने पूरे जीवन को ही यज्ञमय बना लेने से है । तन, मन, धन से परोपकार करना ही सच्चा यज्ञ है । अपनी समस्त सुविधाओं का त्याग करते हुए दूसरों के जीवन को सुगंधित बनाने में अपनी क्षमताओं और प्रतिभाओं को अर्पित कर देना ही यज्ञ का वास्तविक लक्ष्य है । दूसरों का उपकार करना ही मानव मात्र का आदर्श होना चाहिए । 'इदन्न मम्' यह मेरा नहीं है, सब कुछ परमपिता का ही है, इस भावना को लेकर अपने तन, मन और धन से दूसरों की सेवा करना, दूसरों का उपकार करना ही हमारे जीवन का उद्देश्य होना चाहिए ।

जिस शरीर से धर्म न हुआ, यज्ञ न हुआ और परोपकार न हो सका, उस शरीर को धिक्कार है । जो दुर्लभ मानव जीवन पाकर भी उपकार नहीं करते उनसे बढ़कर निकृष्ट, नीच दूसरा कोई हो ही नहीं सकता । अन्य प्राणियों की तुलना में हमें जो यह शरीर मिला है, अन्य मनुष्यों की तुलना में हमें विद्या, धन, बल आदि का जो वरदान परमेश्वर ने दिया है, वह किसलिए है ? क्या वह केवल हमारे अपने लाभ के लिए ही है ? नहीं, हमें उसका उपयोग दूसरों की भलाई में भी करना चाहिए ।

प्रतिदिन कोई न कोई उपकार का कार्य करते रहना चाहिए । अंधों, भूले-भटकों को मार्ग दिखाना, दीन-दुखियों की सेवा सहायता करना दैनिक कर्म होना चाहिए । परोपकार का प्रत्येक कार्य स्वर्ग की ओर एक कदम है । यदि हम स्वर्गीय सुख व आनंद प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें परोपकारी बनना चाहिए । परोपकार चारित्रिक दिव्यता का प्रतीक है ।

वैश्वदेवीं वर्चस आरभध्वं
शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।
अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि
शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम् ॥

(अथर्व वेद १२/२/२८)

भावार्थ-हमारे विचार सदैव शुद्ध व पवित्र रहें । हम दूसरों को भी कुमार्ग से बचाकर सन्मार्ग की ओर ले जावें ताकि सभी मिलकर पूर्ण आयुष्य प्राप्त करें ।

संदेश-संसार के सारे कष्ट दुर्बुद्धि एवं दुष्प्रवृत्तियों के कारण हैं । इसलिए रोग का कारण जानकर जड़ पर ही कुठाराघात करना चाहिए । समाज सेवा का सर्वोत्तम तरीका यही है कि लोगों की विचारणा एवं प्रवृत्तियों को निकृष्टता की स्थिति से उबारकर उत्कृष्टता की दिशा में मोड़ा जाए । लोग अपना रवैया और ढर्रा बदल दें तो अपने भीतर भरी हुई प्रचंड सामर्थ्य के आधार पर वे स्वयं ही अपने पिछड़ेपन और कष्टों का निवारण कर सकते हैं । हमें उनकी प्रवृत्तियों को सन्मार्ग पर मोड़ने के लिए अपना सहयोग देना चाहिए । उनका ऐसा नेतृत्व करना चाहिए कि वे घातक प्रवृत्तियों का त्याग करके स्वयं ही रचनात्मक कार्यों में रस लेने लगें ।

आत्म विकास का यही रास्ता है कि हम अपनी आत्मीयता को व्यापक क्षेत्र में विस्तृत करें । दूसरे के सुख को अपना सुख और दूसरों के दुख को अपना दुख मानकर कुछ ऐसा भी सोचें, कुछ ऐसा भी करें जिससे दूसरों का दुख घटे और सुख बढ़े । निश्चय ही किसी मानव में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि अपनी सारी संपत्ति लोगों के अभाव दूर करने में लगा दें और न चौबीसों घंटे लोगों की सेवा

में लगाए जा सकते हैं । फिर भी अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद शेष सब कुछ समाज का पिछड़ापन, कष्ट, अभाव एवं अवसाद दूर करने के लिए समर्पित करने की प्रबल भावना रहनी चाहिए ।

आज संसार ने उत्कृष्टता के आभूषण उतारकर निकृष्टता का चोला पहन लिया है । विचार पद्धति और कार्य प्रणाली में निकृष्टता घुस पड़ने के कारण जीवन नारकीय बन गया है और मरघट जैसी स्थिति दिखाई देती है । धीरे-धीरे हम अंतरद्वंद्वों में, गृह कलह में, परस्पर उत्पीड़न में, निरत होकर सामूहिक आत्महत्या की ओर बढ़ रहे हैं । इन परिस्थितियों में मानव जाति की एक ही सेवा हो सकती है कि उसे बुद्धि भ्रम, अविवेक एवं अशुभ चिंतन से बचाकर नीर-क्षीर विवेचना एवं ऋतंभरा प्रज्ञा का आश्रय लेने के लिए तत्पर किया जाए । आज की स्थिति में समाज की यही सबसे बड़ी सेवा है । विचार क्रांति ही वर्तमान दुर्दशा को पलट कर धरती पर स्वर्ग का अवतरण संभव कर सकेगी । वैचारिक पवित्रता में अपरिमित शक्ति होती है । किसी भी विषय का चिंतन जब पवित्र दृष्टिकोण से होता है तब निष्पक्ष एवं तटस्थ भाव से स्थिति का आकलन संभव होता है और जो भी निर्णय लिया जाता है वह सर्वहितकारी भी होता है । दिव्यता मनुष्य का स्वाभाविक गुण है जो उसे जनम से ही प्राप्त होता है । धीरे-धीरे वैचारिक प्रदूषण के कारण ही मनुष्य की इस दिव्यता का ह्रास होता जाता है । इसीलिए विचारों की शुद्धता और पवित्रता परम आवश्यक होती है ।

विचार क्रांति के लिए आदर्शवादी विचारधारा का प्रतिपादन करने वाले नर रत्न ही जन मानस में विवेकशीलता जगाने का कार्य कर सकते हैं । अपने चरित्र में इस उत्कृष्टता का समावेश करना हमारा परम धर्म है ।

ऋतेन गुप्त ऋतुभिश्च सर्वैभूतेन
गुप्तो भव्येन चाहम् ।
मा मा प्रापत् पाप्मा मोत
मृत्युरन्तर्दधेऽहं सलिलेन वाचः ॥

(अथर्व वेद १७/१/२९)

भावार्थ-सत्यकर्म और धर्माचरण से ही मनुष्य जीवन सुरक्षित रहेगा इसलिए हम निष्पाप और यशस्वी बनें और सदैव उच्च ज्ञान प्राप्त करते रहें ।

संदेश-धार्मिकता का अर्थ है धर्मानुसार व्यवहार । धर्म के विषय में आदर रखकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म के आदेशों का पालन करने को ही धर्माचरण कहते हैं । धर्म शब्द के अनेक अर्थ हैं पर आजकल तो राजनीतिक मायाजाल में फंसकर लोग अर्थ का अनर्थ करने लगे हैं ।

वस्तुत: धर्म मनुष्य के लिए प्रत्येक क्षेत्र में लाभदायक ही है । धर्म में संकीर्णता का तो प्रश्न ही नहीं उठता अपितु यह हमारे दृष्टिकोण को व्यापक, विशाल और विराट बना देता है । सच्चा धर्म आंखों पर पट्टी बांधने को नही वरन बंधे हुए मायापटल को खोलने की बात करता है । कोई भी धर्म ईर्ष्या, द्वेष आदि विकार उत्पन्न नहीं करता । इससे सद्‌विचारों और प्रेम का वातावरण बनता है । धर्म और मानवता एक दूसरे के पूरक हैं । धर्म के बिना मनुष्य रह ही नहीं सकता और मनुष्य के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं धर्म रह नहीं सकता ।

धर्म माने कर्तव्यपालन के नियम । विविध क्षेत्रों में उत्तम यश प्राप्ति के लिए अपनाए गए स्वयं स्वीकृत बंधन । हर क्षेत्र का अपना-अपना धर्म होता है जैसे शिक्षक धर्म, छात्र धर्म, प्रजा धर्म,

राज धर्म, सैनिक धर्म, सेवक धर्म, स्वामी धर्म, पिता धर्म, स्त्री धर्म आदि । धर्म का अर्थ केवल पूजा पाठ या कर्मकांड करना ही नहीं है । धर्म तो जीवन की समग्रता का प्रतीक है ।

सत्प्रवृत्तियों, सत्कर्मों और सत्याचरण को धर्म कहते हैं । धार्मिक व्यक्ति सदाचारी, संतोषी, शांत, संयत और संयमी होते हैं । कभी क्रोध, द्वेष, दूसरों का उपहास, अनादर नहीं करते । मन की पवित्रता, आचरण की सत्यता और लोक कल्याण की उत्कृष्ट भावना उसके प्रधान गुण होते हैं। धार्मिक व्यक्ति धर्म का ढकोसला नहीं करते । वे शांत एवं निःस्वार्थ भाव से अपने कर्तव्यपालन में ही लगे रहते हैं। विचारों में उत्कृष्टता और जीवन में सादगी का ही अवलंबन करते हैं । वे सदैव अपनी पूरी क्षमता और प्रतिभा का उपयोग लोकहित के कार्यों में करते रहते हैं तथा मार्ग में आने वाली प्रतिकूल परिस्थितियों को भी धैर्य व दृढ़ता से दूर भगा देते हैं । सादा जीवन उच्च विचार का आदर्श उपस्थित करते हैं । सादगी में ही संपन्नता है । उसी से मनुष्य की प्रतिष्ठा है ।

धर्म का अनादर करना मनुष्यता को त्याग कर पशुता को मान्यता देने के समान है । पशु के लिए शरीर धर्म के अतिरिक्त और कोई धर्म नहीं है । सामने से आने वाला प्राणी यदि उसके आड़े आता है तो उसे सींग मारकर भगा देना, डराना या मार डालना ही उसकी स्वार्थ पूर्ति के लिए एकमात्र धर्म है । मान-मर्यादा, विवेक बुद्धि, भावना, परंपरा, समाज और संस्कृति पशुओं में नहीं है । ये बातें मनुष्य में हैं, इसी से उसे पग-पग पर धर्मानुसार आचरण करना पड़ता है । परोपकार, परस्पर सहयोग, सहसंवेदना, सहजीवन में ही धर्म का सार है ।

धर्मानुसार आचरण ही उत्तम चरित्र का आधार है ।

प्र यद्भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्चसूरयः ।
अप नः शोशुचदघम् ॥

(ऋग्वेद १/९७/३)

भावार्थ-मनुष्य परमात्मा की उपासना करे, सन्मार्ग पर चले, पर इसका फल तभी है जब औरों को भी ईश्वर आराधना तथा सन्मार्ग में लगावे ।

संदेश-मनुष्य ने अन्य जीवों की तुलना में जो उन्नति की है उसका मुख्य कारण उसकी सामाजिक सामूहिक मनोवृत्ति ही है। मिलजुल कर काम करने और एक दूसरे की सहायता करने के स्वाभाव ने ही शिक्षा, स्वास्थ्य, संस्कृति, विज्ञान, शिल्प आदि अनेक दिशाओं में मनुष्य को बढ़ाया है । विवाह, कुटुंब, जाति, संप्रदाय, राष्ट्र आदि इसी मनोवृत्ति के आधार पर बने हैं । मनुष्य ने यह जान लिया है कि वह एक दूसरे से अलग-अलग रहकर नहीं वरन मिलजुल कर एक दूसरे को सहयोग देकर ही आगे बढ़ सकता है, अपनी कठिनाइयों और कमियों को दूर कर सकता है ।

आध्यात्मिक क्षेत्र में भी यही बात आवश्यक है । हम स्वयं तो परमात्मा की उपासना करें, धर्मानुसार आचरण करें और सन्मार्ग पर चलें पर समाज में चारों ओर कुप्रथाओं, कुविचारों और कुसंस्कारों का प्रदूषण फैला हो तो क्या जीवन संभव हो सकता है ? क्या ऐसे में हमारी उपासना और साधना सार्थक हो सकती है ?

अपने भीतर दैवी संपदा को बढ़ाने, सदाचार और सत्प्रवृत्तियों को अपनाने के साथ-साथ समाज में भी आसुरी दुष्प्रवृत्तियों के उन्मूलन का पुरुषार्थ हमें ही करना होगा । इसके लिए त्याग, संयम, सेवा, प्रेम, उपकार आदि सद्गुणों को अपनाना पड़ता है ।

आसुरी तत्वों की प्रबलता और देवत्व में सौम्यता के कारण

अक्सर व्यक्तियों में तथा समाज में सामूहिकता की प्रवृत्ति घट जाती है और स्वार्थपरता बढ़ जाती है । इस असंतुलन को दूर करने का प्रयास करना ही ईश्वर की सच्ची आराधना है । दोष-दुर्गुणों का प्रलोभन मनुष्यों को अपने मायाजाल में फंसाने के लिए पर्याप्त होता है । इससे उसमें स्वार्थ भाव एवं अहंकार की वृद्धि होती है । पुत्रैषणा, वित्तैषणा, और लोकैषणा की प्रवृत्तियां बढ़ने लगती हैं । वह केवल अपना स्वार्थ ही देखता है और उसे पूरा करने के लिए दूसरों की हानि कर देने में भी संकोच नहीं करता । यह तो सर्वविदित है ही कि सज्जन व्यक्ति शांत व सौम्य स्वभाव के होते हैं तथा दुराचारी एवं आसुरी तत्वों से उलझना पसंद नहीं करते । उनके इस उपेक्षा भाव से दुष्ट प्रवृत्ति के व्यक्तियों को और अधिक बल मिलता है तथा वे समाज में अशांति व अराजकता की अभिवृद्धि करते रहते हैं । अच्छे और बुरे व्यक्तियों के बीच दरार और अधिक चौड़ी हो जाती है । इस खाई को पाटकर, बुरे व्यक्तियों को भी सुधार कर दैवी गुणों से परिपूर्ण करना ही असली ईश्वर भक्ति है । इसी को आध्यात्मिकता और धार्मिकता कहते हैं ।

आध्यात्मिकता का विस्तृत कलेवर इसी उद्देश्य से बनाया गया है कि समाज में सभी व्यक्ति अपनी अंतरात्मा में ऐसे विचार, विश्वास, भाव एवं संस्कार धारण करें जिनके द्वारा उसकी व्यक्तिगत स्वार्थपरता घटे और लघुता को महत्ता में, आत्मा को परमात्मा में विकसित करने का उत्साह जगे ।

मनुष्य की व्यक्तिगत और संसार की सामूहिक सुख शांति उसकी अंतरात्मा में निवास करने वाली सामूहिकता की इसी भावना पर निर्भर है जो सबको सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है ।

इसी से राष्ट्र का चरित्र बनता है ।

गम्भीराँ उदधींरिव क्रतुं पुष्यसि गा इव ।
प्र सुगोपा यवसं धेनवो यथा हृदं कुल्या इवाशत ॥

(ऋग्वेद ३/४५/३)

भावार्थ-सुख उन्हें मिलता है जो समुद्र के सामन अचल गंभीर बुद्धि वाले होते हैं, जिनमें पृथ्वी के समान क्षमा और पालन की सामर्थ्य होती है । जो गौ के समान दानी और नदी के जैसे निरंतर क्रियाशील होते हैं ।

संदेश-शास्त्रों ने मनुष्य को नर से नारायण बनने का आदेश दिया है । इसी मार्ग के अवलंबन से संसार में सुख, शांति और समृद्धि आ सकती है । पर आजकल तो नर स्वयं नर भी नहीं रह गया है । मनुष्य की मनुष्यता मृतप्रायः हो गई है । चारों ओर हत्या, मारपीट, चोरी, बलात्कार, दुराचार आदि ही दिखाई देता है और मनुष्य में क्रोध, क्षोभ और नैराश्य बढ़ता जा रहा है ।

परंतु मनुष्य इतना असहाय नहीं है । उसमें इतनी अपरिमित शक्ति है कि वह देवता बन सकता है । आज की परिस्थितियों में उसे सफलता मिलने में कुछ कठिनाई अवश्य हो रही है पर इससे उसके ध्येय में, दृढ़ निश्चय में कोई कमी नहीं आई है । साधन, उपकरण और परिस्थितियों की अपेक्षा मनुष्य की इच्छाशक्ति का महत्व अधिक है । वह चाहे तो इन सबका निर्माण कर सकता है या फिर निर्मित चीजों का विनाश कर सकता है । नारायण कहीं बाहर से नहीं आएगा वह तो प्रत्येक मनुष्य के अंतःकरण में विद्यमान है पर हम उसकी ओर ध्यान ही नहीं देते, उसकी बात ही नहीं सुनते, इसी से हम अपने को असहाय अनुभव करते हैं, हताश होते हैं और दुखी होते हैं । परमात्मा ने मनुष्य को अपरिमित शक्ति प्रदान की है । संसार में उसके लिए कुछ भी

असंभव नहीं है । आवश्यक यही है कि वह अपने भीतर दैवी गुणों को धारण करे, धीर, गंभीर एवं अविचल भाव से दान और परमार्थ के कार्य करे । ईश्वर और प्रकृति जैसे सबका निरंतर पालन करते रहते हैं उसी प्रकार वह भी क्रियाशील रहे ।

अपने हृदय में देवत्व की स्थापना करने के लिए मन, बुद्धि और अहंकार के योग्य अभ्यास आवश्यक है । घोड़ों को लगाम चाहिए, लगाम सारथी के हाथ में हो और सारथी वह जो महारथी के आदेशों का अक्षरशः पालन करे । मानवीय जीवन में मन का स्थान सारथी का है । इसी से कहते हैं कि समस्त सुख-दुखों एवं कल्पनाओं का कर्तृत्व मन के पास है । वही मनुष्य को उबारता है और वही मारता है ।

ऐसे स्वेच्छाचारी मन को कुछ अभ्यास कराना आवश्यक है । उसे यदि अच्छी बातों का स्वाद लगा तो वह बुरी बातों की ओर नहीं जाएगा । यदि उसमें अच्छे विचार भरे हों तो बुरे विचारों को स्थान नहीं मिलेगा । सद्गुणों और सत्प्रवृत्तियों की वृद्धि होगी ।

इसी से व्यक्ति और समाज में देवत्व की भावना का विकास करने के लिए जीवन मूल्यों को अंगीकार करना नितांत आवश्यक है । जीवन मूल्य माने परमेश्वर तक पहुंचने की सीढ़ी, मानवता की कसौटी, सज्जनता का मूल तत्व, मानव की उन्नति का आधार । मानवता और पशुता के मध्य की सीमा रेखा को ही जीवन मूल्य कहते हैं । इनका आचरण महामानवों के पदचिह्नों पर चलने के समान है । श्रद्धा, यज्ञ, तप, दया, दान, अहिंसा, क्षमा, त्याग, मृदुता, उदारता, तेजस्विता आदि अनेकानेक सद्गुणों को जीवन में धारण करने से ही सर्वत्र सुख शांति संभव है ।

देवताओं के चरित्र से इन अमूल्य आदर्शों को अपनाने का प्रयास करें ।

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥

(ऋग्वेद १०/१५१/१)

भावार्थ-श्रद्धापूर्वक किए गए लोकोपकारी कर्म ही ध्येय सिद्धि की सामर्थ्य रखते हैं । अतः मनुष्य को श्रद्धा से भरपूर होना चाहिए ।

संदेश-श्रद्धा मानवी जीवन का आधार है । उसमें महान प्रेरक शक्ति निहित है । ठोस आधार के बिना कुछ भी संभव नहीं होता । यदि किसी को छलांग मारना हो, तो जिस जगह से वह उछाल लेगा, वह धरती ठोस होनी चाहिए । यदि वह पोली, भुरभुरी या दलदली होगी तो छलांग मारने वाला नीचे गिरेगा और ध्येय तक नहीं पहुंच सकेगा । आधार सशक्त होना चाहिए । पानी का आधार घड़ा, वह फूटा न हो, घड़े का आधार तिपाई, वह लंगड़ी न हो, तिपाई का आधार भूमि, वह तिरछी या ढालू न हो । ऐसे ही कोई वस्तु टांगनी हो तो खूंटी पक्की होनी चाहिए अन्यथा खूंटी टूटेगी, वस्तु गिरेगी । उसी प्रकार श्रद्धा भी परंपरा से सशक्त होनी चाहिए । देखकर, पहचानकर, परखकर श्रद्धा का स्थान नियत करना चाहिए ।

नया तैरना सीखने वाला पानी में उतरने से डरता है । शिक्षक भरोसा दिलाता है कि कूद पड़ो, मैं तुम्हें डूबने नहीं दूंगा । पर लड़के को विश्वास नहीं होता । वह रस्सी पकड़कर पानी में उतरता है । उसे शिक्षक से अधिक रस्सी पर श्रद्धा है । धीरे-धीरे वह रस्सी छोड़कर हाथ-पांव चलाता है । शिक्षक उसे संभालकर डूबने नहीं देता । कुछ दिनों में उसकी श्रद्धा रस्सी से हटकर शिक्षक में हो जाती है । फिर तो वह निश्चिंत होकर पानी में छलांग लगा देता है । अपने शिक्षक में उसे पूरी श्रद्धा

है । चाहे यह कहें कि अंधश्रद्धा है पर अब कोई उसके विश्वास को डिगा नहीं सकता । इसी प्रकार जो ईश्वर के अस्तित्व में श्रद्धा रखते हैं, उन्हें प्रतिपल यह विश्वास बना रहता है कि इस भव सागर से वह उन्हें पार करा देगा, डूबने नहीं देगा ।

श्रद्धा, विश्वास और प्रेम-ये उन्नति की तीन सीढ़ियां हैं । श्रद्धा के सामने सब कुछ संभव है । विश्वास कठिन को सरल कर देता है और प्रेम तो उसे सरलतम बना देता है । जो इन तीन सद्‌गुणों का अभ्यास करता है उसका मार्ग आपत्तियों और कष्टों से रहित हो जाता है । श्रद्धावान को अपने प्रत्येक कार्य में सफलता प्राप्त होती है । जब श्रद्धा दृढ़ हो जाती है तो वह कल्याण करने वाली माता के समान हर स्थिति में हमारी रक्षा करती है ।

हमें भी अपने हृदय में श्रद्धा की ज्योति प्रज्ज्वलित रखनी चाहिए । श्रद्धा के बिना हम कोई भी कार्य पूरा नहीं कर सकते, एक पग भी आगे नहीं बढ़ा सकते । हमारा जीवन श्रद्धा से ओत-प्रोत हो । संध्या करें तो श्रद्धापूर्वक, भोजन करें तो श्रद्धापूर्वक, दान दें तो श्रद्धापूर्वक, सत्संग में जाएं तो श्रद्धापूर्वक । जो भी कार्य करें पूर्ण श्रद्धा विश्वास से करें । जब कार्य में श्रद्धा होती है, तो एकाग्रता भी होती है । उसमें रुचि जागृत होती है । जो भी काम मन लगाकर किया जाता है उसमें सफलता की संभावना स्वतः ही बढ़ जाती है । जैसे सूर्य की किरणों को आतशी शीशे की सहायता से एक बिंदु पर केंद्रित कर देने से अग्नि प्रज्ज्वलित की जा सकती है, उसी प्रकार श्रद्धा के माध्यम से मन की समस्त शक्तियों को एकत्रित किया जा सकता है । श्रद्धा से प्राप्त शक्ति हर कार्य को संभव कर देती है ।

श्रद्धा को अपने चरित्र का आधार बनाएं ।

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे ।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि ॥

(ऋग्वेद १०/१५१/३)

भावार्थ-देश, जाति, और संस्कृति के प्रति त्याग और उत्सर्ग की भावना तब पैदा होती हे जब हृदय में इनके प्रति श्रद्धा हो । श्रद्धा में ही वह बल है जो किसी कर्तव्य के प्रति गहन निष्ठा उत्पन्न करता है ।

संदेश-संसार की कोई भी अग्नि श्रद्धा के बिना प्रदीप्त नहीं होती और कोई भी त्याग, कोई भी बलिदान, श्रद्धा के बिना किया नहीं जा सकता । किसी भी प्रकार की सफलता पाने के लिए त्याग करना और अग्नि प्रदीप्त करना आवश्यक होते हैं । हम किसी भी दिशा में उन्नति करना चाहें, हमें एक तो सदा आत्मबलिदान के लिए तैयार होना चाहिए और दूसरे यह बलिदान जिस उच्च ध्येय के लिए करना हो उस ध्येय की पवित्र अग्नि हमारे हृदय में धधक रही होनी चाहिए । श्रद्धा के बिना यह संभव नहीं है ।

श्रद्धा एवं बुद्धि परस्पर विरोधी नहीं हैं । कुछ लोग श्रद्धा को अंधश्रद्धा तथा मूर्खों व बुद्धिहीनों की धारणा सिद्ध करने के लिए अनेकानेक तर्क देते हैं । परंतु वास्तव में तर्क एवं बुद्धि से श्रद्धा दृढ़ होती है और श्रद्धा से ही बुद्धि का विकास होता है । श्रद्धा से जीवन सार्थक होता है, उसे दिशा प्राप्त होती है, वह एक निश्चित मोड़ लेता है । धीरे-धीरे उसका स्तर उठता जाता है । अध्यवसाय, उद्यमशीलता, विनम्रता, त्याग आदि गुणों से जीवन वृक्ष पल्लवित होता है । श्रद्धा की यह लहर एक बार उठी तो फिर पूरे समाज में फैलती है । हमारे ऋषियों ने, महर्षियों ने, संतों ने क्या किया था ? समाज में श्रद्धा के बीज ही तो बोए थे । उन बीजों से ही तो

सद्गुणों की फसल पैदा होती है जिससे समाज का सर्वांगीण विकास होता है। राष्ट्र के अंग-अंग में समान श्रद्धाएं प्रस्थापित होने से अनुशासनपूर्ण विराट शक्ति का आविर्भाव होता है और राष्ट्र को सुख, समृद्धि एवं ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

श्रद्धाहीन मनुष्य संदेह, संशय और शंका से घिरा रहता है। आज राष्ट्र, धर्म, संस्कृति, सभी क्षेत्रों में सर्वत्र चिंता, अस्थिरता, विकलता, निराशा, हताशा और ग्लानि का ही प्रभाव है। अंतःकरण मृतप्राय और शरीर शिथिल हो गए हैं। सारा समाज ही विनाश के गर्त की ओर खिंचता चला जा रहा है। आज लोगों को अपने पर विश्वास नहीं है, दूसरों पर विश्वास नहीं है, ईश्वर पर भी विश्वास नहीं है। रोगी को डाक्टर पर विश्वास नहीं है, औषधि खरीदो तो उसकी गुणवत्ता पर विश्वास नहीं है। विद्यार्थी को शिक्षा पर विश्वास नहीं, शिक्षा के बाद भविष्य पर विश्वास नहीं। मालिक को मजदूर पर विश्वास नहीं, मजदूर को मालिक पर विश्वास नहीं। यह सब क्या है ? अश्रद्धा के कारण ही चारों ओर यह दुर्गति हो रही है।

अश्रद्धा के ही समान अंधश्रद्धा और अंधभक्ति भी मनुष्य की जीवनी शक्ति का नाश करती है। अपनी विवेक बुद्धि का प्रयोग किए बिना, दूसरे जो कर रहे हैं उसका ही अंधानुकरण करना हमारे पतन का मुख्य कारण बनता है। विवेक की कसौटी पर कसने के बाद उचित बातों पर ही अपनी श्रद्धा को केंद्रित करना चाहिए।

जब तक हमारे हृदय में राष्ट्र के प्रति, धर्म, व संस्कृति के प्रति सच्ची श्रद्धा व गहन निष्ठा जागृत नहीं होगी तब तक उनके प्रति प्रेम नहीं होगा, त्याग व बलिदान की भावना नहीं होगी, अपना सर्वस्व निछावर कर देने की उत्कंठा नहीं होगी।

हम अपने जीवन को श्रद्धामय बनाएं।

नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च
नमः पूर्वजाय चापरजाय च ।
नमो मध्यमाय चापगल्भाय च
नमो जघन्याय च बुध्न्याय च ॥

(यजुर्वेद १६/३२)

भावार्थ-ऊंच-नीच, छोटे-बड़े सभी परस्पर मिलते समय 'नमस्ते' कहकर एक दूसरे का आदर-अभिवादन किया करें। इससे पारस्परिक प्रसन्नता का और मेलजोल का व्यवहार बना रहता है ।

संदेश-किसके भीतर क्या है, इसका परिचय उसके व्यवहार से जाना जा सकता है । जिसके भीतर दुर्भावनाएं, अहंकार और दुष्टता का ओछापन भरा होगा, वह दूसरों के साथ अभद्रतापूर्ण व्यवहार करेगा । उसकी वाणी से कर्कशता और असभ्यता टपकेगी । दूसरे से इस तरह बोलेगा जिससे उसे नीचा दिखाने, चिढ़ाने, तिरस्कृत करने और मूर्ख सिद्ध करने का भाव टपके । ऐसे लोग किसी पर अपने बड़प्पन की छाप नहीं छोड़ सकते, उलटे घृणास्पद और द्वेषभाजक बनते चले जाते हैं । कटु वचन मर्मभेदी होते हैं, वे जिस पर छोड़े जाते हैं, उसे तिलमिला देते हैं और सदा के लिए शत्रु बना लेते हैं । कटुभाषी निरंतर अपने शत्रुओं की संख्या बढ़ाता और मित्रों की घटाता चला जाता है ।

हमें संसार में रहना है तो सही व्यवहार करना भी सीखना चाहिए । श्रेष्ठ, उदार और सज्जन प्रकृति के मनुष्य सदा दूसरों का आदर करते हैं और हर किसी से सम्मान और मिठास भरे शब्द बोलते हैं । सज्जनता से हम दूसरों का आदर पा सकते हैं, उन्हें अपना बना सकते हैं और ऐसे ही शिष्ट व्यवहार की आशा भी कर

सकते हैं । सज्जनता में ही मनुष्य का वास्तविक बड़प्पन छिपा है और उसका प्रमाण मीठे वचन और शिष्ट व्यवहार में ही पाया जाता है ।

मनुष्यता का ही दूसरा नाम सज्जनता है । जिसमें सज्जनता नहीं उसे नर पशु ही कहना पड़ेगा । सज्जनता का प्रारंभ मधुर भाषण और विनम्र एवं शिष्ट व्यवहार से होता है । छोटे-बड़े, ऊंच-नीच, सभी से शिष्ट व्यवहार करना चाहिए । जब भी किसी से मिलें या कोई हमसे मिले तो प्रसन्नता व्यक्त करते हुए, मुस्करा कर उसका अभिवादन करना चाहिए । उचित अभिवादन करना साधारण शिष्टाचार का आवश्यक अंग है । दोनों हाथ जोड़कर हृदय के सामने रखने व सिर झुकाकर नमस्ते करने से यह प्रकट होता है कि हम मन, बुद्धि और हृदय से उसका अभिवादन कर रहे हैं । इस प्रकार आपस में प्रेम, विश्वास और आत्मीयता की वृद्धि होती है । छोटों से भी आप या तुम कहकर प्रेम व स्नेहपूर्वक उसका अभिवादन करना उनके आत्मविश्वास को बढ़ाता है । दूसरे की आयु, शिक्षा, धन अथवा पद का विचार किए बिना एक दूसरे के प्रति नम्रता और आदर भरा व्यवहार ही करना चाहिए ।

धर्मराज युधिष्ठिर ने युद्ध क्षेत्र में भी सर्वप्रथम कौरव पक्ष में जाकर भीष्म पितामह, द्रौण, कृपाचार्य आदि का अभिवादन किया था और उसके बाद ही उनसे युद्ध प्रारंभ किया । हमें सदैव अपने से बड़ों का सम्मान करना चाहिए । महाभारत का ही वचन है-

अभिवादनशीलस्य नित्यवृद्धोपसेविन: ।
चत्वारि तस्व वर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम् ॥

अर्थात अपने पूज्यों का आदर-मान करने वाले के आयु, विद्या, यश तथा बल-चारों पदार्थ निरंतर बढ़ते हैं ।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥

(यजुर्वेद १९/३०)

भावार्थ-व्रत धारण करने से मनुष्य को श्रेष्ठ अधिकार व योग्यता की प्राप्ति होती है इससे मनुष्यों का आदर सत्कार बढ़ जाता है । सम्मान प्राप्त होने से सत्य कर्मों के प्रति श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न होता है ।

संदेश-संसार में सभी विद्वानों, विचारकों, संतों, महात्माओं ने सत्य की अपार महिमा का बखान किया है । सत्य ही धर्म, तप, योग और सनातन ब्रह्म है । सत्याचरण ही उत्कृष्ट यज्ञ है । सारा संसार सत्य पर आधारित है, धर्म भी सत्य पर प्रतिष्ठित है । सामाजिक , आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षणिक किसी भी क्षेत्र में सत्याचरण के बिना प्रगति संभव नहीं है । सत्य की मृदुता ऐसी है कि आंख क़ी पुतली पर घिसने से भी वह चुभता नहीं, पर क़ठोरता ऐसी है कि पहाड़ फोड़कर भी वह बाहर आ जाता है । सत्य की ही सर्वत्र विजय होती है, 'सत्यमेव जयते' । सत्य माने सर्वशक्तिमान परमात्मा । सत्याचरण से परम सत्य रूप परमात्मा प्राप्त होता है ।

संसार की समस्त शक्ति का केंद्र यदि प्राप्त करना हो तो हमें सत्य का आसरा लेना होगा, सत्य की उपासना करनी होगी, उग्र तपस्या करनी होगी और सब तुच्छ बातों का त्याग करना होगा । सत्य को जानने, समझने और पाने की जब ललक होती है, मन में व्याकुलता होती है, तभी सत्य की प्राप्ति होती है । सत्य को पाने के लिए व्रत, दीक्षा, दक्षिणा और श्रद्धा के चार सोपानों को पार करना होता है ।

व्रत क्या है ? अवगुणों को छोड़कर गुणों को धारण करने का नाम व्रत है । पाप से निवृत्त होकर सद्गुणों को धारण करना ही उपवास है । भूखे रहकर शरीर को सुखाने का नाम उपवास नहीं है । व्रत का अर्थ है ऐसे आचार, विचार, व्यवहार तथा शुभ संकल्प जिन्हें अपने जीवन को शुद्ध, पवित्र, उच्च और महान बनाने के लिए स्वीकार किया जाए । हमें चाहिए कि हम दुर्व्यसनों को त्यागकर सदाचारी बनने का व्रत लें । परोपकार का व्रत लें । देश सेवा का व्रत लें । इस प्रकार के सच्चे व्रतों को जीवन में धारण करने से जीवन उन्नत होगा ।

इस प्रकार व्रतों को जानने और यथाशक्ति पालन करने की प्रवृत्ति हमें शीघ्र ही दीक्षा का पात्र बना देगी । दीक्षित हो जाना मानों सत्य के साम्राज्य में घुसने का प्रवेशपत्र पा लेना और सत्य के दरबार में पहुंचने का अधिकारी हो जाना । सत्य के वातावरण में सत्यप्रेमी साथियों के साथ रहने से सत्य की खोज में और तदनुसार उस पर आचरण करने में सहजता हो जाती है । सहयोगियों के अनुभव का लाभ भी मिलता है ।

दीक्षा से आगे फिर दक्षिणा है । सत्य के पालन से यह बात हम स्वयं अनुभव कर सकते हैं कि हमारा आत्मबल बढ़ रहा है, तेज व ओज बढ़ रहा है, हम उन्नति के पथ पर बढ़ रहे हैं । समाज भी हमारी दक्षता और प्रगति को स्वीकार करते हुए प्रतिष्ठा की दक्षिणा दे रहा है । हमारी यह चहुमुखी प्रगति ही दक्षिणा है ।

अंत में व्रत, दीक्षा व दक्षिणा के प्रभाव से सत्य के प्रति अटूट श्रद्धा का जागरण होता है । फिर तो तीव्र गति से प्रगति होती है, मार्ग की सभी बाधाएं स्वतः ध्वस्त हो जाती हैं ।

सत्याचरण ही हमारे चरित्र की प्राण शक्ति है ।

घर्मैतत्ते पुरीषं तेन वर्धस्व चा च प्यायस्व ।
वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि ॥

(यजुर्वेद ३८/२१)

भावार्थ-*जिस प्रकार परमात्मा सर्वत्र व्याप्त होकर सबकी रक्षा व पुष्टि करता है, हे मनुष्यो ! उसी प्रकार तुम भी श्रेष्ठता प्राप्त कर संपूर्ण जीवों की रक्षा और पुष्टि करो ।*

संदेश-प्रगति की आकांक्षा और लालसाओं की पूर्ति दोनों अलग-अलग बातें हैं । दोनों का सामान्य स्वरूप एक सा दीखता है पर बारीकी से देखने पर दोनों में जमीन आसमान का अंतर है । प्रगति उस आवश्यकता का नाम है जो व्यक्तित्व को उभारती, प्रतिभा को निखारती तथा योग्यताओं को बढ़ाती है । इसका अर्थ है उन क्षमताओं का विकास जो शरीर, मन, कर्तृत्व एवं स्वभाव को स्वस्थ, स्वच्छ एवं सुविकसित बना सकें । यही वास्तविक प्रगति है । इस प्रकार से निखरा हुआ व्यक्तित्व ही साहसिक कदम उठा सकने की हिम्मत और चमत्कारी उपलब्धियां प्राप्त कर सकने में समर्थ होता है ।

लालसाओं की पूर्ति में उलझे हुए मनुष्य की मानसिक स्थिति एक नशेबाज के समान होती है । अधिकतर व्यक्ति अपनी परिस्थिति, योग्यता और साधनों का ध्यान न रखकर आकाश पाताल प्राप्त करने की अनियंत्रित कामनाएं मन में संजोए बैठे रहते हैं । यह ललक पूरी तो हो नहीं सकती उलटे उसे व्याकुल और उद्विग्न बनाती रहती है । कभी किसी को कुछ प्राप्त भी हो गया, तो अनुपयुक्त व्यक्तित्व इस अनायास प्राप्त संपदा से अपना और दूसरों का अहित ही करते हैं ।

प्रगति का ठीक अर्थ है परिष्कृत शरीर और मन के आधार

पर सुविकसित व्यक्तित्व का निर्माण कर सकने में सफलता प्राप्त कर लेना। प्रगति से ही मनुष्य में तेजस्विता और श्रेष्ठता का उदय होता है। वह दैवी गुणों से परिपूर्ण होकर देवता के समान देदीप्यमान होता है।

देवता, मानव और दानव ऐसी तीन श्रेणियों की हम कल्पना करते हैं। दानव हीन, मानव मध्यम और देवता श्रेष्ठ होते हैं। आज का मानव दानवता की ओर बढ़ रहा है। वह वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा से बुरी तरह ग्रस्त है। अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए वह संसार में कुछ भी करने को तैयार है। उचित अनुचित का तनिक भी ध्यान नहीं करता। हर प्रकार के दुर्गुण दुराचार उसके चरित्र के अभिन्न अंग बन रहे हैं। जानते हुए भी वह उन्हें छोड़ना नहीं चाहता। इसी प्रकार की आसुरी वृत्तियों में फंसा हुआ मनुष्य स्वयं अपना सर्वनाश करता रहता है।

दूसरी ओर देवता सर्वगुण संपन्न होते हैं। उनमें असामान्य सामर्थ्य और तेज रहता है। वह ऐश्वर्य, लक्ष्मी और उत्साह से युक्त रहता है। ऐसे ईश्वरीय गुणों से संपन्न श्रेष्ठ मनुष्य ही नर रत्न कहलाते हैं। देवताओं के समान ही वह सबको 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना से देखते हुए सदैव उनकी रक्षा और पुष्टि की ही कामना करते हैं। संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं सभी ने संसार के सभी प्राणियों में परमपिता परमेश्वर की शांतिदायक ज्योति के ही दर्शन किए हैं और सब की उन्नति व प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया है।

यह दैवी भावना हमारे चरित्र में आ जाए तो हम प्रगति के उच्चतम सोपान पर पहुंच सकते हैं।

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥

(अथर्व वेद ६/६४/१)

भावार्थ-प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह ज्ञान प्राप्त कर परस्पर मिलजुल कर रहे । सभी उत्तम संस्कारवान हों । जिस तरह हमारे पुरखे अपने कर्तव्यों का पालन करते रहे हैं उसी प्रकार हम भी सदैव अपना कर्तव्य पूरा करते रहें ।

संदेश-अध्यात्मवादी जीवन की गतिविधियां सामान्य नर-पशुओं की तरह पेट और प्रजनन, वासना और तृष्णा पर आधारित नहीं होतीं वरन उज्ज्वल और उत्कृष्ट आदर्शवादिता से प्रेरित होती हैं । अध्यात्मवादी को आत्मा और शरीर के भेद का ज्ञान होता है । आत्मा को वह अधिपति और शरीर के उपकरण समझता है । यह अंतर जिसकी दृष्टि में स्पष्ट हो गया वह काया की सुख सुविधा, इंद्रियों की लिप्सा और झूठी वाहवाही, शानशोखी को महत्व न देकर इस बात को महत्व देता है कि आत्मकल्याण और आत्मविकास जैसे महान प्रयोजन के लिए इस अमूल्य मानव जीवन का श्रेष्ठतम उपयोग कैसे हो । इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए यदि शारीरिक सुविधाओं और भौतिक संपदाओं में कुछ कमी आती है तो उसे रत्ती भर भी रंज नहीं होता क्योंकि वह जानता है कि शरीर तो उपकरण मात्र है । इसकी सुविधाएं घटती हैं तो आत्मा के उत्कर्ष का द्वार खुलता है । इसमें हानि कम और लाभ अधिक है ।

अध्यात्मवादी सादा जीवन और उच्च विचार के आदर्श का पालन करता है। विलास और आडंबर की पूर्ति में जो ढेरों समय और पैसा लगता रहता है उसे बचाकर ही लोकमंगल के

आदर्शवादी कार्यों में लगाना संभव हो सकता है । जो जितना खर्चीला और आडंबरयुक्त जीवन चला रहा होगा उसकी उतनी ही अधिक आवश्यकताएं, चिंताएं, उलझनें और व्यस्तताएं बढ़ेंगी । औरों से अधिक अपना प्रदर्शन करने की या सुख भोगनें की लिप्सा को जो जितना घटाता चलेगा उसे अपने और अपने परिवार के निरर्थक खर्च और आडंबर अनावश्यक लगेंगे । इसीलिए दिव्यता का प्रारंभ मितव्ययता से ही किया जाता है ।

मनुष्य को जब इस बात का ज्ञान हो जाता है तो वह सभी के साथ मिलजुल कर रहने में ही आनंद का अनुभव करता है । वह अपने समान ही सबके दुख सुख को समझता है । दूसरों के सुख में अपने सुख की और दूसरों के दुख में अपने दुख की अनुभूति करता है । अपना सुख दूसरों को बांटने और दूसरों के दुख का बोझ स्वयं उठा लेने की आकांक्षा उसे वसुधैव कुटुंबकम के उच्च स्तर तक पहुंचा देती है । आपस में सहानुभूति, दया, परोपकार, ममता और एकात्मता की भावना दृढ़ होने से पारस्परिक सद्‌भावना, स्नेह और सामंजस्य की वृद्धि होती है और समाज में स्वर्गीय वातावरण बनता है ।

हमारे ऋषियों ने यही आदर्श हमारे लिए उपस्थित किया था जो आज भी उतना ही सार्थक है । अपने ज्ञान व बुद्धि का उपयोग वे समाज के कल्याण के लिए ही करते थे । स्वयं कुटिया में रहकर साधारण स्तर का ही जीवन यापन, पर समाज को सुख व समृद्धि के शिखर पर पहुंचा देने में प्रयासरत । कैसी उच्च एवं उत्कृष्ट विचार पद्धति थी । सारा जीवन नि:स्वार्थ भाव से अपने कर्तव्यपालन में लगे रहना ही उन्हें अभीष्ट था ।

अपने पूर्वजों के ऐसे उत्कृष्ट आदर्शों का पालन करके ही हम चरित्रवान बन सकते हैं ।

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदोमि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः ॥

(अथर्व वेद १/३४/३)

भावार्थ-जिनके व्यवहार, क्रिया और संभाषण में मधुरता होती है उन्हें सभी प्यार करते हैं । संसार में शुभ कर्म व उपकार वही करते हैं जिनका स्वभाव मधुर होता है ।

संदेश-मधुरता, मृदुता और नम्रता श्रेष्ठ और शीलवान पुरुष के लक्षण हैं । इसके विपरीत हीन प्रवृत्ति के लोग सदैव कठोर और कर्कश बोलने वाले होते हैं । उदारमना परोपकारी लोग भी अत्यंत नम्र रहते हैं । जैसे फलों के भार से वृक्ष झुक जाते हैं, पानी से भरे हुए मेघ भी नीचे आ जाते हैं । जो श्रेष्ठ और परोपकारी होते हैं वे अपने वैभव का अभिमान नहीं करते और नम्रता धारण करते हैं । जिसके अंतःकरण में प्राणीमात्र के प्रति दिव्य आत्मीयता का भाव जाग्रत होता है उसका व्यवहार भी नम्र एवं मधुर रहता है । वह सदैव यही प्रयास करता है कि उसके द्वारा किसी को दुख न पहुंचे ।

अनेक लोगों की यह भ्रांत धारणा रहती है कि कठोर बरताव अथवा भाषण अधिक प्रभावी होता है और उससे हमारे बड़प्पन की छाप पड़ती है । परंतु यदि थोड़ा सा भी विचार करें और प्रयोग करके देखें तो पता चलेगा कि कठोर भाषण की अपेक्षा मधुर एवं मीठे वचन अधिक प्रभावकारी होते हैं । मधुरता में बड़ी अद्भुत सामर्थ्य है । सामर्थ्य और आत्मविश्वास की कमी के कारण ही अनेक लोग कठोर वचनों का प्रयोग करते हैं तथा अपने दोष दूसरों के सिर मढ़ना चाहते हैं । असत्य और भ्रांत कल्पनाओं से ग्रस्त लोग अश्लील एवं कठोर बोलने में आनंद और धन्यता

मानते हैं । दुर्भाग्य से आज साहित्य में भी कठोरता और अश्लीलता का समावेश हो रहा है । कठोर वचनों से कुछ तात्कालिक प्रभाव तो पड़ सकता है । लोग भय के मारे उनका पालन कर सकते हैं पर पीठ पीछे बुराई ही करते हैं । लोग कठोर वचनों से अपना काम निकाल कर अहंकार से इतराते फिरते हैं पर उनके सम्मान को इससे कितनी ठेस पहुंचती है इसे वे समझ ही नहीं पाते । कठोर वचनों का प्रयोग आवश्यक भी होता है । बच्चों को, अधीनस्थ कर्मचारियों को तथा दुराचारी व्यक्तियों को सन्मार्ग पर लाने के लिए कठोरता का सहारा भी लेना पड़ता है पर इसका प्रयोग विवेकपूर्ण ही होना चाहिए ।

मृदुता के माने दुर्बलता नहीं होता । दूसरों की हां में हां मिलाना, चापलूसी और चाटुकारिता को भी मधुरता नहीं कह सकते । वोट और चंदा मांगते समय लोगों की मधुरता और नम्रता तो देखते ही बनती है पर उसमें कितना तत्व होता है इसे कोई भी समझ सकता है । ठग और ढोंगी व्यक्ति भी बड़ी मीठी लच्छेदार भाषा का प्रयोग करते हैं । क्या इसे हम वास्तविक मधुरता कह सकते हैं ।

सच्ची मधुरता जिह्वा की ही नहीं आचरण की भी होती है । मधुरता का आदर्श तो हमें कृष्ण के चरित्र में देखने को मिलता है । चाहे बाललीला हो या रासलीला, सुदामा से स्नेह वार्ता हो या युद्ध क्षेत्र, राजनीतिक दांव पेंच हों या सुदर्शन चक्र का प्रयोग, हर जगह मधुरता और कठोरता का सुंदर समन्वय दिखाई देता है । उनकी प्रत्येक बात मधुर है –

वचनं मधुरं चरितं मधुरं वसनं मधुरं बलितं मधुरम् ।
चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥

इन्द्र प्रेहि पुरस्त्वं विश्वस्येशान ओजसा ।
वृत्राणि वृत्रहं जहि ॥

(अथर्व वेद २०/५/३)

भावार्थ-हम शक्तिशाली बनें ताकि उन्नति के मार्ग पर जो भी विघ्न आएं उनसे लड़ सकें ।

संदेश-भगवान ने यह संसार हमारे लिए ही नहीं बनाया है । इसमें अनेक प्राणियों का साझा है । यहां सभी के लिए कुछ न कुछ सुविधाएं और संतोष हैं तो कुछ न कुछ असुविधाएं भी हैं जिनको हल करने के लिए शारीरिक एवं मानसिक पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है । जीवन में हमारी इच्छानुसार ही सारी परिस्थितियां बनती चलें और हर आदमी हमारी मर्जी के ही कार्य करे यह तो असंभव है । धूप-छांव, दिन-रात, सुविधा-असुविधा, अनुकूलता-प्रतिकूलता, सब कुछ यहां पर है । यदि हमें असुविधा, प्रतिकूलता और असफलता का कभी सामना ही न करना पड़ता तो यह जीवन नीरस हो जाता । प्रगति और स्पर्द्धा मानव जीवन के विशेष गुण हैं और इसी से इसमें सरसता है । प्रतिस्पर्द्धा, पुरुषार्थ, सूझ-बूझ एवं संतुलन को विकसित करके ही जीवन को आनंदमय बनाया जा सकता है । परिस्थितियों से संघर्ष द्वारा ही प्रगति संभव होती है । कठिनाइयों, अभावों, प्रतिकूलताओं और संघर्षों का सृजन इसीलिए हुआ है कि उनसे टकराकर मनुष्य अपनी क्षमता और प्रतिभा का विकास करते हुए आत्मबल और मनस्विता की महान विभूतियों का संग्रह कर सके ।

पर अधिकतर व्यक्ति जीवन में जरा सी भी कठिनाई आने पर विचलित हो जाते हैं । मामूली से व्यवधान और असफलता पर असंतुलित होकर घर से भाग जाने और हिम्मत हार कर आत्महत्या

का पाप तक कर बैठते हैं । निराशा और हताशा की भावना उनकी कठिनाइयों को और अधिक बढ़ा देती है । कुछ लोग तो भविष्य की कठिनाइयों और परेशानियों की कल्पना करते हुए अपने वर्तमान को भी दुख से भरते रहते हैं ।

कार्यक्षेत्र में प्रवेश करने वाला कभी अनुकूलता का लाभ लेता है और कभी प्रतिकूलता का सामना करता है । लाभ मिलने पर हर्षोन्मत्त होकर उछलने वाले और हानि होने पर रोने वालों की स्थिति बड़ी ही दयनीय होती है । संघर्षशील संसार में अपनी समर्थता एवं दृढ़ता को प्रदर्शित कर सकने का सुख उन्हें नहीं मिल पाता । इस संघर्ष में सफलता उन्हीं को मिल सकती है जिनमें शारीरिक शक्ति के साथ-साथ आत्मिक शक्ति की भी प्रचुरता हो । अकेला शारीरिक बल विवेक के अंकुश के अभाव में लोगों के लिए समस्याएं ही पैदा करता है । शक्ति का रचनात्मक प्रयोग ही सबके लिए हितकर होता है ।

हमें सफलता की बड़ी-बड़ी आशाएं रखनी चाहिए और मनोरथों की पूर्ति के सपने देखने चाहिए पर साथ ही इसके लिए भी तैयार रहना चाहिए कि बुरी से बुरी परिस्थिति का सामना करना पड़े तो हंसते हुए संघर्ष कर सकें । कितनी भी विषम परिस्थितियां हों, अपने को आवेश से बचाकर मानसिक संतुलन कभी भी खोना नहीं चाहिए । असफलताएं हमारे धैर्य, साहस, संतुलन, पौरुष और विवेक को चुनौती देकर हमारे आत्मबल को बढ़ाती हैं । संघर्ष से प्राप्त सफलता का स्वाद कितना मधुर होता है, पसीने की कमाई से कितना आनंद मिलता है, इसे हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं ।

प्रतिकूलता से संघर्ष करने की शक्ति ही हमें ओजस्वी, तेजस्वी और वर्चस्वी बनाती है ।

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥

(ऋग्वेद १/२२/१९)

भावार्थ-किसी धार्मिक ग्रंथ या वेद मंत्रों को तोते की भांति रटने से कुछ लाभ नहीं हो सकता । हमें उन नियमों को अपने जीवन में धारण करना चाहिए ।

संदेश–धर्मराज युधिष्ठिर के विद्यार्थी जीवन की कथा है । एक बार आचार्य ने सभी छात्रों को एक मंत्र सिखाया 'सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः' और उसे याद करके आने को कहा । अगले दिन सभी छात्रों ने मंत्र को सुना दिया पर युधिष्ठिर ने कहा कि उन्हें अभी यह मंत्र याद नहीं हुआ है । इस प्रकार चार पांच दिन निकल गए तब एक दिन उन्होंने कहा कि अब मुझे यह मंत्र याद हो गया है । सभी को बड़ा आश्चर्य हुआ कि इस छोटे से मंत्र को याद करने में इतने दिन लग गए । पूछने पर उन्होंने बताया कि बहुत प्रयास करने पर भी वे झूठ बोल जाते थे परंतु पिछले पूरे दिन उन्होंने एक बार भी झूठ नहीं बोला है । इस प्रकार मंत्र को आत्मसात करके पूरी तरह याद कर लिया है ।

यही भारतीय संस्कृति का सार है । किसी भी मंत्र, ग्रंथ या पाठ को केवल रट लेने से ही काम महीं चलता उसे अंतःकरण में पैठ जाना चाहिए, व्यवहार में आना चाहिए । ज्ञान और कर्म में उचित समन्वय होना चाहिए । मंगलमय श्रेयस्कर कर्मों में जो प्रकट हो वही यथार्थ ज्ञान है । अहंकार, दंभ, वाकपटुता, लोकैषणा आदि का निर्माण करने वाला ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं होता । जो शांति और संतोष देगा, आत्मोन्नति कराएगा, वही सच्चा ज्ञान है । अपने अज्ञान की अनुभूति करा दे, नम्र बना दे, तन्मय कर दे, वही असली

ज्ञान है । जो जीवन में अवतरित न हो, जीवन को ढाल न सके, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रकट होकर उसे सुंदर, श्रेष्ठ और सात्विक न बनाए उसे ज्ञान कैसे कहा जा सकता है ।

दुर्भाग्य से आज सर्वत्र इसके विपरीत स्थिति है । जो भी नीति तत्व हमारे पठन-पाठन में आ जाते हैं, उनको मात्र शोभा की वस्तु समझा जाता है । श्रेष्ठ तत्वों का उपहास किया जाता है । ऐसा माना जाता है कि सत्य, अहिंसा आदि बातें तो व्याख्यान, प्रवचन आदि में करने भर के लिए ही हैं, व्यावहारिक जीवन में तो असत्य और हिंसा का आचरण करने वाले ही सफल होते हैं । यह असत् ज्ञान ही वर्तमान में मानव के सभी दुखों का मूल कारण है । वह बातें तो बड़ी बड़ी करता है पर आचरण की निकृष्टता स्वयं उसी के मार्ग में कांटे बोती रहती है । सत्य नियमों की अवहेलना करके वह हर प्रकार के दुराचार में लिप्त रहता है । वह यह भूल जाता है कि इस प्रकार के ढोंग व ढकोसले से वह स्वयं अपने ही को धोखा देता है ।

जीवन में जब तक ज्ञानयोग और कर्मयोग का समन्वय नहीं होगा, न तो हमें अपने व्यक्तिगत जीवन में सफलता मिलेगी और न ही सामाजिक जीवन में सुख-शांति रहेगी । जो भी छोटे-बड़े तत्व हमने पढ़े और समझे हैं, उन्हें अपने आचरण में लाने का प्रयास करना चाहिए । प्रारंभ छोटी-छोटी सरल बातों से करें तो आगे चलकर बड़े-बड़े व्रत और संकल्प भी आसानी से पूरे किए जा सकेंगे । वेद, पुराण आदि अनेक ग्रंथों का अध्ययन करने से जो सद्ज्ञान प्राप्त हो वह हमारे अंतःकरण में प्रविष्ट होकर हमारे आचरण का एक भाग बन जाए, तभी विद्याध्ययन की सार्थकता है ।

सद्ज्ञान से अपने आचरण को निखारना ही चरित्र निर्माण है ।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत
त्वः शृण्वन्न श्रृणोत्येनाम् ।

(ऋग्वेद १०/७१/४)

भावार्थ-जो सदुपदेश सुने तो किंतु अपने जीवन में धारण न करे वह अंधे, बहरे के ही समान है ।

संदेश-ऋषि परंपरा भारतीय संस्कृति का मूल आधार है । समाज में बुद्धिमान और बुद्धिहीन सब प्रकार के व्यक्ति रहते हैं । हर व्यक्ति न तो पढ़ लिख सकता है और न ही ग्रंथों को पढ़कर उनका वास्तविक अर्थ समझ सकता है । ऋषिगण अपना समस्त जीवन अध्ययन और ज्ञानार्जन में ही लगा देते थे । हर समय चिंतन-मनन करते हुए मानव मात्र की मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति की चिंता में ही निमग्न रहते थे । सदैव ही धर्माचार्यों और विद्वानों ने बड़ी गंभीरता और तत्परता से मानव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है । समय की आवश्यकतानुसार प्रतिकूल परिस्थितियों से निपटने के मार्ग को खोजकर मनुष्य को अंधकार में भटकने से बचाया है । तीर्थों तथा अन्य सुविधाजनक स्थलों पर धार्मिक आयोजन इसी उद्देश्य से होते थे । इन गोष्ठियों में प्रवचन व उपदेशों के माध्यम से लोगों का मार्गदर्शन किया जाता था जिससे वे समस्याओं से छुटकारा पा सकें । यह ज्ञान उन्हें इतनी सामर्थ्य प्रदान करता था कि वे अपने दोष दुर्गुणों का त्याग करके उनके स्थान पर सद्‌गुणों का आरोपण कर सकें और अपने जीवन को उत्कृष्ट बना सकें ।

यह परंपरा आज भी विद्यमान है । स्कूल-कालेजों में, मंदिरों में, अन्यान्य धार्मिक आयोजनों में प्रवचनों व उपदेशों का यही लक्ष्य रहता है । ये प्रवचन और उपदेश किसी तर्क-वितर्क या

वाद-विवाद का विषय नहीं होते वरन अपने आचरण में उतारने पड़ते हैं । विद्वान लोग तो पहले ही गहन चिंतन, मनन और प्रयोग द्वारा उन तथ्यों की सत्यता को परख कर मानवोपयोगी अंश ही हमारे सामने रखते हैं । फिर उनके उपदेशों पर संदेह करके तो हम स्वयं अपनी ही स्थिति को हास्यास्पद बना लेते हैं ।

परंतु आज स्थिति कुछ ऐसी बन गई है कि जो व्यक्ति जितना अधिक अज्ञानी है वह अपने को उतना ही अधिक बुद्धिमान प्रदर्शित करना चाहता है । कोई अच्छी बात सुनना उसे पसंद ही नहीं आता । उपदेश चाहे माता-पिता के हों या विद्वान संत-महात्माओं के, उन्हें सुनना और उन पर आचरण करना वह अपना अपमान समझता है और उलटे उनका उपहास उड़ाता है ।

धर्म की जो परिभाषाएं हमारे ऋषियों ने दी हैं उनसे संसार में किसी भी बुद्धिमान को विरोध नहीं हो सकता । धर्म क्या है ? नैतिक नियमों का संग्रह ही धर्म है । इन नियमों का पालन किए बिना मनुष्य का न तो व्यक्तिगत जीवन सुचारु रूप से चल सकता है और न ही सामाजिक जीवन । इन नियमों का पालन न करने से ही मनुष्य जगत में विकार आते हैं । यदि ये नियम सुंदर रीति से चलते रहते हैं तो मानव समाज में शांति, आनंद और सद्भाव का निवास होता है । जहाँ ये नियम काम नहीं करते वहाँ दुख, कलह और क्लेष का वातावरण रहता है ।

विद्वानों के उपदेश इसी ध्येय की पूर्ति करते हैं । पर यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम अंधे-बहरे के समान उन पर ध्यान ही नहीं देते और अपनी उन्नति के स्वर्णिम अवसर को यूं ही गँवा देते हैं ।

सदुपदेशों पर आचरण करना हमें अपने स्वभाव का एक अंग बना लेना चाहिए ।

मा वो घ्नन्तं मा शपन्तं प्रति वोचे देवयन्तम् ।
सुम्नैरिद्ध आ विवासे ॥

(ऋग्वेद १/४१/८)

भावार्थ-जो लोग धर्मनिष्ठ सदाचारी पुरुषों की मित्रता करते हैं, उनकी रक्षा करते हैं और सद्व्यवहार, भोजन, वस्त्र आदि के द्वारा उनका सम्मान करते हैं उन्हें सदैव सुख प्राप्त होता है । दुष्ट दुर्जनों के प्रभाव से सदैव दूर रहना चाहिए । वे विद्वान हैं जो धर्मात्माओं की मैत्री करते हैं ।

संदेश-पिता-पुत्र, माता-पुत्र और पति-पत्नी के संबंध तो अन्य जंतुओं में भी होते हैं भले ही वह अल्पकाल के लिए ही क्यों न हों । परंतु गुरु-शिष्य संबंध केवल मनुष्यों में ही होते हैं । कोई पशु-पक्षी किसी दूसरे को अपना ज्ञान और कौशल नहीं सिखाता पर एक दूसरे को सिखाना मानव की विशेषता है । मनुष्य में इच्छा, बुद्धि, भाषा, परोपकार भावना, दूरदृष्टि, सब कुछ होता है इसी से अपने से दूसरे को लाभ करा देना और दूसरों से स्वयं लाभ प्राप्त कर लेना उसकी सहज प्रवृत्ति होती है । अपने ज्ञान, अनुभव, कल्पना, भावना का मनुष्य सतत आदान प्रदान करता रहता है । इस विशेषता से ही गुरु-शिष्य परंपरा विकसित हुई है ।

अन्य अनेक प्राणी शारीरिक दृष्टि से मनुष्य की तुलना में अधिक शक्तिशाली हैं पर बुद्धि में वह ही सर्वश्रेष्ठ है । इस बुद्धि-लता में जो ज्ञान का फल लगता है वही अमृतफल है । संसार में सब कुछ नश्वर है, क्षण भंगुर है । मानव भी मर्त्य है पर ज्ञान के कारण वह अमर हो जाता है । मानव जीवन में सहसंवेदना का बहुत महत्व है । प्राप्त वस्तु का एकाकी उपभोग करना पशु-प्रवृत्ति है । स्वयं को प्राप्त वस्तु दूसरों में भी बांटें, सबको उसका लाभ

मिले, यह मानवी प्रवृत्ति ही उसे मनुष्य बनाती है।

गुरु केवल किताबी शिक्षा ही नहीं, संस्कार भी देते हैं । केवल विद्यालय के शिक्षक या किसी मठ-आश्रम के अधिकारी ही गुरु नहीं होते । अनेकानेक धर्मनिष्ठ, सदाचारी व्यक्तियों से हम कुछ न कुछ सीखते रहते हैं । कभी-कभी कुछ ऐसे व्यक्तियों से भी हमारा संपर्क होता है जिनका जीवन, जिनका आचरण, जिनका व्यक्तित्व स्वयं एक पाठ रहा हो । जिनके आचरण ने हमारे आचरण को मोड़ दिया होगा, जिनके जीवन ने हमारे जीवन को प्रभावित किया होगा, जिनके व्यक्तित्व ने हमारे व्यक्तित्व को आकार दिया होगा । बिना बोले, बिना कहे, उन्हें देखकर हमने उनका अनुकरण किया और बहुत कुछ सीखा होगा ।

ऐसे विद्वान महापुरुषों की सेवा, सत्कार और सम्मान करना मनुष्य का पुनीत कर्तव्य है। ऐसे व्यक्तियों की मैत्री सदैव सदगुणों की वृद्धि में सहायक होती है और जीवन में सुख, शांति और समृद्धि आती है।

पर आज स्थिति उलटी हो रही है । शिक्षक ही क्यों, समाज में चारों ओर कुसंस्कारी, दुर्बुद्धि, दुर्गुणी व्यक्ति ही दिखाई देते हैं । अल्पवय विद्यार्थी अवस्था में ही बच्चों के मन पर घोर कुसंस्कारों का प्रभाव पड़ रहा है । फलस्वरूप चारों ओर अनुशासनहीनता और अराजकता का ही साम्राज्य है । जहां देखो दुष्ट व दुराचारी व्यक्ति ही दिखाई देते हैं । सदाचारी व्यक्तियों को तो उंगलियों पर गिना जा सकता है । फिर भी यदि हम चाहें तो अच्छे लोग मिल ही जाएंगे ।

हमें सदैव दुष्ट दुराचारी व्यक्तियों से बचना चाहिए और धर्मनिष्ठ, सज्जन, सदाचारी व्यक्तियों से मित्रता रखनी चाहिए ।

अपाघमप किल्विषमप कृत्यामपो रपः ।
अपामार्ग त्वमस्मदप दुःष्वप्न्य ꣳ सुव ॥

(यजुर्वेद ३५/११)

भावार्थ-*जो मनुष्य अपना आचरण शुद्ध बनाते हैं और दूसरों को शुद्ध बनाते हैं, हमें उनका सामीप्य मिले ताकि मन की मलीनता, दुष्ट दुरितों का क्षय हो ।*

संदेश-अग्नि से अग्नि जलती है, जीवन से जीवन प्रकाशित होता है, प्रीति से प्रीति बढ़ती है और बैर से बैर बढ़ता है । खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग बदलता है ।

यदि हम दूसरों का निर्माण करना चाहते हैं तो पहले अपने जीवन में क्रांति उत्पन्न करनी होगी, अपने को चुंबक बनाना होगा, अपने जीवन में विशेषता उत्पन्न करनी होगी । तभी दूसरों का सुधार और उद्धार हो सकेगा । एक जलता हुआ दीपक लाखों बुझे हुए दीपकों को जला सकता है, परंतु लाखों बुझे हुए दीपक मिलकर भी एक दीपक को नहीं जला सकते । एक महापुरुष जिसमें जीवन ज्योति है, लाखों को जीवन ज्योति प्रदान कर सकता है, उन्हें सन्मार्ग पर ला सकता है, उनके जीवन में नव ज्योति फैला सकता है ।

जो व्यक्ति स्वयं शांत नहीं है वह दूसरों को क्या शांति दे सकता है ? जो स्वयं ही अज्ञानी है वह दूसरों को ज्ञानवान कैसे बना सकता है ? जो स्वयं ही तैरना नहीं जानता वह दूसरों को तैरना कैसे सिखा सकता है ? जो स्वयं ही आलसी, प्रमादी, बकवादी है वह दूसरों को फुर्तीला और मितभाषी कैसे बना सकता है ? दूसरों को शांति देने से पूर्व स्वयं शांत बनना होगा । दूसरों को ज्ञानवान और सच्चरित्र बनाने से पूर्व स्वयं ज्ञानवान और सच्चरित्र बनना होगा । मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम, योगिराज श्री कृष्ण, स्वामी

विवेकानंद, महर्षि दयानंद आदि की भांति पहले हम स्वयं प्रकाश स्तंभ बनें, परवाने स्वयं आ जाएंगे । हम शक्ति और आकर्षण का केंद्र बनें तो लोग स्वयं ही हमारी ओर खिंचेंगे । जब पुष्प खिलता है तो मधुमक्खियां स्वयं ही आ जाती हैं और पराग कण ले जाती हैं ।

मनुष्यों को चाहिए कि अपने आचरण में सदगुणों का समावेश करके उसे शुद्ध, पवित्र और सुगंधित बनाएं । अपने जीवन को सविता की प्रखरता से ओत-प्रोत कर दें । आलस्य और प्रमाद का त्याग करके जीवन में नियमितता धारण करें । सेवा, सदाचार, सुशीलता और सज्जनता के द्वारा सूर्य के समान अपने को आकर्षण का केंद्र बनाएं । स्वयं तेजस्वी, वर्चस्वी और ओजस्वी बनें । ऐसे व्यक्तियों के संपर्क में आने से समाज में अनेकानेक व्यक्ति सन्मार्ग पर चलने लगते हैं । उनके दुर्गुणों का नाश और सद्‌गुणों की वृद्धि होने लगती है ।

इससे पहले स्वयं कुमार्ग से हटो, स्वयं उदार बनो, स्वयं ऊंचे उठो, स्वयं चमको । तभी जीवन से जीवन प्रकाशित होता है, दीप से दीप जलता है । ऐसे ज्ञानी व्यक्ति ही समाज में यश पाते हैं । उनके संपर्क में आने वाले व्यक्तियों पर भी उनके सद्‌गुणों का प्रभाव पड़ता है । फलस्वरूप उनके दोष दुर्गुणों का भी नाश होता है और आचरण में शुद्धता, पवित्रता एवं उदारता का विकास होता है । जहां एक मछली सारे तालाब को गंदा कर देती है, वहीं एक सत्पुरुष अपने सत्याचरण की सुगंध से समाज को सुविकसित करने की क्षमता भी रखता है । उसका तेज व ओज सभी को शक्ति व ऊर्जा प्रदान करता है ।

सद्‌गुणी व्यक्तियों का संपर्क चरित्र निर्माण में सहायक होता है ।

ते अस्मभयं शर्म यंसन्नमृता मर्त्येभ्यः ।
बाधमाना अप द्विष : ॥

(ऋग्वेद १/९०/३)

भावार्थ-शिक्षा उनकी ग्रहण करें जो विद्वान हों और श्रेष्ठ कर्म करते हों । खोटे स्वभाव के व्यक्तियों को सदैव दूर ही रखना चाहिए । इसी में मनुष्य मात्र का कल्याण निहित है ।

संदेश-अपने देश में साधु, संतों और विद्वानों के प्रति जनता की भारी श्रद्धा रही है । इस श्रद्धा का प्रतिदान देने का उत्तरदायित्व भी उन लोगों पर रहता है । प्राचीनकाल में इस वर्ग के लोग अपने उच्च चरित्र, महान ज्ञान और उदात्त सेवा भावना का पूरा-पूरा लाभ जनता को देते थे और स्वयं इतने निस्पृह रहते थे कि भोजन-वस्त्र की चिंता भी भगवान पर छोड़ देते थे । यह वर्ग अपना थोड़ा समय ईश्वर की उपासना, स्वाध्याय, ज्ञानवर्धन और आत्मबल के परिष्कार में लगाता था तथा अधिकांश समय जन साधारण के भौतिक एवं आत्मिक जीवन की प्रगति में सहायता करते हुए ही बिताता था । यही ऋषि धर्म था । विद्वान साधु-संत इस प्रवित्र कर्तव्य में अपने आपको बंधा हुआ मानते थे । उपासना और स्वाध्याय द्वारा बढ़ाया हुआ आत्मबल और ज्ञानबल भी उन्हें अपने स्वार्थ साधन के लिए नहीं वरन इसलिए अभीष्ट था कि उसके द्वारा वे लोकमंगल के लिए अधिक से अधिक महत्वपूर्ण कार्य कर सकें । साधु, संतों और विद्वानों के रूप में लोकसेवियों की एक विशाल सेना समाज को उपलब्ध रहती थी । ऐसे उदारमना अति उपयोगी वर्ग का भावभरा आदर जन-जन के मन में भरा रहता था ।

आजकल बड़ी विषम स्थिति हो गई है। अज्ञानी जनता यदि अपना कर्तव्य भूलती तो क्षम्य भी था पर भारत की आत्मा का प्रतीक यह विद्वत् समाज ही पथभ्रष्ट होने लगे तो उसे दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जाएगा । जनता से येन-केन-प्रकारेण अर्थ लाभ और पूजा सम्मान प्राप्त करने के लिए तो ऋषियों ने इस वर्ग की स्थापना नहीं की थी। आज अधिकतर लोग अपने ज्ञान और विद्वत्ता से जनता को लाभ पहुंचाने के स्थान पर उन्हें लूटने के उपक्रम में ही लगे रहते हैं। मुफ्तखोरी को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानने की अहंता जम गई है। मुफ्तखोरी चोरी से भी बड़ा पाप माना जाता है ।

यह हमारा सौभाग्य ही है कि अभी भी समाज में कुछ ऐसे विद्वान व्यक्ति मौजूद हैं जिनमें सेवा की बुद्धि, उमंग और योग्यता जीवित है। उन्हीं के सत्प्रयासों से प्राचीन गौरव बना रहेगा और जनता की श्रद्धा भी आगे बनी रहेगी । इन विद्वानों की जीवनचर्या का लक्ष्य और उद्देश्य यही रहता है कि वे जनमानस को ऊंचा उठाने और समाज में सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्धन करने के लिए अपनी सारी क्षमता और योग्यता नियोजित किए रहें। सामाजिक कुरीतियों और अनैतिक दुष्प्रवृत्तियों से जर्जर इस देश को विवेकपूर्ण विचारधारा की पग-पग पर आवश्यकता है । इसके लिए शिक्षणात्मक, रचनात्मक और संघर्षात्मक अनेक प्रयत्न खड़े करने होंगे। उन्हीं के आधार पर मानव के कल्याण हेतु ठोस एवं हितकारी प्रयास संभव हो सकेंगे ।

यह कार्य भावनाशील विद्वज्जन ही कर सकते हैं । वे स्वयं श्रेष्ठ कर्म करें, श्रेष्ठ आचरण रखें और समाज में प्रत्येक को श्रेष्ठ मार्ग पर चलने के लिए सदगुणों को अपनाने की प्रेरणा दें ।

वि द्वेषांसीनुहि वर्धयेलां मदेम शतहिमाः सुवीराः ।

(ऋग्वेद ६/१०/७)

भावार्थ-*विद्वान पुरुषों का यह कर्तव्य है कि वे श्रेष्ठ कर्म करें और दूसरों से भी करावें । इससे दोषों की निवृत्ति और बल, बुद्धि, विद्या तथा आयु में वृद्धि होती है ।*

संदेश-विद्वान किसे कहते हैं ? जिसे भौतिक सृष्टि एवं पदार्थों का ज्ञान हो । जो मानव समाज की जानकारी रखते हों । जो जीवन निर्माण के सिद्धांतों को समझते हों । जो आत्मविद्या और ब्रह्मविद्या से परिचित हों । किसी वस्तु के यथावत स्वरूप को जानना ही ज्ञान कहलाता है ।

विद्या और अविद्या के भेद को जानने वाला विद्वान होता है । संसार और शरीर आदि अनित्य पदार्थों को ही नित्य समझना, मिथ्या भाषण, चोरी आदि अपवित्र कर्मों को पवित्र समझना, विषय सेवन आदि दुख को सुखरूप समझना, शरीर और जड़ पदार्थों को चेतन समझना-यह अविद्या है । इसके विपरीत सभी पदार्थों की वास्तविकता, मूल भावना के यथार्थ स्वरूप का बोध होना ही विद्या है ।

विद्या और ज्ञान का सामान्य अभिप्राय भाषाओं, सामाजिक और विज्ञान संबंधी विषयों से है । इनका विशेष अभिप्राय आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या और समाधि द्वारा जड़ और चेतन के ज्ञान से है । ज्ञान से अभिप्राय उस सूत्र अथवा वाक्य से भी है जिसके कारण मनुष्य के पतित जीवन का उद्धार हो जाता है अथवा सोई हुई आत्मा जाग उठती है । विद्या धन ही सब धनों में सर्वश्रेष्ठ है । ऐसी विद्या और ज्ञान से संपन्न व्यक्ति ही विद्वान कहलाते हैं । वे तप के द्वारा अपने पापों का नाश कर

देते हैं और विद्या के द्वारा अमृतपद प्राप्त करते हैं ।

ऐसे ज्ञानी और विद्वान व्यक्तियों के संसर्ग से सदैव ही मनुष्य में दानशीलता एवं अहिंसा की भावना और ज्ञान की वृद्धि होती है । सत्संग सदा ही मनुष्य का उद्धार करता है । सत्संग के कारण बड़े-बड़ पतित व्यक्ति भी नारकीय जीवन से ऊंचे उठकर स्वर्गिक जीवन को प्राप्त हुए हैं । महापुरुषों के जीवन ऐसे उदाहरणों से अटे पड़े हैं । अंगुलिमाल और आम्रपाली का जीवन महात्मा बुद्ध की संगति से किस प्रकार बदल गया, यह तो हमें ज्ञात ही है । महर्षि वाल्मीकि का पूर्व जीवन पापमय था पर सत्संग ने उन्हें कितने उच्च स्तर का बना दिया कि भगवान राम ने भी देवी सीता के रहने के लिए उन्हीं के आश्रम को चुना ।

श्रेष्ठ और विद्वान व्यक्तियों का यह कर्तव्य है कि वे अपने अर्जित ज्ञान का उपयोग केवल अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए ही न करें वरन अपने संपर्क में आने वाले सभी लोगों को उसका लाभ दें । ज्ञान देने से घटता नहीं बढ़ता ही है । इससे दोनों का लाभ होता है । दुर्गुणों के नाश और सद्‌गुणों की वृद्धि से लोगों की विवेक बुद्धि जाग्रत होती है जिससे विद्या और बल बढ़ता है तथा मनुष्य सत्कर्म करते हुए दीर्घायु को प्राप्त करता है ।

जो व्यक्ति अपने ज्ञान और अनुभव का लाभ दूसरों को देने में कृपणता बरतते हैं वे पशु समान ही हैं । उनका संचित ज्ञान स्वयं उनके काम भी नहीं आता और धीरे-धीरे उसकी प्रखरता नष्ट होती जाती है । जो ज्ञान अर्जित किया है उससे सारे समाज को लाभान्वित करना मनुष्य का धर्म है । वही सच्चे विद्वान कहलाते हैं ।

चरित्रवान विद्वानों का यही कर्तव्य है ।

स नो बोधि पुरएता सुगेषूत
दुर्गेषु पथिकृद्विदानः ।
ये अश्रमास उरवो वहिष्ठास्तेभिर्न
इन्द्राभि वक्षि वाजम् ॥

(ऋग्वेद ६/२१/१२)

भावार्थ-जो सबका मंगल करता हो, स्वयं धर्म पथ पर चले और दूसरों को भी सन्मार्ग की ओर अग्रसर करे, वही विद्वान है । यह वृति सत्संग से जागृत होती है ।

संदेश-विद्वान एवं धर्मनिष्ठ व्यक्तियों के सत्संग से बड़ा लाभ होता है । सत्संग की महिमा महान है । 'सठ सुधरहिं सत संगत पाई' अर्थात सज्जन पुरुषों का संग पाकर मूर्ख भी सुधर जाते हैं । कालीदास कितना बड़ा मूर्ख था कि जिस डाल पर बैठा था उसीको काट रहा था । कुछ लोगों ने बड़े विचित्र ढंग से उसका विवाह विद्योत्तमा नाम की अद्वितीय विदुषी स्त्री के साथ करा दिया । एक ओर मूर्खता की पराकाष्ठा दूसरी ओर विद्वत्ता का चरम उत्कर्ष । पर इस सत्संग ने कालीदास के हृदय में विद्या अध्ययन की ललक जागृत कर दी और अंततः वह संसार के श्रेष्ठतम महाकवि बन गए । विषयों के कीचड़ में फंसे हुए तुलसीदास भी अपनी स्त्री के सत्संग से ही महात्मा तुलसीदास बने थे ।

सत्संग द्वारा न जाने कितने व्यक्तियों की जीवनधारा बदली है । जीवन को महान और दिव्य बनाने का सर्वोत्तम साधन विद्वानों का सत्संग है । कहा है-

चन्दनं शीतलं लोके, चन्दनादपि चंद्रमा ।
चन्दनन्द्रयोर्मध्ये शीतला साधुसंगतिः ॥

अर्थात चंदन शीतल है परंतु चंद्रमा चंदन से भी शीतल है

और श्रेष्ठ, साधु, विद्वान पुरुषों का संग इन दोनों से भी शीतल है । विद्वानों के पास ज्ञान का भंडार और अनुभव की ऊर्जा होती है जिससे वे किसी को भी अनुप्राणित कर सकते हैं । हर प्रकार की समस्याओं का समाधान कर सकने की सामर्थ्य उनमें होती है । वे धीर, गंभीर और संयमी होते हैं तथा हर प्रकार से सहयोग व सहकार के लिए तत्पर रहते हैं । उनकी एक मृदु मुस्कान ही मनुष्य को उसके दैहिक, दैविक, भौतिक तापों से मुक्त करके उसे शांति पहुंचाने में समर्थ होती है। उनके संसर्ग से लाभ ही लाभ होता है ।

इस रोग-भोग ग्रस्त संसार में सच्चे विद्वानों का सत्संग मिलना भी बड़ा दुर्लभ है । दुष्ट, दुर्जन, ढोंगी, मक्कार व्यक्ति जो लाल-पीले वस्त्र पहनकर तिलक चंदन लगाकर लोगों को बहकाते रहते हैं, हर जगह मिल जाते हैं । ऐसे व्यक्तियों का कुसंग पाप को बढ़ाता है, बुद्धि को मलिन कर देता है, कीर्ति को नष्ट कर देता है, नीति का हनन करता है, कुनीति को बढ़ाता है और क्रोध को उग्रता प्रदान करता है । कुसंगति से मनुष्य के लोक-परलोक दोनों का नाश हो जाता है।

कीकर के वृक्ष के नीचे बैठने से कांटा ही लगता है । उसी प्रकार दुष्ट जनों की संगति से कष्ट होना निश्चित है । दुष्ट एवं दुराचारी प्रकृति के लोगों से सदैव दूर रहना चाहिए । जो नास्तिक हैं, वेद, धर्म और ईश्वर के विरोधी हैं, ऐसे व्यक्तियों के पास बैठने से हमें केवल कुविचारों के और क्या प्राप्त हो सकेगा । यदि जीवन में कुछ करना है, महान बनना है तो हमें सज्जन, सदाचारी, विद्वान लोगों का ही सत्संग करना चाहिए ।

सत्संग चरित्र निर्माण में सहायक होता है ।

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्याऽअपेशसे ।
समुषद्भिरजायथाः ॥

(यजुर्वेद २९/३७, ऋग्वेद १/६/३, सामवेद १४७०,
अथर्व वेद २०/६९/११)

भावार्थ-*जो पुरुष अपने ही समान दूसरों को भी सुखी देखने की कामना रखते हैं, उनके पास रहने से विद्या प्राप्त होती है और अज्ञान का अंधकार दूर होता है, धन प्राप्त होता है और दरिद्रता का विनाश होता है । अतएव हम सब आत्मदर्शी महापुरुषों के समीप रहें ।*

संदेश-आत्मदर्शी पुरुष तो आज कहीं दिखाई ही नहीं देते । जिसे देखो वही आत्मा को भूलकर केवल अपने शरीर की पूजा करने में व्यस्त है । निरंतर उसे सजाने-संवारने में, इंद्रियों की लालसापूर्ति में, कामनाओं को पूरा करने की तिकड़म में ही लगा रहता है । पर यह शरीर है क्या ? इस शरीर में और मृत्यु के बाद इसके शव में क्या अंतर है ? कुछ भी तो नहीं । शरीर की जीवंतता किससे है ? जब तक इसमें आत्मा की चेतनता है, शरीर की भी सार्थकता है अन्यथा वह शव है । फिर उसमें क्या रह जाता है ? न ज्ञान है, न रूप है, न भावना है और न ही कोई संवेदना है । उसे तो छूने मात्र से मनुष्य अपवित्र हो जाता है ।

उस परमपिता परमात्मा का ही अंश, वह आत्मा जब तक इस मरणशील, अरूप, असुंदर शरीर में रहता है तो वही इसे रूप सौंदर्य की आभा प्रदान करता है । ज्ञानरहित अवस्था वाले इस शरीर में ज्ञान और जीवन लाता है । परमात्मा ही अपनी समस्त जागृत शक्तियों के साथ इसमें चेतनता के रूप में उदय होता है । उसके समाए रहने के कारण, उसके संस्पर्श से ही इस शरीर

की पवित्रता है । यह उस परमेश्वर का कितना अद्‌भुत माहात्म्य है । मनुष्य अज्ञान के अंधेरे में भटकता हुआ इस परम सत्य को समझ ही नहीं पाता । जो इसे समझ लें, ऐसे आत्मदर्शी पुरुष बिरले ही होते हैं । कम भले ही हों, फिर भी ऐसे महापुरुष अब भी मिल ही जाते हैं । उन्हें खोजने का जो प्रयास करते हैं उन्हें ही इसमें सफलता मिलती है । पर जो इसका प्रयत्न ही नहीं करते और हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं, वे सामने आने पर भी महापुरुषों को पहचान नहीं पाते ।

ऐसे महापुरुषों का सत्संग पारस पत्थर के समान जीवन को सोने की तरह चमका देता है, अविद्या के अंधेरे से निकाल कर विद्या के स्वर्णिम प्रकाश में पहुंचा देता है, जीवन की सार्थकता और उपयोगिता का ज्ञान करा देता है । इससे जीवनोद्देश्य की प्राप्ति में आशाजनक प्रगति होने लगती है । दोष, दुर्गुणों और कुविचारों के झाड़-झंखाड़ मन में बेरोकटोक नहीं बढ़ पाते और मानसिक शक्ति व आत्मबल के तेज की गरमी से सूख जाते हैं । उनके स्थान पर सदगुणों और सत्प्रवृत्तियों के सुंदर सुगंधित पुष्पों के खिलने से मन की बगिया आनंद व प्रफुल्लता से भर जाती है । गुण, कर्म और स्वभाव में उत्कृष्टता और आदर्शवादिता का अधिकाधिक समावेश होने से मानव में इस संसार को, भगवान के इस विराट रूप को और अधिक सुरभित, सुगंधित एवं सुविकसित करने की उमंग उठती है । लोकमंगल के लिए, परमार्थ प्रयोजन के लिए, समाज में फैले अज्ञान, अनाचार और पिछड़ेपन को दूर करने के लिए फिर वह अपनी सारी क्षमता और प्रतिभा का नियोजन हंसते-हंसते करने लगता है ।

सत्संग के प्रभाव से सारा समाज ही स्वर्ग बन जाता है ।

पावमानीः स्वस्त्ययनीस्ताभिर्गच्छति नान्दनम् ।
पुण्याँ श्च भक्षान्भक्षयत्यमृतत्वं च गच्छति ।।

(सामवेद १३०३)

भावार्थ-जिससे मनुष्य के विचार सत्कर्म की ओर प्रेरित होते हों, ऐसे साहित्य के स्वाध्याय से स्त्री पुरुषों को आनंद मिलता है। वे जीवन भर उत्तम पदार्थों का सेवन करते हुए अंत में मोक्ष लाभ प्राप्त करते हैं ।

संदेश-मनुष्य का मन कोरे कागज, स्लेट या फोटोग्राफी की प्लेट की तरह है । जो परिस्थितियां, घटनाएं एवं विचारणाएं सामने आती हैं उन्हीं का प्रभाव उस पर अंकित होता चला जाता है और वैसी ही मनोभूमि बन जाती है । व्यक्ति स्वभावत: न तो बुद्धिमान है और न मूर्ख, न भला है और न बुरा । वस्तुतः वह बहुत ही संवेदनशील प्राणी है । समीपवर्ती प्रभाव को ग्रहण करता है और जैसा कुछ वातावरण मस्तिष्क के सामने छाया रहता है उसी ढांचे में ढलने लगता है । उसकी यही विशेषता परिस्थितियों की चपेट में आकर कभी अध:पतन का कारण बनती है और कभी उत्थान का । ईश्वर भक्ति, सत्संग और स्वाध्याय से ही उत्थान का मार्ग प्रशस्त होता है ।

स्वाध्याय शब्द के दो अर्थ हैं । पहला वेद और वेद सम्मत सद्ग्रंथों का अध्ययन और दूसरा स्व-अध्ययन अर्थात स्वयं का अपना अध्ययन, आत्म निरीक्षण । प्रति दिन कुछ क्षण अपना आत्म निरीक्षण करने से व्यक्ति अपने दोषों को देखने की प्रवृत्ति बना लेता है और उन्हें दूर करने का प्रयास भी करता है ।

सद्ग्रंथों का पाठ ही स्वाध्याय का मुख्य अर्थ है । सद्ग्रंथों का पाठ अमृतपान के समान होता है और जीवन के गहन अंधकार में प्रकाश स्तंभ का काम करता है । अच्छे ग्रंथों का पाठ मनुष्य की

ऊर्ध्वगति का आधार होता है जबकि बुरे ग्रंथों का पठन-पाठन उसकी अधोगति का कारण बनता है । अच्छी पुस्तकें सच्चे मित्र के समान होती हैं और उसकी आध्यात्मिक एवं नैतिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करती हैं । चारों ओर व्याप्त आसुरी भावनाएं और घटनाएं हमें निकृष्ट मान्यताएं और गतिविधियां अपनाने का प्रोत्साहन देती हैं । इस दुष्प्रभाव को काटने के लिए महापुरुषों का सत्संग और उनकी पुस्तकों का स्वाध्याय रामबाण औषधि का कार्य करता है । ऐसी पुस्तकों के अध्ययन और उनके विचारों के चिंतन-मनन से वास्तव में हमारा मन उस महापुरुष से भावनात्मक तादात्म्य स्थापित कर लेता है जिससे हमारे व्यक्तित्व, चरित्र और मनोबल में उत्कृष्टता की दिनोंदिन वृद्धि होती जाती है । सत्साहित्य ने अगणित व्यक्तियों को ऊंचे उठने और आत्मबल संपन्न हो सकने का अवसर दिया है । भगवान श्री कृष्ण की गीता के ज्ञान से अकेले अर्जुन को ही लाभ नहीं मिला अपितु इस महान ग्रंथ ने विश्व के करोड़ों-अरबों व्यक्तियों को जीवन लक्ष्य प्राप्त करने में सहायता दी है ।

विडंबना यह है कि आजकल सड़े-गले, अप्रासंगिक, अश्लील और बेतुके विचारों की किताबें ही सर्वत्र उपलब्ध हैं । सस्ते मनोरंजन के नाम पर लोग उनमें ही रुचि लेते हैं । स्वाध्याय के लिए चुना हुआ अच्छे विचारों का साहित्य ही प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए । नित्य नियमित एक घंटा स्वाध्याय के लिए लगा सकें तो थोड़े ही समय में मनुष्य के विचारों की उत्कृष्टता प्रदर्शित होने लगती है ।

स्वाध्याय को जीवन का अभिन्न अंग और दैनिक कर्म बनाना चाहिए ।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥

(अथर्व वेद ३/३०/४)

भावार्थ-विद्वान कभी लड़ते-झगड़ते या ईर्ष्या द्वेष नहीं करते । मनुष्यों के विचार समान हों इसलिए सद्साहित्य के स्वाध्याय की आवश्यकता है ।

संदेश-संसार में भिन्न-भिन्न विचारधारा के मनुष्य रहते हैं । परिस्थितियों के आकलन का, उनसे निष्कर्ष निकाल कर उन पर आचरण करने का हर एक का अलग अनूठा तरीका होता है । यह आवश्यक नहीं है कि हर व्यक्ति हमारे विचारों से सहमत हो जाए और उसी के अनुसार अपना आचरण भी करे । विचारों के टकराव से आपस में ईर्ष्या और द्वेष की भावना जन्म लेती है । आलोचना-प्रत्यालोचना का क्रम चलता है, कटुता बढ़ती है और उत्थान के मार्ग में बाधाएं उपस्थित होती हैं । मिथ्याज्ञान, मिथ्याभिमान, मिथ्याभाषण और झूठ के प्रति दुराग्रह के फलस्वरूप लोग एक दूसरे की निंदा करते हैं । निंदा करने से आत्मा मलिन होती है और बार-बार दूसरे की बुराई का बखान करते रहने से स्वयं में भी वही बुराई आ जाती है ।

आध्यात्मिक विद्वान व्यक्तियों को अपने भौतिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए द्वेषभाव का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए । जहां द्वेष होता है वहां ईर्ष्या, मद, मात्सर्य और शत्रुता होती है । शत्रुता से संदेह और भय उत्पन्न होता है । अपने को निर्भय रखने के लिए यह आवश्यक है कि पहले अपने हृदय को द्वेष की भावना से मुक्त करें । प्रेम प्रेम को जन्म देता है और घृणा घृणा को । प्रेम का वातावरण ही निर्भयता का सुखद विकल्प होता है ।

समाज में निर्भयता, सुव्यवस्था और सुख शांति के लिए ऐसे व्यक्तियों का तिरस्कार किया जाना चाहिए जो सदा ईर्ष्या-द्वेष में फंसे रहते हैं और सर्वत्र कलह का वातावरण निर्मित करते हैं । ऐसे व्यक्ति अपनी स्वार्थ प्रधान भावना के कारण निरंतर दूसरों का शोषण करते रहते हैं, उन्हें परस्पर विवाद और कलह में फंसाए रहते हैं और नीचा दिखाने का प्रयास करते रहते हैं ।

सत्साहित्य के स्वाध्याय में ही यह शक्ति है कि वह मनुष्य के विचारों को एक सर्वोपयोगी मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित कर सकती है । इससे वास्तविक ज्ञान प्राप्त करके उनकी मत भिन्नता दूर होती है और चिंतन को सही दिशा मिलती है । स्वाध्याय के माध्यम से मन-मस्तिष्क पर जमी हुई भ्रम व भ्रांति की कालिमा दूर हो जाती है, बौद्धिक भूख शांत होती है और मानसिक उत्कृष्टता का विकास होता है । इससे समाज में उदार सहकारिता की भावना का विकास होता है और संदेह व भय के स्थान पर प्रेम एवं विश्वास की जड़ें गहरी होती हैं, आपसी भाईचारे में वृद्धि होती है । स्वाध्याय कल्पवृक्ष के समान है । उसकी छाया में बैठने से मनचाहे फल की प्राप्ति होती है, समस्त चिंताएं दूर होती हैं और जीवन में मधुरता व सात्विकता आती है । स्वाध्याय के द्वारा हमें ऐसे विद्वानों का सत्संग भी प्राप्त होता है जो सैकड़ों हजारों वर्ष पूर्व इस धरती की शोभा थे । इनकी पुस्तकों के द्वारा हमारा संपर्क उनसे जुड़ जाता है और ऐसा प्रतीत होता है मानों हम प्रत्यक्ष उनसे वार्ता कर रहे हों तथा वे हमारी समस्याओं के समाधान का मार्ग सुझा रहे हों ।

अच्छे साहित्य को पढ़ने का क्रम नित्यकर्म की तरह अपनी दिनचर्या में सम्मिलित कर लें ।

सूररसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥

(अथर्व वेद २/११/४)

भावार्थ-मानव जीवन को सार्थक बनाने के लिए, हे मनुष्यो ! ज्ञान प्राप्त करो, तेजस्वी बनो और शारीरिक दृष्टि से बलवान बनो । अपनी वर्तमान स्थिति से संतुष्ट न होकर आगे बढ़ने का प्रयास करते रहो ।

संदेश-प्राचीनकाल में अध्ययन समाप्त करके शिष्य जब गुरुकुल से बिदा होते थे तो गुरु उन्हें उपदेश करते थे 'सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः' अर्थात सत्य बोलो, धर्म से चलो और स्वाध्याय में कभी भी आलस न करो । यह उपदेश उचित भी है । कितना भी ज्ञान प्राप्त किया हो किंतु यदि उसे सतत परिमार्जित न किया जाए तो कालांतर में वह निरुपयोगी हो जाता है । बर्तन केवल एक बार मांजने धोने से काम नहीं चलता । वातावरण का प्रभाव उसे मलिन कर देता है । उसे स्वच्छ और उपयोगी रखने के लिए नित्य मांजना धोना पड़ता है । इसी प्रकार ज्ञान को भी स्वाध्याय के द्वारा प्रखर न किया जाए तो उस पर भी अज्ञान की गर्द जमने लगती है तथा अभ्यास न रहने से वह विस्मृति के गर्त में जाने लगता है ।

स्वाध्याय के लिए सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ तो वेद ही हैं । वेद का एक अर्थ ज्ञान भी है । यह ज्ञान ईश्वर का प्राण है, अनादि और अनंत है । प्रतिभावान ऋषि-मुनियों द्वारा गहन एवं उग्र तपश्चर्या करके जीवन भर के अध्ययन द्वारा संपादित ज्ञान का संग्रह ही वेद हैं । वेदों में संसार का समस्त कला, कौशल, विज्ञान, राजनीति, धर्मनीति आदि विषयों का समग्र ज्ञान संग्रहीत है । भूत, वर्तमान

और भविष्य के किसी भी विषय पर नवीनतम प्रकाश डालने की सामर्थ्य वेदों में है ।

मानवी जीवन में उपस्थित होने वाली विभिन्न समस्याओं का अध्ययन और उनके समाधान का मार्ग खोजने की विधा हमें स्वाध्याय से प्राप्त होती है । स्वाध्याय पुस्तकों के तोता रटंत अथवा पांडित्य प्रदर्शन को नहीं कहते हैं । महापुरुषों के विचारों को पढ़कर उनका मनन, चिंतन करने से सरल शब्दों के भी अनंत, अज्ञात अर्थ प्रकट होते हैं । ज्ञान की उपासना करने की सर्वोत्कृष्ट विधि स्वाध्याय ही है ।

आजकल स्वाध्याय की बात कौन कहे, विद्यालयों में पाठ्य पुस्तकों का भी पूरी तरह अध्ययन बहुत कम होता है । न तो शिक्षक ही विषय का सर्वांगीण अध्ययन करके पारंगत होते हैं और न छात्र ही कोई रुचि लेते हैं । परीक्षा में पास होने भर को गाइड बुक ले ली, कुछ प्रश्न उत्तर रट लिए या फिर नकल का सहारा ले लिया । पास हो गए तो हर गंगे । अधिकांश शिक्षकों ने शिक्षा को केवल व्यवसाय बना लिया है । पास होने भर का ही ज्ञान वह छात्रों को देते हैं । इससे अधिक उनके पास होता भी नहीं । जब कुंए में ही पानी न हो तो डोल में कहां से आवेगा । अधिकतर यही स्थिति है । इसी का परिणाम है कि समाज में आजकल ज्ञान कम और अज्ञान अधिक है । सर्वत्र फैले भ्रष्टाचार का यह भी एक कारण है ।

स्वाध्याय की प्रवृत्ति दिन प्रति दिन समाज में गिरती जा रही है । लोगों के पास रुपये-पैसे की कमी नहीं है । सुख-समृद्धि के अनेकानेक साधन उपलब्ध हैं । घरों में दुनिया भर का सामान मिल जाएगा पर अच्छी पुस्तकें शायद ही किसी घर में देखने को

मिलें । आज अध्ययनशीलता का यथार्थ वातावरण कहीं दिखाई ही नहीं देता ।

वस्तुतः मानवी जीवन में ग्रंथों का असाधारण स्थान होता है । ग्रंथों में मानव की मानवता संचित रहती है । सद्ग्रंथ संस्कार देते हैं, मनुष्य को उपदेश देते हैं, सत-असत का विवेक सिखाते हैं। सुख के समय उसके आनंद में वृद्धि करते हैं, दुख के समय नाना प्रकार से सहानुभूति दर्शा कर उसका दुख घटाते हैं । यदि उचित रीति से एकाग्रता पूर्वक स्वाध्याय किया जाए तो मनुष्य में ओज और तेज की वृद्धि होती है । मानसिक एवं शारीरिक बल बढ़ता है तथा मानव जीवन सार्थक होता है ।

स्वाध्याय से मनुष्य का चरित्र सोने के समान चमकने लगता है । उससे सद्गुणों की वृद्धि होती जाती है और दोष-दुर्गुणों से छुटकारा मिलता है । वास्तविकता का ज्ञान हो जाने से दुर्व्यसनों के प्रति स्वतः ही अरुचि होने लगती है । इससे शारीरिक स्वास्थ्य भी बढ़ता है और सुख-समृद्धि में भी अभिवृद्धि होती है । मनुष्य तेजस्वी, ओजस्वी और वर्चस्वी होता है ।

चरित्र मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ निधि है । इसकी रक्षा अपनी जीवन रक्षा से भी अधिक महत्वपूर्ण है । जो इसमें सफल होता है वही जीवन लक्ष्य तक पहुंच कर संसार में यशस्वी बन सकता है ।

वेदों का दिव्य संदेश

खंड-४

दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन

दुष्प्रवृत्तियां और दुर्व्यसन हंसते-खेलते
मानव जीवन को नरक बना देते हैं ।
इनसे छुटकारा पाने की प्रेरणा
देने वाले मंत्रों का संकलन
और उन पर विचार ।

प्रत्युष्ट थ्वं रक्षः प्रत्युष्टा ऽ अरातयो निष्टप्त थ्वं रक्षो निष्टप्ता ऽ अरातयः । उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥

(यजुर्वेद १/७)

भावार्थ-मनुष्यों का यह कर्तव्य है कि वे अपना दुष्ट स्वभाव त्यागकर, विद्या और धर्म के प्रसार के द्वारा दूसरों को भी अधर्म और दुष्टता के व्यवहार से बचाने का प्रयत्न करें । ज्ञान और सुख देकर सभी व्यक्तियों को विद्यावान, धर्मशील और पुरुषार्थवान बनाना ही हमारा परम कर्तव्य है ।

संदेश-मानव जीवन सतत संघर्ष और आंतरिक अंतर्द्वंद्व की कहानी है । अंतरात्मा की पुकार और इंद्रिय सुख के प्रलोभन के मध्य निरंतर एक रस्साकशी होती रहती है । हम दृढ़तापूर्वक परम लक्ष्य की ओर अग्रसर होना चाहते हैं किंतु बाह्य जगत के प्रलोभन हमें विपरीत दिशा मे खींचते हैं । शरीर हमारे मानसिक आदर्शों के साथ सहयोग नहीं करता और हम इच्छाओं, वासनाओं के दास बन जाते हैं । इंद्रिय सुख के पीछे भागते रहने से अंततः हमारा विनाश हो जाता है । हम यह भूल जाते हैं कि शाश्वत आनंद की प्राप्ति इंद्रिय सुख के त्याग में है न कि इंद्रिय सुख के भोग में ।

परमपिता परमेश्वर ने हमें यह दुर्लभ मानव जन्म क्या केवल अपने इंद्रिय सुख के लिए भटकने और तिकड़में लड़ाने हेतु ही दिया है ? 'खाओ, पिओ और मौज करो' क्या यही इस जीवन का लक्ष्य है ? अपनी इच्छाओं और लालसाओं की पूर्ति के लिए हम हर प्रकार के उचित-अनुचित कार्य करते रहते हैं पर क्या इससे हमारी तृप्ति हो जाती है ? नहीं, एक के बाद एक, हमारी इच्छाएं हनुमानजी की पूंछ के समान बढ़ती ही जाती है, आग और तेज होती जाती है । क्या उन्हें शांत कर सकना संभव हो पाता है ? यही तो मानव जीवन की विडंबना है कि हम अपनी अंतरात्मा की पुकार को अनसुना करके परमानंद की प्राप्ति के मार्ग से

भटककर क्षणिक सुख के प्रेय मार्ग पर चल निकलते हैं । माया, मोह, लोभ में फंसकर भौतिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति को ही सच्चा सुख समझते रहते हैं । इसके लिए हर प्रकार के दुराचार और दुष्ट आचरण करने में हमें जरा भी हिचक नहीं होती । इससे अपनी भी हानि होती है और समाज में भी हर ओर अराजकता, कष्ट, क्लेष और दुख का वातावरण बनता है ।

ईश्वर की यह आज्ञा थी कि मनुष्य अपने दुष्ट स्वभाव का त्याग करे और ज्ञानवान तथा धर्मशील बनकर स्वयं अपना भी उत्थान करे और अपने परिवार एवं समाज में भी सबको उन्नति के श्रेय मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे । ईश्वर की यही दिव्यवाणी हमारी अंतरात्मा से निरंतर निकलती रहती है पर यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि हम उसे सुनते ही नहीं और यदि सुनते भी हैं तो सुनकर अनसुना कर देते हैं । इस दिव्य संदेश के अनुपालन में जब हम अपने दोष-दुर्गुणों को नष्ट करने के पुरुषार्थ में जुट जाते हैं तो ईश्वरीय सहयोग सहज ही प्राप्त होता है । प्रभु कृपा से सफलता भी मिलती है ।

यदि हम जीवन के परमसुख का आनंद लेना चाहते हैं तो उसका एकमात्र मार्ग यही है कि हम अपने जीवन में दोष, दुर्गुणों और दुष्प्रवृत्तियों को घुसने ही न दें और जो भीतर घुसे हुए हैं उन्हें खोज-खोजकर कठोरतापूर्वक अपने जीवन से निकाल कर बाहर फेंक दें । कुविचारों और कुसंस्कारों को अपने पास फटकने भी न दें । यह तभी संभव है जब हम आत्मनिरीक्षण का स्वभाव बना लें । प्रतिदिन अपने आचरण की समीक्षा करें और जो भी बुराइयां दिखाई दें उन्हें पूरी ईमानदारी से छोड़ने का संकल्प लें तथा उस संकल्प का दृढ़तापूर्वक पालन करें ।

आत्मा की पुकार सुनने का यही तरीका है ।

यथा वातश्च्यावयति भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम् ।
एवा मत्र सर्वं दुर्भूतं ब्रह्मनुत्तमपायति ॥

(अथर्व वेद १०/१/१३)

भावार्थ-मनुष्य सदुपदेश ग्रहण करने में देर न करे और दुष्कर्मों का त्याग शीघ्रता से करे ।

संदेश-कुछ लोग सोचते हैं कि वे आध्यात्मिक जीवन में किसी भी प्रकार की प्रगति नहीं कर सकते क्योंकि वे बुरे संस्कारों के साथ जन्मे हैं तथा उनका जीवन विफलताओं में ही समाप्त हो जाएगा । सोचने का यह तरीका पूरी तरह से गलत है । हमें इस भावना को सकारात्मक विचारों के द्वारा प्रभावहीन कर देना चाहिए । जिस प्रकार वायु का एक झोंका धूल कणों को उड़ा ले जाता है और आकाश के मेघों को कहां से कहां पहुंचा देता है, उसी प्रकार हमें सद्विचारों की आंधी से मन के कुविचारों को भगा देना चाहिए ।

प्रत्येक मनुष्य के अंदर दैवी और आसुरी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियां होती हैं । देवासुर संग्राम सतत मन में चलता रहता है । तुच्छ लाभों और इंद्रिय सुख के चक्कर में पड़कर हम स्वयं ही आसुरी वृत्तियों को शक्ति प्रदान करते रहते हैं और उन्हीं के बलबूते वे दैवी भावनाओं को दबाए रहती हैं । हमें अपने अंदर विद्यमान देवत्व का ही बार-बार चिंतन करना चाहिए और उसे अधिकाधिक पुष्ट बनाने का प्रयास करते रहना चाहिए । हमें सोचना चाहिए कि पवित्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है । मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही बन जाता है ।

मनुष्य का जन्म तो सहज होता है, पर मनुष्यता उसे कठिन प्रयत्न से प्राप्त करनी पड़ती है । हमें भी अपने को पवित्र और सुसंस्कारी बनाए रखने के लिए सतत कठिन परिश्रम करना होगा

और सदैव सतर्क रहना होगा । छोटी से छोटी बुराई आगे चलकर हमारे स्वभाव का अंग बन जाती है और बाद में हमें भारी क्षति उठानी पड़ती है । ऐसी घातक उत्तेजनाओं से सावधानीपूर्वक बचे रहना हमारा कर्तव्य है । हमारा मन बड़ा चंचल होता है । उस पर एक क्षण के लिए भी विश्वास नहीं किया जा सकता । कभी-कभी बुराई सूक्ष्म रूप में गुण, दया और मित्रता के रूप धारण करके हमें मोहित करती है । ये तो अच्छी बातें हैं पर यदि हम सतर्क नहीं रहते तो इनसे आसक्ति व मोह की भावना जन्म ले लेती है जो दया और मित्रता की मूल भावना को दबाकर लोभ और स्वार्थ की ओर प्रेरित कर देती है ।

असली आध्यात्मिक जीवन के लिए अत्यधिक आत्मसंयम एवं पवित्रता की आवश्यकता है । इसकी कीमत चुकानी होती है, इसमें किसी प्रकार की सौदेबाजी की गुंजाइश नहीं है । अपने सांसारिक कर्तव्यों का पालन करते हुए आत्मसंयम को अपनाना होता है । संयमित जीवन से ही वास्तविक आत्म विकास संभव है । कई बार हम सोचते हैं कि यदि हम मन, वचन और कर्म में संयम और पवित्रता रखेंगे तो हम संसार के अनेक सुखों से वंचित रह जाएंगे अत: हमें संसार का मजा लेना चाहिए । यही हमारी मौलिक भूल है । हम यह भूल जाते हैं कि वास्तविक आनंद असंयम में नहीं अपितु आत्मसंयम का जीवनयापन करने में है । सद्ग्रंथों के स्वाध्याय एवं सत्पुरुषों के सत्संग से, विद्वानों के सदुपदेश से ही आत्मसंयम में मनुष्य की प्रवृत्ति बढ़ती है । हमें अपने आंख-कान खुले रखकर सदैव अच्छी बातों को ग्रहण करते रहना चाहिए ।

आत्मसंयम के द्वारा ही दुष्कर्मों का त्याग संभव है ।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा थ्धं सस्तनूभिर्व्यशेमहि
देवहितं यदायुः ॥

(ऋग्वेद १/८९/८, यजुर्वेद २५/२१, सामवेद १८७४)

भावार्थ-हम विद्वान पुरुषों के साथ रहकर सुंदर शब्द सुनें, सत्य देखें और परमात्मा की उपासना करें ताकि हमारी आयु लंबी हो । हम असत्य संभाषण न करें, झूंठी प्रशंसा न सुनें, खोटा न देखें और व्यभिचार की ओर हमारी प्रवृत्ति न हो ।

संदेश-परमात्मा ने यह मानव शरीर क्यों निर्मित किया है ? इसलिए कि हम देवताओं के समान जीवन जीते हुए दीर्घ आयु प्राप्त करें । ब्रह्मा ने सभी जीवों की आयु निर्धारित कर दी है। मनुष्य को सामान्यतः उसने सौ वर्ष का जीवन दिया है । यह मनुष्य के अपने हाथ में है कि वह इस जीवन को सुख-समृद्धि से भरकर दैवी आचरण करते हुए सौ वर्ष से भी अधिक बढ़ा ले या फिर अपने दुराचार में फंसाकर मानसिक व शारीरिक रोगों के द्वारा उसे जल्दी ही नष्ट कर दे । दैवी आपदाओं और दुर्घटनाओं में अकाल मृत्यु की बात अलग है ।

मानव शरीर में दुर्गुणों, दुराचरणों और दुष्प्रवृत्तियों की ओर आकर्षित होने की स्वाभाविक लालसा रहती है । कुविचार और कुसंस्कार अपनी मायावी चमक दमक से भ्रमित करके अपने जाल में फंसाते हैं । तरह तरह के आकर्षक, मादक, मोहक और लुभावने प्रलोभन इमारी इंद्रियों को ठगते हैं और कुमार्गगामी बनाते हैं । इंद्रियों पर से हमारा नियंत्रण समाप्त हो जाता है । अनियंत्रित इंद्रियां अपनी स्वाभाविक एवं आवश्यक मर्यादा का उल्लंघन करके

इतनी स्वेच्छाचारी एवं चटोरी हो जाती हैं कि वे स्वास्थ्य और धर्म के लिए संकट उपस्थित कर देती हैं ।

इंद्रियों का नियंत्रण स्वर्ग का द्वार है । यही ईश्वर की सच्ची उपासना है । इसी से जीवन में सुख, शांति और उल्लास का वातावरण बनता है । इंद्रियों की उच्छृंखलता से सर्वत्र अशांति और अंधकार छा जाता है तथा मनुष्य नरकवासी बन जाता है । मनुष्य को हर समय आत्म संयम तथा इंद्रिय निग्रह को ही प्राथमिकता देनी चाहिए । हम अपने कानों से सदा भद्र, अच्छी बातें ही सुनें । जो उचित हैं, कल्याणकारी हैं, सर्वहितकारी हैं, ऐसे विचारों को ही ग्रहण करें । नेत्रों से भी अच्छी, शुभ वस्तुओं को ही देखें । अनुचित बातों की ओर ध्यान न दें । कामुक दृष्टि तथा ऐसे दृष्यों के अश्लील चिंतन से अपना सर्वनाश न करें । हमारे हाथ-पैर, शरीर के प्रत्येक अंग केवल अच्छे, परोपकार एवं परमार्थ के कार्य ही करें । अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए कभी भी कोई अनुचित कार्य न करें । किसी भी जीव को कष्ट न पहुंचाएं ।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम अपनी इंद्रियों को कुचल दें वरन उनका उचित और संयमित सदुपयोग करें । इससे सभी अंग-प्रत्यंग स्वस्थ एवं पुष्ट होते हैं । तथा शरीर बलवान, ओजस्वी व तेजस्वी बनता है । इस प्रकार मनुष्य दीर्घ आयु तक जीवित रहकर संसार में उपकार के कार्य करता रहता है । परमपिता परमेश्वर ने जन्म के समय हमें जो मनोवृत्तियां दी हैं वे सब अत्यंत उपयोगी एवं महत्वपूर्ण है । उनको उचित रीति से प्रयोग में लाने से ही हम सुख शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकते हैं ।

भगवान हमें अपनी इंदियों को वश में करने की शक्ति प्रदान करें।

एवा त इन्द्रोचथमहेम श्रवस्या
न त्मना वाजयन्तः ।
अश्याम तत्साप्तमाशुषाणा
ननमो वधरदेवस्य पीयोः ॥

(ऋग्वेद २/१९/७)

भावार्थ-*जो मनुष्य अनुचित शब्द नहीं बोलते, बुरी वस्तुओं को ग्रहण नहीं करते, श्रेष्ठता की पूजा करते हैं एवं असत् तत्त्वों को निकालकर बाहर भगा देते हैं ओर जिनका ज्ञान सात्विक है वही आप्त पुरुष कहे जाते हैं ।*

संदेश-इस संसार में विभिन्न प्रकार के लोग रहते हैं । इनमें से कुछ ऐसे भी हैं जो जीवन के केवल भौतिकवादी मार्ग में ही विश्वास करते हैं । वे परम लक्ष्य की ओर ध्यान ही नहीं देते और इसीलिए उनमें किसी प्रकार का कोई द्वंद्व भी नहीं होता । जब तक वे अपने भीतर अंतरद्वंद्व की अनुभूति करना आरंभ नहीं करते तब तक उनके लिए कोई आशा नहीं । आत्मा तो उस परम तत्व को पाना चाहती है परंतु हमारी शारीरिक रचना ही इस प्रकार हुई है कि हमारी इंद्रियां जिन वस्तुओं के संपर्क में आती हैं उनके आकर्षण मात्र से ही हमारा अधोपतन हो जाता है । इंद्रियों को वश में रखने की कला ही भारतीय संस्कृति है ।

संस्कृति क्या है ? संस्कार, परिष्कार और संशोधन को संस्कृति कहते हैं । कृषि में अनावश्यक घास-फूस को खोदकर निकाला जाता है और उपयोगी बीजों को बोया जाता है तथा उन्हें उचित खाद-पानी देकर पुष्ट किया जाता है । इसी प्रकार मानव जीवन से अवांछनीय तत्त्वों, दुर्गुण, दोष आदि को हटाया जाता है और उनके स्थान पर सदगुणों को प्रतिष्ठित किया जाता है । दुर्गुण

निवारण और सदगुण संस्थापन ही हमारी संस्कृति का मूल है । हमें हर समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अपने जीवन में दुर्गुणों, दुर्विचारों और दुखदायी तत्त्वों को न रहने दें और सदैव शुभ तत्त्व, शुभ विचार, सद्‌गुण ही धारण किया करें । यह एक अनवरत प्रक्रिया है तथा यह क्रम जीवन भर चलता रहना चाहिए । जरा सी भी लापरवाही से कुविचार और कुसंस्कार पुनः अपना प्रभाव जमाने लगते हैं । यह संस्कृति जब हमारे स्वभाव का एक अंग बन जाती है, आवश्यक दिनचर्या के रूप में स्वतः सहज हो जाती है तो दुर्भावनाओं का क्षय हो जाता है तथा सद्‌गुण ही निरंतर स्थान पाते हैं । तभी मानव जीवन देवत्व की ओर अग्रसर होता है ।

जो व्यक्ति इस प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करके अपनी हीन दृष्टि का त्याग कर देते हैं और उच्च्व आदर्शवादिता का जीवन जीने का संकल्प लेते हैं वही ज्ञानी, विद्वान और आप्तपुरुष होते हैं । इंद्रियों पर नियंत्रण रहने से मन, वचन और कर्म पर भी उनका नियंत्रण रहता है और कोई भी अनुचित कार्य करने से उनकी आत्मा स्वयं उन्हें रोक देती है । वे शांत, धीर, गंभीर और मृदुभाषी होते हैं । ऐसे श्रेष्ठ व्यक्ति अपने आचरण से समाज में भी सर्वत्र दैवी भावनाओं का ही विकास करते हैं । तामसिक एवं राजसिक वृत्तियों के स्थान पर सात्विकता की सुगंध फैलाते हैं । इस प्रकार के सात्विक ज्ञान से उनका प्रत्येक कर्म सदाचार एवं परमार्थ का प्रतीक बनकर समाज में प्रतिष्ठित और प्रशंसित होता है तथा स्वर्गीय वातावरण का निर्माण करता है ।

दुर्गुणों को अपने जीवन से निकाल फेंकने में ही हमारी संस्कृति का गौरव है ।

आदित्यासो अदितयः स्याम
पूर्देवत्रा वसवो मर्त्यत्रा ।
सनेम मित्रावरुणा सनन्तो
भवेम द्यावापृथिवी भवन्तः ॥

(ऋग्वेद ७/५२/१)

भावार्थ-मनुष्य को चाहिए कि वह सदैव विद्वानों के संपर्क में वास करे, सत्य एवं असत्य का विवेक भाव जागृत रखे । सूर्य और पृत्वी के समान परोपकारी और प्राण व उदान के समान कल्याण करने वाला व्यक्ति ही महान कहलाने का अधिकारी होता है ।

संदेश-मानव जीवन के क्रिया कलाप बड़े ही विचित्र हैं । मनुष्य मन से जो चिंतन करता है उसे वाणी से कहता है, जो वाणी से कहता है उसे शरीर से करता है, जो शरीर से करता है उसके फल को प्राप्त होता है । यदि मनुष्य अच्छे फल को चाहता है तो अच्छे कर्म करे । यदि अच्छे कर्म करना चाहता है तो अपनी वाणी से अच्छे शब्दों का उच्चारण करे । यदि वह चाहता है कि उसकी वाणी से अच्छे शब्द ही निकलें तो वह अपने मानसिक चिंतन को सुधारे, अपनी मानसिक प्रवृत्तियों का परिष्कार करे, अपनी मानसिक धारणा को ऊंचा उठाए । मनुष्य को शरीर के नियंत्रण की चिंता नहीं करनी चाहिए । शरीर का नियंत्रण वाणी के नियंत्रण पर आधारित है और वाणी का नियंत्रण मानसिक नियंत्रण पर आधारित है । अतः सबसे बड़ी साधना मन के नियंत्रण की है । मन में जैसा चिंतन चलता है वैसे ही वाणी और शरीर करते हैं ।

अतः हमें उन मानसिक वृत्तियों को निर्धारित कर लेना चाहिए जिन पर मनुष्य की मनुष्यता को परखा जा सके । सारी नैतिकता इस एक शब्द 'मनुष्यता' के अंतर्गत आ जाती है । नैतिकता की परिधि

बहुत विस्तृत है अतः मनुष्यता को धारण करने के लिए हमें अपनी मानसिक प्रवृत्तियों का परिष्कार करना पड़ेगा ।

संसार में जितने भी जलचर, नभचर और भूचर हैं सब अपने भोजन और प्रजनन की क्रियाओं में ही व्यस्त रहते हैं । प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ मनुष्यों में भी अधिकांश इसी प्रकार का जीवनयापन करते दिखाई देते हैं । फिर मनुष्य और पशु में अंतर ही क्या रह जाता है ? ये पशु प्रवृत्तियां केवल अपठित और अशिक्षित व्यक्तियों में ही हों, ऐसा नहीं है । अपितु पाया तो यह जाता है कि पढ़े-लिखे, सभ्य समाज के लोग ही अधिक दुर्व्यसनी हैं । सत्य-असत्य का, उचित-अनुचित का, मर्यादा और संयम का कोई ध्यान नहीं रखते । केवल अपने इंद्रिय सुख के लिए, लोभ लालच की पूर्ति के लिए, पुत्रैष्णा, वित्तैष्णा और लोकैषणा के लिए वे संसार का कोई भी निकृष्ट कार्य कर सकते हैं । पाप का उन्हें भय नहीं, ईश्वर प्रदत्त कर्मफल की व्यवस्था का विश्वास नहीं, मानसिक चिंतन पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं । फिर जीवन में सुख शांति का वातावरण कैसे बने ? आत्मिक उन्नति किस प्रकार संभव हो ?

हमें चाहिए कि हम सदैव ज्ञानी, विद्वान पुरुषों के ही संसर्ग में रहें और अपनी विवेक बुद्धि को विकसित करें । जिस प्रकार सूर्य और पृथ्वी हर समय प्राणीमात्र के कल्याण के कार्य ही करते रहते हैं । इसमें उनका अपना कोई भी स्वार्थ नहीं होता उसी प्रकार हमें भी उचित और अनुचित का विचार करते हुए प्राणी मात्र के भले के कार्यों में ही अपने को नियोजत करने का प्रयास करना चाहिए । इस प्रकार कुविचार और कुसंस्कार हम पर हावी नहीं हो सकते ।

मनुष्य की मनुष्यता इसी में है ।

आ नो वयो वयःशयं महान्तं गह्वरेष्ठाम ।
महान्तं पूर्विणेष्ठामुग्रं वचो अपावधीः ॥

(सामवेद ३५३)

भावार्थ-*हमें विद्वान पुरुषों के सदुपदेश ग्रहण कर अपनी आत्मा और मन को निर्मल और पवित्र बनाना चाहिए । दोष और दुर्गुणों का नाश इसी प्रकार होगा ।*

संदेश-हम इस विचार को दृढ़ता से पकड़े रहते हैं कि 'मैं एक शरीर हूं और शरीर के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हूं ।' इसी विचार के कारण हम अधिकतर अपनी शारीरिक इच्छाओं की पूर्ति में तथा इंद्रिय सुख की लालसा में डूबे रहते हैं। जीवन के सारे क्रियाकलाप केवल इसी उद्देश्य की पूर्ति में लगे रहते हैं । इसके विपरीत ऋषि-मुनियों, संतो, विद्वानों का कहना है कि परम ज्ञान की स्थिति में विकसित होकर विचार यह हो जाता है कि 'मैं न शरीर हूं, न मन और न ही इंद्रिय । मैं तो सच्चिदानंदस्वरूप हूं, शुद्ध चैतन्य आत्मा हूं ।' जब विचार इतने परिपक्व हो जाते हैं तो चारों ओर प्रसन्नता, आनंद और परमानंद ही रह जाता है, दुख, क्लेष पूरी तरह समाप्त हो जाते हैं ।

परंतु संसारी व्यक्तियों के लिए इस प्रकार शरीर को भूलकर, इंद्रियों का दमन करके केवल आत्मा का ही ध्यान करते रहना संभव ही नहीं है । यदि सारे व्यक्ति ऐसा करने लगे तो जीवनयापन भी कठिन हो जाएगा । तब क्या कुछ लोग ही इस आदर्श का पालन करें और शेष नारकीय जीवन भोगते रहें ? नहीं, एक बीच का सरल मार्ग भी है कि 'मैं शरीर भी हूं और आत्मा भी ।' इस विचार के आ जाने से हम शरीर का भी ध्यान रखते है और आत्मा का भी । शरीर के साथ-साथ हमें हर समय यह ध्यान रहता है कि

परमात्मा का एक अंश हमारी आत्मा के रूप में हर समय हमारे साथ है । वह हमारे शरीर के प्रत्येक कार्य को, मन में उठने वाली प्रत्येक विचार तरंग को, निरंतर देखता रहता है । आत्मा का यह ज्ञान हमारे ऊपर एक अंकुश के समान रहता है और दुर्गुणों व दुष्कर्मों से हमें बचाता रहता है ।

कितना भारी अंतर है-कहां आत्मा को भूला हुआ व्यक्ति कुविचारों और कुसंस्कारों को ही जीवन का मूल उद्देश्य समझकर हर प्रकार के दुराचार व पापाचार में फंसा रहता है और कहां आत्मज्ञान से परिपूर्ण व्यक्ति सद्‌विचारों और सुसंस्कारों को ही अपनाता है तथा स्वयं उत्कृष्ट, श्रेष्ठ बनता है एवं समाज को भी उन्नति के पथ पर ले चलता है । ऐसे व्यक्तियों की आत्मा पवित्र होती है और मन दुर्गुणों से मुक्त होकर शुद्ध, निर्मल बन जाता है । वह संसार के भौतिक पदार्थों का उपभोग करता है पर 'त्यक्तेन भुञ्जीथा' की भावना से । केवल अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही यह भोग सीमित रहता है और शेष संसार के अन्य प्राणियों के लिए । अपनी इंद्रियों का भी संयमित एवं मर्यादित उपभोग करने से दुनिया में रहते हुए भी वह स्वर्गीय आनंद प्राप्त करता रहता है ।

इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है विद्वानों के सदुपदेश से, सद्‌ग्रंथों के स्वाध्याय से और वेद मंत्रों के चिंतन-मनन से । तभी संसार में रहते हुए भी मनुष्य अलिप्त रहता है । उसका दृष्टिकोण भिन्न हो जाता है । आत्मदृष्टि की आभा से जीवन देदीप्यमान हो उठता है । इससे उसके दोष-दुर्गुण स्वत: ही मैदान छोड़कर भाग खड़े होते हैं और उनके स्थान पर सद्‌गुणों की अभिवृद्धि होने लगती है ।

जीवन लक्ष्य की प्राप्ति का यह सर्वोत्तम साधन है ।

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः ।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥

(ऋग्वेद १०/१३७/१, अथर्व वेद ४/१३/१)

भावार्थ-*जो पददलितों को ऊपर उठाते हैं, अपराधियों को पापों से विमुक्त बनाते हैं वे संतजन महान हैं । ऐसे महापुरुषों के समीप रहकर, अपने दोष-दुर्गुण त्यागकर जीवन शोधन करें ।*

संदेश-नीचे की ओर बहना जल का सहज धर्म है । इसी तरह फिसलना, अवगुणों से लिप्त होना मानवी जीवन का सहज धर्म है । जल को यदि ऊपर चढ़ाना हो तो कोई न कोई शक्ति लगानी पड़ती है । वैसे ही शरीर, मन, बुद्धि और चित्त को बलपूर्वक मोड़कर मानवी जीवन उन्नत करना होता है । इन प्रयासों में धैर्यपूर्वक निरंतर लगे रहना होता है । मानवी जीवन में दोष दुर्गुणों का आना, कुविचारों का आक्रमण, कुसंस्कारों के प्रभाव से पापकर्मों की ओर आकर्षित होना सामान्य प्रक्रिया है । इसी प्रकार मनुष्य नीच कर्म, पाप और अपराध करता रहता है । एक बार उनके चंगुल में फंस जाने पर सरलता से छुटकारा नहीं होता । मन स्वयं ही पाप कर्मों के प्रलोभन व चकाचौंध से भ्रमित हो जाता है और पतन के मार्ग पर उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है ।

संसार में कोई भी मनुष्य एक बार कोई दुष्कर्म, पाप या अपराध कर देने से सदा के लिए पतित नहीं हो जाता । नैराश्य का कोई कारण नहीं है । उन्नति का मार्ग अवरुद्ध नहीं हो जाता । एक मार्ग बंद हो जाए तो अन्य अनेक मार्ग खुल जाते हैं । आवश्यकता केवल यही है कि हम सात्विक धैर्य के साथ निरंतर ऊपर उठने का प्रायस करते रहें । जीवन में जो दोष दुर्गुण आ गए हैं, कुविचार

और कुसंस्कार छा गए हैं, उन्हें समूल उखाड़ फेंकने का पूरी ईमानदारी से प्रयास करते रहें। प्रायः पतित होकर हम लोग निराश हो जाते हैं और समझने लगते हैं कि अब तो हमारा उद्धार हो ही नहीं सकता। जो बुराई आ गई है वह तो मरने पर ही समाप्त हो सकेगी। ऐसी नकारात्मक सोच केवल हमारे अज्ञान को ही प्रदर्शित करती है और इसका कोई भी आधार नहीं होता।

न तो मनुष्य सदा के लिए पतित होता है और न ही सदा के लिए मरता है। मृत्यु के बाद भी पुनर्जन्म होता है। सर्वशक्तिमान परमेश्वर में यह शक्ति है कि वह एक जीवन के बाद दूसरा जीवन प्रदान कर देता है। कभी कभी तो वह इसी जीवन में मृत्यु के मुख से मनुष्य के वापस खींच कर पुनः नया जीवन प्रदान कर देता है। उस परमपिता की शक्ति का एक अंश ही तो हमारी आत्मा है। हम भी पतित होकर बार-बार मरते रहने से अपने को बचाकर स्वयं को जीवन प्रदान कर सकते हैं। आत्मा की शक्ति से ही हमें यह पराक्रम कर सकने की सामर्थ्य मिलती है। पापी से पापी और पतित से पतित व्यक्ति भी प्रभु कृपा से पुण्यात्मा बन जाता है। तुलसीदास, वाल्मीकि, अंगुलिमाल आदि के उदाहरण हमारे सामने हैं।

जो संत, महात्मा, गुरुजन और विद्वान समाजसेवी लोगों को उन्नति के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करते रहते हैं उनमें प्रचंड आत्मबल और ईश्वर कृपा की अद्‌भुत शक्ति होती है। वे न जाने कितने पतितों को उबारते हैं, डूबतों को बचाते हैं, जघन्य पापियों को भी अंतिम क्षण में पुण्य जीवन की तरफ फेर देते हैं। हमें ऐसे ही ईश्वरीय शक्ति संपन्न व्यक्तियों का सहारा लेकर अपने दोष-दुर्गुणों से मुक्त होने का प्रयास करना चाहिए और जीवनोद्देश्य की प्राप्ति करनी चाहिए।

उग्रश्च भीमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च ।
सासह्वांश्चाभियुग्वा च विक्षिपः स्वाहा ॥

(यजुर्वेद ३९/७)

भावार्थ-धर्मात्मा इस संसार में शांत रहते हैं । जो किसी को सताते नहीं, वे निर्भय, योगी, प्रकाशयुक्त, जितेंद्रिय, चंचलतारहित होकर सुख पाते हैं । किंतु पापाचारी पुरुष कठोर, भय देने वाले, भयभीत, मूर्ख और इंद्रियों के दास, दुखी व विक्षिप्त होकर विविध योनियों में भ्रमण करते रहते हैं ।

संदेश-यह तो हम सभी जानते हैं कि सत्याचरण करते हुए शांत और पवित्र जीवन जीने से ही परमानंद की प्राप्ति हो सकती है । अंतरात्मा का यह भावभरा उपदेश हमें सुनाई भी देता है, हम समझते भी हैं परंतु बाह्य जगत के आकर्षणों में और चतुर्दिक फैले माया-मोह के कोलाहल में वह आवाज डूब जाती है । जो व्यक्ति इस पुकार को सुनने का सतत प्रयास करते रहते हैं उन्हें ही अंतर्निहित सत्य की क्षणिक झलक मिल पाती है । ऐसा तभी होता है जब, चाहे कुछ ही क्षणों के लिए ही सही, बाह्य जगत का कोलाहल शांत हो जाता है, बाह्य जगत के आकर्षणों को हम अपने ऊपर हावी नहीं होने देते । ऐसे क्षणों में मनुष्य अनुभव करता है कि उसकी आत्मा की अतुलित धनराशि उसकी प्रतीक्षा कर रही है और वह अकारण ही कुविचारों, कुसंस्कारों और वासनाओं के जंगल में भटकता हुआ नकली सिक्के बटोर रहा है । परंतु विडंबना यह है कि बाह्य जगत के ये नकली सिक्के उसमें इतनी आसक्ति उत्पन्न कर देते हैं कि वह अपने अंदर निरंतर झांकने का प्रयास ही नहीं करता ।

जो व्यक्ति गंभीर होते हैं, विवेकवान होते हैं, उचित-अनुचित

का भेद करने का नीर-क्षीर विवेक रखते हैं, वे इस प्रकार चिंतन करते हैं कि सांसारिक आकर्षण अब बहुत हुए, अंधकार में बहुत भटक लिए, अब हमें गंभीर हो जाना चाहिए, अब हमें ऊपर उठकर इस आध्यात्मिक पूंजी को प्राप्त करना है, जो हमारे अंदर समाहित है । केवल इसी उपलब्धि से मनुष्य अमरत्व प्राप्त करता है और उसे स्थायी शांति एवं सुख प्राप्त होते हैं । अतः जब मनुष्य गंभीर होता है तो बाह्य जगत के आकर्षणों से विमुख होने का प्रयास करता हुआ वह नियमित रूप से आत्म विश्लेषण तथा आत्म निरीक्षण में लग जाता है । वह यह समझ जाता है कि विवेक की सहायता से ही हमें कुछ सीमा तक अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने में सफलता प्राप्त हो सकती है । विवेक के परिणामस्वरूप ही हमें इस परम सत्य का ज्ञान होता है कि 'मैं ही ब्रह्म हूं, अहं ब्रह्मास्मि और केवल आत्मा ही चिरस्थायी है ।'

हम देखते हैं कि संसार में अधिकतर व्यक्ति उग्र स्वभाव के होते हैं और दूसरों को डराते-धमकाते रहते हैं । वे स्वयं अज्ञान के अंधेरे में भटकते हैं, चंचल, अधीर, इंद्रियों के दास, अपने कर्मफल को सहते, भोगते हुए भांति-भांति के कष्ट भुगतते रहते हैं । परंतु जिनकी विवेक बुद्धि जागृत हो जाती है उनका चिंतन भी पवित्र हो जाता है और आचरण भी संयमित व मर्यादित रहता है । वे धर्म में रुचि लेते हुए शांत स्वभाव से परमार्थ के कार्यों में व्यस्त रहते हैं । उन्हें सत्य-असत्य का ज्ञान रहता है । वे धीर, गंभीर, जितेंद्रिय, सदाचारी रहते हैं और स्वर्गीय सुख की अनुभूति से सदा मग्न रहते हैं ।

आत्म निरीक्षण के द्वारा ही मन में घुसी हुई दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन संभव है और हमें उनको समूल उखाड़ फेंकने का प्रयास करते रहना चाहिए ।

दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान्दशमे युगे ।
अपामर्थं यतीनां ब्रह्मा भवति सारथिः ॥

(ऋग्वेद १/१५८/६)

भावार्थ-अज्ञानी व्यक्ति लोभातुर होकर रोग, शोक से दुख पाते हैं किंतु धर्मनिष्ठ पुरुष ज्ञान और विज्ञान बढ़ाकर स्वयं बंधन मुक्त होते और दूसरों को भी संसार सागर से पार ले जाते हैं ।

संदेश-अग्नि प्रकाश का स्रोत है । वह ऊर्जा का भी स्रोत है । यज्ञ में अग्नि प्रकाश और ज्ञान ज्योति के लिए जलाई जाती है । प्रबुद्ध व्यक्ति ही इस यज्ञार्थ अग्नि प्रदीप्त करते हैं । यज्ञकर्ता की यह आंतरिक इच्छा होती है कि वह प्रबुद्ध और जागरूक हो । यज्ञ से चेतना, जागरूकता और समर्पण का भाव मन में जागृत होता है । वह अग्नि से तादात्म्य स्थापित करके उसे अपना मित्र बनाने का प्रयास करता है । मित्र बनाने के लिए उसके गुणों को अपने भीतर धारण करना होता है । अग्निमय और यज्ञमय जीवन जीने से अज्ञान का अंधकार छंट जाता है और उससे जागृति व प्रकाश मिलता है । इस प्रकार मनुष्य जीवन की सफलता का मार्ग प्रशस्त होता है ।

अग्नि का अर्थ प्रकाश स्वरूप परमात्मा भी है । परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और ज्ञान का स्रोत है । हृदय मंदिर में परमात्मा की ज्योति जलाने से मनुष्य पवित्र, धार्मिक, ओजस्वी, तेजस्वी और वर्चस्वी होता है । परमात्मा के सान्निध्य से जीवन में दिव्य गुण आते हैं ।

यदि हम परमपिता परमेश्वर को अपना आदर्श मानकर उसके प्रति गहन भक्ति रखते हैं उसे अपना स्थायी साथी बना लेते हैं तो फिर किसी बात का भय नहीं रह जाता । जब वह हमारे साथ है तो कोई भी अनिष्ट नहीं हो सकता । पर यदि वह साथ नहीं है, प्रभु

कृपा से हम वंचित हैं, तो सभी प्रकार के अनिष्ट हमारी ओर अग्रसर होते हैं । यह सत्य है कि वह हमारे साथ है, हमारे अंदर है किंतु दुख है कि हम उसमें नहीं हैं । सच्चे भक्त की उचित प्रवृति यही होनी चाहिए कि वह सदैव उसके साथ उसी प्रकार रहे जैसे वह हमारे साथ है, हम में समाया है ।

इस प्रकार ईश्वरीय ज्ञान से चतुर्दिक व्याप्त अज्ञान का अंधेरा छंट जाता है और मनुष्य ममता, मोह, लोभ आदि के बंधनों से मुक्त हो जाता है । जो अज्ञानी हैं वे सदैव अपने स्वार्थ पूर्ति में, लोभ-लालच में ही फंसे रहते हैं । लोभ का अर्थ है बिना परिश्रम किए दूसरों के धन को प्राप्त करने की इच्छा । लालच बुरी बला है । यह पापों का मूल और समस्त बुराइयों की खान है । लोभ से संपूर्ण पापों का प्रादुर्भाव होता है । लोभी व्यक्ति माता, पिता, भाई, बहन, मित्र, स्वामी, किसी का भी सगा नहीं होता । धन के लिए वह उनकी हत्या करने में भी नहीं हिचकता । लोभ के वशीभूत होकर मनुष्य नर पिशाच बन जाता है और घृणित से घृणित कार्य कर डालता है । वह यह भूल जाता है कि भोग्य पदार्थ न तो किसी के साथ गए हैं और न जाएंगे । धन किसके साथ जाता है ? यह तो यहीं पड़ा रह जाता है ।

ईश्वर भक्ति से ही धर्मनिष्ठ व्यक्ति सच्चे ज्ञान और विज्ञान के प्रकाश से अपने जीवन को आलोकित कर सकता है । एक बार भी यदि हमें अंतर्मन की पुकार सुनाई दे गई तो यह अमूल्य मानव जीनव व्यर्थ नहीं गंवाना पड़ेगा । निःसंदेह हमारी आध्यात्मिक यात्रा में उतार-चढ़ाव आएंगे परंतु हमें निराश एवं हताश नहीं होना चाहिए । आशावादी दृष्टिकोण अपनाते हुए हमें साहसपूर्वक सतत प्रयास करते रहना चाहिए तभी सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं और दूसरों को भी सन्मार्ग पर प्रेरित कर सकते हैं ।

ते स्याम देव वरुण ते मित्र सूरिभिः सह ।
इषं स्वश्च धीमहि ॥

(ऋग्वेद ७/६६/९)

भावार्थ-संसार के सभी पदार्थों में अच्छे बुरे की विवेचना करने के बाद जो शुभ हो वही ग्रहण करें । दुरितों और क्लेशों से छुटकारा पाने का यही उपाय है ।

संदेश-भारतीय जीवन का, भारतीय शास्त्र एवं विद्याओं का यही लक्ष्य है कि अंतःकरण में परमज्ञान को उद्दीपित करके मनुष्य के संपूर्ण जीवन मार्ग को प्रकाशित कर दें । ऐसी यहां की पूरी व्यवस्था है । चित्त में ज्ञान का उदय होने से समस्त कर्म तदनुरूप और तदनुसार ही होने चाहिए, ऐसी यहां अपेक्षा की जाती है । जीवन में से निरंतर ज्ञान प्रकट होता है । घास के तिनके-तिनके और जीव-जंतुओं के साधारण स्पंदन में भी वह ज्ञान उद्भासित होता है । उसे पहचानकर आत्मसात करना और कृति में परिणत करना, यही भारतीय संस्कृति की एकमात्र अभिलाषा है । यहां ज्ञान को पोथी-पुस्तकों में या मठ-मंदिरों में स्थित कभी भी मानव जीवन से प्रथक नहीं समझा गया । 'ज्ञानयम कर्म एवं कर्ममय ज्ञान' यही भारतीय दर्शन का सार है ।

भारतीय वेदांत दर्शन केवल सैद्धांतिक नहीं, प्रत्युत सर्वदा आचरणीय है । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह उपयोगी सिद्ध होता है । आध्यात्मिक जीवन और भौतिक जीवन दोनों ही इस ज्ञानमय कर्म से लाभान्वित होते हैं । कर्म ही जीवन का लक्षण है । निष्क्रियता जड़ता का लक्षण है, मृत्यु का लक्षण है । इसीलिए आलसी, मूर्ख, अज्ञानी व्यक्ति निष्क्रिय और जीवनमृत होते हैं ।

ज्ञानी व्यक्ति शांत होता है, संतुलित वृत्ति का होता है । वह कभी क्रोध नहीं करता, चिढ़ता नहीं, रोता नहीं । शांति एवं

समझदारी से अपना काम करता रहता है । ज्ञानी व्यक्ति नए-नए मार्ग खोजता है, नए रास्ते का अवलंबन करता है । उसकी आंखों पर पट्टी नहीं बंधी रहती है । वह संकुचित विचारों से घृणा करता है । उसे वे सब कार्य पवित्र दिखाई देते हैं जिनसे प्राणिमात्र का लाभ होता हो । 'आत्मवत सर्वभूतेषु' की व्यापक दृष्टि से ही वह अपने सभी कार्यों की प्रामाणिकता को मापता है । सब प्राणियों से उसे समान प्रेम होता है इसीलिए ज्ञानी व्यक्ति सभी के साथ प्रेम का व्यवहार करता है ।

अपने जीवन को सुखी एवं समृद्ध बनाने के लिए ज्ञान और कर्म में उचित समन्वय आवश्यक है । इसके लिए दृढ़ निश्चय से काम करना होगा । हमारे यहां बड़े तड़के ही उठने से लेकर रात्रि में सोने तक की विशेष दिनचर्या बनाई गई है । ज्ञान के आधार पर प्रत्येक पदार्थ की भलीभांति विवेचना करके अच्छे को ग्रहण करने और बुरे को छोड़ देने का स्वभाव बनाना पड़ता है । छोटे-छोटे साधारण तत्वों को भी देख परखकर आचरण में लाते हुए, उनके लिए आग्रह रखते हुए, अपने को सुसंस्कारित करना पड़ता है । तभी अंतःकरण में स्थित ज्ञान कृति में उतरने लगता है, जीवन में महान तत्त्व और दिव्यता का ही आलोक दिखाई देता है और दोष दुर्गुण पास फटकने भी नहीं पाते ।

ज्ञान और कर्म के उचित समन्वय से ही जीवन में सुख-शांति की अमृत वर्षा होती है । विवेक बुद्धि से नीति-अनीति का, सत्य-असत्य का और उचित-अनुचित का भली-भांति विवेचन करके शुभ-अशुभ का निर्धारण करना होता है । फिर इस निर्णय पर दृढ़तापूर्वक आचरण करना होता है ।

इसी में जीवन की सफलता है ।

क्रत्वः समहदीनता प्रतीपं जगमा शुचे ।
मृळा सुक्षत्र मृळय ॥

(ऋग्वेद ७/८९/३)

भावार्थ-ईश्वर को साक्षी मानकर अपनी त्रुटियां एवं दुर्गुण तथा दुष्कर्म स्वीकार करते रहें ताकि इनके निवारण में ढील न पड़े । परमात्मा से हमारी यही प्रार्थना हो, कि प्रभो ! हमारे दुर्गुण दूर करो ।

संदेश-प्रतिदिन हम ६ से ७ घंटे सोते हैं । इसका तात्पर्य है कि हम १७-१८ घंटे तक प्रतिदिन जागृत अवस्था में रहते हैं । दिन भर हमारे मन में असंख्य विचार आते हैं, हम बहुत सा वार्तालाप या निर्धारित कर्म करते हैं । हम किसी एक दिन विशेष को ही ले लें और विचार करें कि हमने कल क्या सोचा, क्या कहा और क्या किया ? यदि हम विश्लेषण करें, अपने अंदर झांक कर देखें और थोड़ा सा आत्मनिरीक्षण करें तो हम पाएंगे कि कल कितने अनावश्यक शब्दों का उच्चारण किया, कितने अपशब्द, कितने कुविचार हमारे में आए । तब हमें ज्ञात होगा कि अधिकांश शब्द ओर विचार दोषपूर्ण, मूर्खतापूर्ण तथा त्रुटिपूर्ण थे । केवल एक दिन के आत्म विश्लेषण से ही हमारी ऐसी मनोवृत्ति होगी कि 'मैं इतने दोषपूर्ण विचारों एवं कुकृत्यों में लिप्त रहा और मेरे बहुमूल्य मानव जीवन का एक दिन व्यर्थ बीत गया ।' ऐसी मनोवृत्ति से बचने के लिए हमें ईश्वर की सहायता प्राप्त करनी चाहिए । प्रतिदिन, प्रतिक्षण हमें ईश्वर में पूर्ण विश्वास रखना चाहिए ।

यदि हम ईश्वर को सर्वव्यापक मानते हुए उसे अपना मित्र, सखा व हितैषी समझते रहेंगे तो अपनी गलतियों को खोजने और स्वीकार करने में हमें कभी भी संकोच नहीं होगा । वह तो सर्वज्ञाता

है, सर्वज्ञ है, सब कुछ देख ही रहा है, फिर उसके सामने झिझक कैसी ? तब यह कहने में कोई भी शरम नहीं लगती कि 'मैं कितना मूर्ख हूं जो जानते समझते हुए भी अपने कर्तव्यों के विरुद्ध आचरण करता हूं । मैं जानता हूं कि यह करना नहीं चाहिए फिर भी कर देता हूं । कोई भी शुभ संकल्प करता हूं पर मानसिक रूप से इतना अशक्त हो जाता हूं कि उसे निभा नहीं पाता । हृदय में कई अच्छे-अच्छे विचार उत्पन्न होते हैं पर झूठे लोक लाज के वश मैं उन पर अमल करना भी शुरू नहीं कर पाता । मैं समझता हूं कि मेरा कर्म क्या है ? दिल कहता है कि तू उलटे मार्ग पर चल रहा है फिर भी मैं इतना दुर्बल हूं कि उसी उलटे मार्ग पर चलता जाता हूं ।'

जब इस प्रकार की भावना प्रबल हो जाती है तभी गलतियों को, दोष-दुर्गुणों को त्यागने की आत्मिक शक्ति प्राप्त होती है । आत्म निरीक्षण के द्वारा अपनी गलतियों को पहचानने, स्वीकारने तथा उनके लिए अपनी भर्त्सना करते रहने से ही वह ईश्वरीय प्रेरणा मिलती है जो हमें इस दीनता, अक्षमता, अशक्तता और आत्मतेज के अभाव से मुक्ति दिलाती है । तब वह सर्वज्ञ, शुभ, शक्तिवान परमेश्वर हमें अपने तेज से देदीप्यमान कर देता है । उसका आश्रय लेने से, उसके समक्ष सच्चे मन से अपने दोषों को स्वीकार करने से और भविष्य में उन दोषों को न दोहराने का संकल्प लेने से वह न्यायकारी दयालु परमेश्वर हमें क्षमा कर देता है । तब वह हमारे इस निकम्मे जीवन को जिमसें पग-पग पर असफलताएं मिल रही थीं पलट कर सुख शांति से परिपूर्ण कर देता है । हमारी बुरी आदतें हमें छोड़ने लगती हैं, कुविचार व कुसंस्कार दूर भागने लगते हैं और हमारा जीवन सार्थक हो जाता है ।

अपनी गलतियों को स्वीकार करना उनके निवारण का सबसे सरल मार्ग है ।

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥

(अथर्व वेद २/११/१)

भावार्थ-अच्छे बुरे सभी कर्म मनुष्य से ही होते हैं । दुर्बलता मनुष्य के अज्ञान का प्रतीक है । श्रेष्ठता प्राप्त करने को आत्मबल प्राप्त करना चाहिए । यह तभी संभव है जब मनुष्य बुराइयों को त्याग कर सन्मार्ग पर चले ।

संदेश-मन सांसारिक विषयों की ओर तीव्रता से भागता है परंतु इसे उनसे पीछे हटाना आवश्यक है । एक बार यदि इसे रोक लिया जाए तो यह शांत और पवित्र हो जाता है । मन को बाह्य जगत से जहां तक वापस लाना संभव होगा, वहाँ तक हमारा मन इंद्रिय-विषयों के पीछे नहीं दौड़ेगा । मन जब बाह्य जगत से पूर्णतया हट जाएगा तो हम परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेंगे ।

मन को पूरी तरह से बाह्य जगत से हटा लेना क्या संभव है ? सामान्य जन को तो भौतिक जगत में ही रहना होता है, फिर उससे पूरी तरह अलिप्त कैसे रहा जा सकता है ? साधारण व्यक्ति और ज्ञानी व्यक्ति में यही तो अंतर है । ज्ञानी व्यक्ति सांसारिक कर्तव्यों की पूर्ति करते हुए भी भोग विषयों के प्रलोभन में नहीं फंसते । पर साधारण व्यक्ति प्रयास करने पर भी इस जंजाल से आसानी से छुटकारा नहीं पा सकते । यत्र तत्र सर्वत्र वे विषयों के जंगल में ही रहते हैं, इनसे घिरे हुए हैं तथा इनमें निवास करते हैं । मानव के लिए भौतिक संसार के अस्तित्व का अंत नहीं है । तब बाह्य जगत से हटने का क्या अर्थ हो सकता है ? इसका अर्थ है अपने अज्ञान को त्यागकर ज्ञानवान बनना । ज्ञानी व्यक्ति के पास आत्मदृष्टि होती है । वह भले ही भौतिक संसार में रहता है, जो

उसके मन पर अनके प्रभाव डाल सकता है किंतु अपनी सत-असत की विवेक रूपी तलवार की सहायता से वह इंद्रिय प्रलोभनों का निषेध कर सकता है ।

हमें अपनी इंद्रियो का विशेष ध्यान रखना चाहिए और उनको समुचित प्रकार से निर्देशित करना चाहिए । हमारे अंदर तो पहले से ही अनेक अशुद्ध प्रवृत्तियां विद्यमान हैं, हमें उनका विनाश करना चाहिए और अच्छी प्रवृत्तियों के द्वारा उनका विरोध करना चाहिए । बाह्य जगत से केवल अच्छी आदतें ही ग्रहण करना चाहिए । लोग अक्सर यह सोचते रहते हैं कि उनके संस्कार ठीक नहीं हैं और उनका मन केवल अशुद्ध प्रवृत्तियों को ही ग्रहण करता है । पर उनका इस प्रकार सोचना सर्वथा निरर्थक है और उनके अज्ञान व दुर्बलता का प्रतीक है । गलतियां मनुष्य से ही होती हैं और स्वयं उसी में यह शक्ति है कि वह उनका निराकरण कर सके । अपनी बुरी आदतों से छुटकारा पाने की असीम शक्ति परमात्मा ने उसे प्रदान कर रखी है । यदि वह वास्तव में अपने दुर्गुणों और दुर्व्यसनों से छुटकारा चाहता है और इसके लिए प्रयास करता है तो कुछ भी असंभव नहीं है ।

यह सत्य है कि आदत हमारा दूसरा स्वभाव है किंतु इससे भी बड़ा सत्य है जो इसे प्रभावहीन बना देता है । यदि आदत हमारा दूसरा स्वभाव है तो हमारा कोई प्रथम स्वभाव भी है । मूलतः हम दैवी स्वभाव के हैं। यदि शारीरिक इच्छाओं के कारण हम केवल अशुद्ध विचारों को ही ग्रहण करते हैं तो यह भी सत्य है कि स्वभाव से हम दैवी हैं तथा देवत्व हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है । हमें इस सकारात्मक सोच को विकसित करना चाहिए, श्रेष्ठ विचारों का आलंबन लेकर अपनी बुरी आदतों पर विजय प्राप्त करना चाहिए ।

असद् भूम्याः समभवत् तद्यामेति महद् व्यचः ।
तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक कर्त्तारमृच्छतु ॥

(अथर्व ४/१९/६)

भावार्थ-*दुष्टतापूर्ण कर्म चाहे छोटे हों अथवा बड़े अंत में करने वाले का ही सर्वनाश करते हैं । उनका प्रतिफल उन्हें ही भोगना पड़ता है ।*

संदेश-अज्ञान, भ्रम, अश्रद्धा, वासना, लोभ, उतावली, चांचल्य आदि मनोविकारों से विवश लोग असत्य का अवलंबन करते हैं। कथा है कि किसी साधक को देवदूत और शैतान एक साथ मिल गए । देवदूत का वेश नितांत साधारण था जबकि शैतान खूब तड़क-भड़क और सजधज के साथ बड़े ठसके से चल रहा था । साधक ने देवदूत की उपेक्षा कर दी और शैतान के अहंकार को देखकर उसी की शरण में चला गया । दुर्भाग्य से संसार में आज सर्वत्र यही दिखाई दे रहा है । सत्य से पीठ फेरकर लोग असत्य का आलिंगन कर रहे हैं। वास्तविकता का उपहास कर लोग मिथ्याचारों की सराहना कर रहे हैं । आज अधिकांश लोग बुद्धि शून्य बन गए हैं । हर प्रकार के दुष्टतापूर्ण कर्म लोगों ने अपना रखे हैं ।

झूठे को झूठा और सच्चे को सच्चा कहने के लिए ज्ञान, धैर्य, आत्मविश्वास की आवश्यकता होती है । जहां चाह न हो वहां खोटे सिक्के चलते हैं और फिर समग्र व्यवस्था ही लड़खड़ा कर गिर पड़ती है । क्षुद्रता एवं अनैतिकतापूर्ण कर्मों से प्रारंभ में कुछ तात्कालिक लाभ भले ही मिल जाए पर उनके दुष्प्रभाव से तिरस्कार व धिक्कार तो मिलता ही है, अपयश व अपकीर्ति भी कम नहीं होती ।

संसार में आज चारों ओर यही दिखाई देता है मानों पापकर्म

और दुष्टतापूर्ण आचरण ही सामाजिक मान्यता की वास्तविक कसौटी बन गए हैं । हर प्रकार का जो दुराचार करते हैं वही फलते फूलते दिखाई दे रहे हैं और सत्याचरण करने वाले उपहास, अवज्ञा एवं प्रताड़ना का शिकार हो रहे हैं । उनका जीना भी कठिन हो रहा है । परंतु वास्तविकता यह है कि प्रभु अपने इस संसार में कुछ देर के लिए बेशक पाप को बढ़ने और पकने देते हैं । समय आने पर उसका विनाश तो अवश्यंभावी है । पाप का घड़ा भरने पर फूटता ही है। बुराई का वृक्ष खूब फलता-फूलता है पर फिर वह जड़ सहित उखड़ जाता है । पाप भावना इस धरती पर ही जन्म लेती है, मनुष्यों के विचारों में ही पनपती है और शीघ्र ही सारे संसार में फैल जाती है । अच्छी बातों के फैलने में बहुत समय लगता है लोग उनका पालन भी बड़ी कठिनाई से करते हैं पर बुराई के प्रचार प्रसार की गति बहुत तीव्र होती है तथा लोग उसके आकर्षण में बहुत जल्दी फंस जाते हैं । अधर्म, अंधकार और अज्ञान अपनी स्थूल शक्ति और पशु शक्ति को बढ़ाता हुआ सब तरफ फैल जाता है । मनुष्य हाहाकार मचाने लगते हैं । संसार के बड़े-बड़े दिव्य पुरुषों का, ईश्वर परायण महात्माओं का तेज भी पाप कर्मों के अंधकार के सामने ढक सा जाता है ।

उस समय बिरले ही होते हैं जो ईश्वरीय नियम की अटलता को ध्यान में रखते हैं और जरा भी धीरज नहीं खोते । वे यह समझते हैं कि पाप को जितना बढ़ना चाहिए वह बढ़ चुका और अब उसके विनाश का समय आ गया है । पाप का ठाठ-बाट स्वयं अपने ही बोझ से गिरकर चकनाचूर हो जाता है और पापकर्ता को भी अपने साथ लेकर भूमिसात् हो जाता है ।

विजय तो अंत में सत्य और पुण्य की ही होती है ।

मह्यं यजन्तां मम यानीष्टाकूतिः
सत्या मनसो मे अस्तु ।
एनो मा नि गां कतमच्चनाहं
विश्वे देवा अभि रक्षन्तु मेह ॥

(अथर्व वेद ५/३/४)

भावार्थ-*विशुद्ध अंतःकरण से विचारपूर्वक नेक कर्म करने का संकल्प लिया करें और उसे पूरा किया करें । दुष्कर्म को त्यागना और सद्‌गुणों को विकसित करना ही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है ।*

संदेश-स्वामी विवेकानंद ने लिखा है, "मेरा आदर्श अवश्य थोड़े से शब्दों में ही कहा जा सकता है और वह है-मनुष्य जाति को उसके दिव्य स्वरूप का उपदेश देना तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसे प्रकट करने का उपाय बताना ।"

मनुष्य परमपिता परमेश्वर की सर्वश्रेष्ठ रचना है और दैवी गुणों से परिपूर्ण है । ईश्वर के सान्निध्य को प्राप्त करने का निरंतर अभ्यास किए बिना और अपने अस्तित्व के प्रत्येक क्षण में ईश्वर की उपस्थिति अनुभव किए बिना न तो अपने दैवी गुण प्रकट हो सकते हैं और न ही आध्यात्मिक विकास संभव हो सकता है । अपने देवत्व का दावा करने के लिए क्या यह पर्याप्त है कि प्रातः काल या सायंकाल ईश्वर का ध्यान करें और शेष समय उसे भूल जाएं ? नहीं, यह तो उचित नहीं हे । हम अनेक प्रवचन व उपदेश सुनते हैं, आध्यात्मिक प्रसंगों पर प्रेरणादायक पुस्तकों का अध्ययन करते हैं । इससे हमें कुछ ज्ञान प्राप्त होता है पर शीघ्र ही हम अपने ध्येय से भटक जाते हैं । हमें जो कुछ प्राप्त होता है उसे हम पुनः गंवा देते हैं । जिस प्रकार काई की परत जल को ढके रहती है और हटाने पर भी पुनः उसकी सतह पर फैल जाती है, उसी प्रकार चारों ओर के आकर्षण और प्रलोभन भी हमें काई के समान घेरे

रहते हैं और जो भी हमने पढ़ा या सुना होता है उसे बार-बार ढक देते हैं । जब भी हम आध्यात्मिक प्रवचन सुनते हैं या श्रेष्ठ ग्रंथ पढ़ते हैं तो उनका प्रभाव कुछ देर तो रहता है पर शीघ्र ही वह विलुप्त होने लगता है ।

जब तक हमारे दैनिक जीवन का आध्यात्मीकरण नहीं हो जाता तब तक किसी भी प्रकार की प्रगति संभव नहीं है । भगवान को तो हमने पूजाघर तक ही सीमित कर रखा है । उसे वहां से निकाल कर अपने दैनिक क्रियाकलापों में ले आना होगा । जब हम मंदिर में होते हैं तो हमारी मनःस्थिति एक प्रकार की होती है और बाहर आते ही दूसरे प्रकार की हो जाती है । इस दोहरी चाल के कारण ही सर्वत्र आध्यात्मिक संकटों का सामना करना पड़ रहा है ।

ईश्वर की सर्वत्र निरंतर उपस्थिति की अनुभूति से हमारा मन पवित्र रहता है और अंतःकरण में शुभ संकल्प ही जन्म लेते हैं । हमारी विवेक बुद्धि सदा हमारे साथ रहती है और हम जो भी संकल्प करते हैं उसे पूर्ण करने की सामर्थ्य प्रदान करती है । आत्मज्ञान के उच्च सोपानों पर चढ़ता हुआ हमारा मन बाह्य जगत के प्रलोभनों के चक्कर में पड़कर नीचे को नहीं फिसलता । जो भी शुभ विचार और विवेक सम्मत संकल्प उठते हैं वे मन में दृढ़तापूर्वक जम जाते हैं और विस्मृति में नहीं जा पाते ।

सिद्धांतों और दर्शन की केवल चर्चा करने या आदर्शों के साथ किसी प्रकार के कृत्रिम संपर्क से हमारा कोई लाभ नहीं हो सकता । हमें अपने अंतःकरण की शुद्धता और पवित्रता को सदैव बनाए रखकर उसकी दैवी सत्ता से चिरस्थायी और गहन संपर्क रखना होगा । इस प्रकार मन में वासनाओं का उभार नहीं होगा और दुष्कर्मों से पीछा छुड़ाना सरल हो जाएगा । इस प्रकार के निरंतर अभ्यास के द्वारा ही हम अपनी दुष्प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं ।

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुच ॐ राजसु नस्कृधि ।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥

(यजुर्वेद १८/४८)

भावार्थ-परमात्मा ब्राह्मणादि वर्णों में पक्षपात रहित समान प्रीति करता है । इसका अनुसरण विद्वान लोग भी करते हैं । किंतु जो श्रेष्ठता का मापदंड गुण, कर्म, और स्वभाव को नहीं मानते वे लोग निंदनीय और असम्मान के पात्र हैं ।

संदेश-परमपिता परमेश्वर ने संसार के सभी मानवों को एक सा ही बनाया है । दैवी विभूतियों से अलंकृत करके एक अद्‌भुत शरीर रचना प्रस्तुत की है । सबके लिए सुख, सुविधाओं का अथाह भंडार चारों ओर उपलब्ध है । उसकी दृष्टि में कोई भी छोटा-बड़ा या ऊंच-नीच नहीं है । सभी को अपनी बुद्धि का उपयोग करते हुए संसार में प्रगति करने के समान अवसर हैं । यह बात अलग है कि कुछ लोग कुविचारों व कुसंस्कारों में फंसकर अपने पतन का मार्ग ही प्रशस्त करते रहते हैं । परमात्मा किसी से भी पक्षपात नहीं करता । उसके लिए तो सभी मानव पुत्रवत प्रिय हैं ।

प्राचीनकाल में कार्य और व्यवसाय की दृष्टि से समाज को चार वर्णों में बांटा गया था । यह एक स्वाभाविक विभाजन था जिससे योग्यता, प्रतिभा और परिस्थितियों के अनुरूप कार्य कुशलता में अभिवृद्धि भी होती चलती थी । आगे चलकर जब यही विभाजन किसी को ऊंचा ओर किसी को नीचा समझने का आधार बन गया, तो कठिनाई उत्पन्न होने लगी । इस विभेद के ही कारण कोई किसी को अछूत समझे और उसका छुआ पानी पीने से भी इनकार करे तो यह आश्चर्य की ही बात है । इस प्रकार धर्म के नाम पर शूद्रों पर घोर अत्याचार किए गए और उन्हें सामाजिक व धार्मिक न्याय से वंचित रखा गया । धर्म तो वास्तव में मनुष्यों से प्रेम करना सिखाता है न कि घृणा । प्रेम संसार की एक अद्‌भुत वस्तु है । यह मात्र

शारीरिक अनुभूति ही नहीं वरन मन और आत्मा की अमूल्य निधि है । प्रेम ही जीवन का प्राण है । मनुष्य समाज इसी के सहारे चलता है । प्रेम और विश्वास में बहुत गहरा संबंध है । प्रेम और संदेह की घोर शत्रुता है । जहां प्रेम है वहां संदेह नहीं और जहां संदेह है वहां प्रेम नहीं । समाज में आज सर्वत्र संदेह, भय, अराजकता और निरंकुशता का शासन है । इसका कारण आपसी प्रेम व भाईचारे की कमी तथा ऊंच-नीच की निकृष्ट भावना ही है ।

दुष्टता भरे दुष्कर्म करने वाले को नीच कहा जाए और उसका सामाजिक बहिष्कार किया जाए, चाहे वह ब्राह्मण ही क्यों न हो, तो बात समझ में आती है । ज्ञान, सेवा, सद्गुण, सदाचार के आधर पर किसी को ऊंचा मानकर सम्मानित किया जाए, चाहे वह शूद्र ही क्यों न हो, तो भी उचित है । व्यक्ति की चारित्रिक उत्कृष्टता-निकृष्टता के आधार पर सम्मान और असम्मान की स्थिति बने तब तो उसका औचित्य है । पर गुण, कर्म, स्वभाव की समानता होते हुए भी केवल वंश के आधार पर कुछ लोग ऊंचे और कुछ नीचे समझे जाएं तो बात तर्क संगत नहीं लगती ।

हर जाति व वंश में किसी समय श्रेष्ठ पुरुष भी हुए हैं और दुष्ट भी । ब्राह्मण जाति में वशिष्ठ व भारद्वाज जैसे तपस्वी, त्यागी, ऋषि हुए हैं तो रावण, कुंभकरण, जैसे दुष्ट भी । उत्तराधिकार का दावा किया जाए तो उत्कृष्टता के साथ निकृष्टता भी तो हिस्से में आएगी । राम और कृष्ण तो क्षत्रिय थे पर ब्राह्मण भी उनकी पूजा करते हैं । हमारे शास्त्रों के अनुसार कोई भी व्यक्ति अपने श्रेष्ठ कर्मों के आधार पर ब्राह्मण पद पा सकता है । इतिहास, पुराणों में इसके असंख्य प्रमाण हैं ।

ईश्वरीय न्याय के विरुद्ध जो भी किसी के प्रति पक्षपातपूर्ण व्यवहार करता है वह सर्वत्र निंदनीय है । ऐसे पापपूर्ण कर्म से हमें सदैव बचना चाहिए ।

व्याघ्रं दत्वतां वयं प्रथमं जम्भयामसि ।
आदुष्टेनमथो अहिं यातुधानमथो वृकम् ॥

(अथर्व वेद ४/३/४)

भावार्थ-दुष्ट स्वभाव वाले हिंसक जंतुओं तथा चोर बदमाशों को नष्ट करना धर्म है । रोग और दोषों का निवारण सदैव करते रहना चाहिए ।

संदेश-मानव शरीर में जीवात्मा के साथ परमात्मा का भी निवास है । जीवात्मा कर्म करता है और कर्मफल भोगता है । परमात्मा साक्षी के रूप में मनुष्य के सभी कर्मों को देखता रहता है । सत्कर्म करने पर मनुष्य को आंतरिक शक्ति और उल्लास प्राप्त होता है । दुष्कर्म करने पर अंदर से घृणा या क्षोभ का भाव जागृत होता है ।

मनुष्य अनेक कारणों से पाप कर्मों में फंसता है । पूर्वजन्म के कुकर्मों के फलस्वरूप भी वह पाप की ओर प्रवृत्त होता है । मदिरापान दुर्गुणों और पापों का मूल है । उन्मत्त व्यक्ति उचित-अनुचित का विचार नहीं करता और कोई भी नीच कर्म कर सकता है । क्रोध से भी बुद्धि विकृत हो जाती है और कर्तव्य ज्ञान के अभाव में मनुष्य कुछ भी कर बैठता है । अनेकानेक दुष्कर्मों व दुराचारों में फंसा हुआ मनुष्य जाने-अनजाने न जाने कितने पाप कर्म करता रहता है ।

पापमय जीवन का प्रारंभ दुर्जनों की कुसंगति से होता है । जब मनुष्य कुसंगति में पड़ता है तो उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है । वह हितैषी को शत्रु और कुमार्गगामी को अपना मित्र समझने लगता है । परिणाम स्वरूप वह सज्जनों, विद्वानों, धार्मिकों और सत्यनिष्ठों से दूर होता जाता है । दिव्य गुणों से उसका संबंध विच्छेद होने लगता है । कुसंगति में अधिकाधिक फंसते जाने से वह निकृष्ट जीवन व्यतीत करने को बाध्य हो जाता है । कुसंगति से प्राप्त

कुविचार और कुसंस्कार मानवता की जड़ को ही खोखला कर देते हैं । इस पाप पंक से मुक्ति पाने में वह असहाय अनुभव करता है । घोर अंधकार के गर्त में गिरे हुए पापियों को कोई बचा नहीं सकता । मनुष्य स्वयं दुर्गुणों में फंसता है, सांसारिक विषय भोग उसे मधुर लगते हैं और उस दलदल में फंस कर अपना सर्वनाश कर लेता है ।

परमेश्वर साक्षी रूप में उसके सारे अच्छे-बुरे कर्मों का लेखा-जोखा रखता है तथा यथाकर्म एवं यथान्याय उनका शुभ अथवा अशुभ फल देता है । कर्मों का फल तो मिलता ही है, उससे कोई भी बच नहीं सकता । 'अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम्' । ये फल इसी जन्म में भी मिल जाता है या अगले जन्म में, आज ही मिले या कल, पर ईश्वरीय न्याय के अनुसार उसमें देर भले ही हो, अंधेर नहीं होता । किसी के साथ किसी प्रकार का पक्षपात भी नहीं होता । परमात्मा एक ओर जीवनदाता, पालक व पोषक है तो साथ ही पापियों व दुराचारियों का संहारक भी है । सज्जनों, सत्कर्मियों और सत्यनिष्ठों का सदा उद्धार करता है । श्रद्धालु, भक्त और आस्तिक को सन्मार्ग दिखाकर उनके मनोरथ पूर्ण करता है और लक्ष्य तक पहुंचाता है ।

ईश्वर के इस न्यायकारी विधान के विपरीत दुराचारियों को सहायता व सहयोग देकर उनकी सराहना करना स्वयं घोर पाप है । हमें उनको सन्मार्ग पर लाने का प्रयास तो अवश्य ही करना चाहिए पर साथ ही दुष्कर्मों के लिए प्रताड़ित व तिरस्कृत भी करना चाहिए । जिस प्रकार शेर, सांप, भेड़िया आदि हिंसक पशुओं से समाज की रक्षा करना हमारा धर्म है, उसी प्रकार दुष्ट, दुराचारी व्यक्तियों को नष्ट करके समाज में सुख शांति स्थापित करना भी हमारा दायित्व है ।

समाज के इन शत्रुओं को नष्ट करना हमारा कर्तव्य है ।

सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम् ।
भिनदम्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम् ॥

(अथर्व वेद ५/२३/१३)

भावार्थ-अपने बाह्य और आंतरिक द्वेष ऐसे ही नष्ट करें जैसे आग में जला कर या पत्थर से कुचल कर कोई चीज नष्ट कर डालते हैं ।

संदेश-कोमल तत्त्वों को इशारे से समझाकर, विवेक एवं तर्क द्वारा औचित्य सुझाकर सन्मार्ग पर लाया जा सकता है । पर कठोर और दुष्ट तत्त्वों को बदलने के लिए लोहे को आग पर तपाकर पिटाई करने वाली लोहार की नीति ही अपनानी पड़ती है । दुर्योधन को समझाने बुझाने में जब श्री कृष्ण सफल नहीं हो सके तब उसे अर्जुन के वाणों द्वारा रास्ते पर लाने का प्रबंध करना पड़ा । हिंसक पशु नम्रता और औचित्य की भाषा नहीं समझते, उन्हें तो शस्त्र ही काबू में ला सकते हैं । भगवान को बार-बार धर्म की स्थापना और असुरता के उन्मूलन के लिए अवतार लेना पड़ता है- 'धर्मसंस्थापनार्थाय विनाशाय च दुष्कृताम्' ।

व्यक्तिगत जीवन में भी देव शक्तियों का अवतरण निःसंदेह एक सृजनात्मक कृत्य है । उसके लिए सद्गुणों के अभिवर्धन की निरंतर साधना करनी पड़ती है और साथ ही अपने अंतरंग में छिपे हुए दोष दुर्गुणों से जूझना भी पड़ता है । यदि इन कुसंस्कारों का उन्मूलन न किया जाए तो सद्गुण पनप ही न सकेंगे और सारी शक्ति कषाय कल्मषों में ही नष्ट होती रहेगी । आलस्य, प्रमाद, आवेश, असंयम आदि दुर्गुणों के विरुद्ध कड़ा मोर्चा खड़ा करना पड़ता है और पग-पग पर उनसे जूझने के लिए तत्पर रहना पड़ता है । गीता का रहस्यवाद अंतरंग के इन्हीं शत्रुओं को कौरव मानकर अर्जुन रूप

जीव को इनसे निर्णयात्मक युद्ध करने के लिए प्रोत्साहित करता है । जिसने अपने से लड़कर विजय पाई वही सच्चा विजेता है ।

आजकल नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्षेत्र में अवांछनीय तत्त्वों का इतना अधिक बाहुल्य हो गया है कि शांति और सुव्यवस्था के लिए चारों ओर संकट ही संकट हैं । छल, असत्य, बनावट और विश्वासघात का ऐसा प्रचलन हो गया है कि किसी भी व्यक्ति पर सहज विश्वास करना खतरे से खाली नहीं है । विचारों की दृष्टि से मनुष्य बहुत ही संकीर्ण, स्वार्थी, ओछा और निष्ठुर होता जा रहा है । सामाजिक कुरीतियों ने हमें बुरी तरह से जकड़ रखा है । आदर्शवादिता और उत्कृष्टता केवल कहने-सुनने भर की बातें रह गई हैं । मनुष्य के विचार ही जब इतने दूषित हो गए हैं तो उसके आचरण में उत्कृष्टता की आशा करना बालू में से तेल निकालने जैसी कल्पना मात्र ही तो कहा जा सकता है। जब अंतःकरण में ही कुसंस्कार व कुविचार भरे होंगे तो फिर प्रभु चिंतन की आशा कैसे की जा सकेगी ?

वैयक्तिक और सामाजिक दोष दुर्गुणों से लड़ने और जीवन को स्वच्छ, पवित्र, निर्मल बनाने के लिए अगर कुसंस्कारों से लड़ना पड़ता है, तो वह लड़ाई अवश्य लड़ी जानी चाहिए । समाज में कुछ सदस्यों को दास-दासी की तरह और कुछ को राजा रानी की तरह रहने को यदि परंपरा का पालन माना जाता है तो उसे बदल कर ऐसी व्यवस्था स्थापित करनी होगी जिसमें सबको न्यायानुकूल अधिकार, लाभ तथा श्रम सहयोग करने का अवसर मिले । अनीति असुरता के विरुद्ध प्रबल संघर्ष के लिए तैयार होना पड़ेगा । अवांछनीय तत्त्वों के विरुद्ध उग्र प्रतिरोध को इतना सक्रिय बनाना होगा कि वे सिर ही न उठा सकें और उन्हें शुरू में ही कुचल दिया जाए ।

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय ।
अप नः शोशुचदघम् ॥

(ऋग्वेद १/९७/७)

भावार्थ-हे सर्वतोमुखी अग्निदेव ! आप नौका के सदृश इस भवसागर में सभी शत्रुओं से बचाकर हमें पार ले जाएं । आप हमारे पापों को विनष्ट करें ।

संदेश-इस मंत्र में ईश्वर की उपमा एक ऐसे न्यायाधीश से दी गई है जो प्रजा की सुरक्षा हेतु जंगलों में जाकर दस्यु व दुष्टजनों को दंड देता है, नाव में बैठकर समुद्र में भी प्रजा की रक्षा करता है, हर प्रकार से मनुष्य की सुख-शांति की व्यवस्था करके उसे सच्चा आनंद प्रदान करता है । वहीं सच्चिदानंद है । भली भांति ईश्वर की उपासना करने वालों को काम, क्रोध, लोभ, मोह, रोग, शोक रूपी शत्रुओं से कोई भय नहीं रहता । वह निस्पृह रहकर जितेंद्रिय बनता है और सर्वत्र श्रेय व यश प्राप्त करता है ।

संसार में चौरासी लाख योनियां हैं । उनमें से मनुष्य शरीर परमात्मा की सर्वश्रेष्ठ कृति है । ज्ञानेंद्रिय, कर्मेंद्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि अनेक ऋद्धि-सिद्धि से परिपूर्ण यह मानव शरीर संसार में समस्त प्राणियों की रक्षा एवं उन्नति के ध्येय से बनाया गया है । परमात्मा ने अपने इस राजकुमार को जो अनेक नियामतें दी हैं और हर समय, हर परिस्थिति में, उसकी रक्षा करने को तत्पर रहता है तो मनुष्य का भी कर्तव्य है कि वह भगवान के बनाए संसार के सभी जीव-जंतुओं, पेड़-पौधों, जड़-चेतन के पोषण एवं प्रगति के प्रति जागरूक रहे । संसार में उपलब्ध साधनों का दोहन ही न करता रहे वरन उनको परिपुष्ट करने का पुरुषार्थ भी करे । परंतु आज स्वार्थ में अंधा होकर मनुष्य इस ओर ध्यान ही नहीं देता और

पाप के दलदल में फंसता चला जाता है ।

हम प्रार्थना करते हैं कि ईश्वर हमारे पापों को विनष्ट करे पर अपने को पाप कर्म से रोकने का प्रयास भी नहीं करते, प्रायश्चित करना तो दूर रहा । इस प्रकार भगवान हमें इस भवसागर की अनेकानेक बाधाओं से बचाकर कैसे पार लगा सकता है । हम अपने बनाए हुए नरक की आग में झुलसते रहते हैं । ईश्वरीय सत्ता से सहयोग करके ही हम धरती पर स्वर्गीय वातावरण उत्पन्न कर सकते हैं, पर इस ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता । चारों ओर व्याप्त कुरीतियों, कुविचारों, और कुसंस्कारों के प्रलोभन हमें अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं । हम अपनी विवेक बुद्धि का भी समुचित उपयोग नहीं करते और पाप कर्म व पुण्य कर्म का भेद भी नहीं समझ पाते । परिणामस्वरूप दिनोंदिन पाप के गर्त में गिरते जाते हैं । परमपिता परमेश्वर तो हर पल, हर क्षण हमारी सहायता करने के लिए सर्वत्र उपलब्ध रहता है । हम चाहे उसे पहचानें या न पहचानें पर वह तो अपने प्रिय पुत्र की रक्षा में कभी भी प्रमाद नहीं करता । दुराचार में फंसते देखकर पहले सचेत करता है। अंतःकरण में उसकी आकाशवाणी गूँजती है । हम सुनकर सतर्क हो जाएं तो ठीक । पर यदि उसकी आवाज को अनसुना कर दिया तो वह हमें ठोकर मारकर झकझोरता है । फिर भी यदि हम न चेतें तो दंड भी देता है । स्वयं तो हम पापकर्मों में फंसे रहें और भगवान से यह आशा करें कि वह हमारे लिए स्वर्ग व मुक्ति का द्वार खोल दे, इससे बड़ी मूर्खता और क्या हो सकती है ?

अपने दोष-दुर्गुणों से छुटकारा पाने के लिए हमें स्वयं ही पुरुषार्थ करना होगा ।

स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते ।
श थ्ठं राजन्नोषधीभ्यः ॥

(सामवेद ६५३)

भावार्थ-मनुष्य के जीवन में विपत्तियां, कठिनाइयां, विपरीत परिस्थितियां और कष्ट की घड़ियां आती ही रहती हैं । सुख-दुख जीवन रथ के दो पहिए हैं । इनसे कभी डरना या घबराना नहीं चाहिए । कठिनाइयां मनुष्य को संघर्ष करने की शक्ति देती हैं और उसकी उन्नति में, आत्मिक विकास में सहायक होती हैं ।

संदेश-हमारे ऊपर परमात्मा का बहुत उपकार है कि उसने हमें हर प्रकार की सुख सुविधाएं प्रदान की हुई हैं । पर हमारे चारों ओर ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो दीन-दुखी हैं, रोगी हैं, पतित हैं । हमें अपनी प्रतिभा और क्षमता को उनकी सहायता करने में भी उपयोग करना चाहिए । विपत्ति ही प्रेम की कसौटी है । परेशानी में पड़े हुए बंधु-बांधवों, पड़ोसियों आदि के प्रति हमारा व्यवहार कैसा है, यही हमारे चरित्र का असली मापदंड है । पड़ोस में आग लग गई हो तो क्या हम घर में बैठे रह सकते हैं ? लोग भूख से तड़प रहे हों तो क्या हम दावत उड़ा सकते हैं ? प्रेम से, आदर से, निरभिमान होकर लोगों की सेवा करने का उल्लास मन में पैदा हो तभी समझना चाहिए कि हमारा प्रेम असली है ।

संसार में हमारे चारों ओर भांति-भांति की विचारधारा के लोग रहते हैं । सबके अपने अपने स्वार्थ भी होते हैं । उनकी प्रतिभा, क्षमता और बुद्धि का स्तर भी भिन्न होता है । ऐसे में आपसी टकराव तों अवश्यंभावी है । सारे लोग हमारे विचारों से सहमत नहीं हो सकते अतः हमारे लिए कठिनाइयां व परेशानियां उत्पन्न करते रहते हैं । यही तो वास्तविक जीवन है । कठिनाइयों से जूझते

हुए विपरीत परिस्थितियों को उलट कर सीधा कर देने की क्षमता जिनमें होती है, वही जीवन संग्राम में विजयश्री का वरण करते हैं । ऐसे ही लोग अपना भला भी करते हैं और दूसरों का भला करने में भी समर्थ होते हैं ।

दूसरों की भलाई करने में, सेवा करने में, परोपकार करने में स्वयं भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है । घर वाले विरोध करते हैं, 'लोग क्या कहेंगे' का डर भी लगता है, समय व साधन भी खर्च करने पड़ते हें और प्रत्यक्ष कोई लाभ भी दिखाई नहीं देता । परंतु वास्तव में इस प्रकार परोपकार करने के अनेकानेक लाभ हैं । मानसिक शांति और आत्मिक संतोष तो मिलता ही है परमपिता परमेश्वर की असीम कृपा भी मिलती है । जो परमार्थ के लिए अपने स्वार्थ को न्योछावर करते हैं परमात्मा का अनुग्रह उन्हें मिलता है । त्याग करने वाले, बलिदान करने वाले का देवता भी आदर करते हैं । 'देवाः सदा बलिं प्रयच्छति' । द्रौपदी ने एक दुखी साधु को लाज बचाने के लिए अपनी आधी साड़ी फाड़ कर दे दी थी तो भगवान ने जरूरत पड़ने पर उसकी साड़ी को लाखों गुना बढ़ा दिया था ।

परोपकार से मनुष्य जीवन की शोभा और महिमा बढ़ती है । सच्चा परोपकारी सदा प्रसन्नचित्त रहता है । वह दूसरे का कार्य करके हर्ष की अनुभूति करता है, अपने भीतर दिव्य प्रकाश का अनुभव करता है । उनको जीनव में यश और सम्मान मिलता है । निकृष्ट व्यक्ति धन की इच्छा करते हैं, मध्यम श्रेणी के व्यक्ति धन और मान दोनों चाहते हैं और उत्तम व्यक्ति केवल मान ही चाहते हैं । जो व्यक्ति सर्वोच्च श्रेणी के होते हैं वे तो मान भी नहीं चाहते और केवल निःस्वार्थ भाव से ही परमार्थिक कार्यों में लगे रहते हैं ।

परोपकार की भावना से अंतःकरण के निकृष्ट विचार समाप्त हो जाते हैं ।

यदि नो गां हंसियद्यश्वं यदि पूरुषम् ।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥

(अथर्व वेद १/१६/४)

भावार्थ-जो हमारे गाय आदि पशुधन को नष्ट करता है वह दंडनीय है अर्थात जो मानवीय हितों का अतिक्रमण करे उसका वीरतापूर्वक प्रतिरोध करना चाहिए ।

संदेश-भारत में गाय को सर्वश्रेष्ठ ऐश्वर्य माना जाता है । प्रभु ने दुग्धादि सारे पदार्थ गौ से ही संग्रहीत किए हैं । गौओं से दूध, दही, घृत जैसे सुस्वादु पदार्थ तो मिलते ही हैं, उनके गोबर-मूत्र भी भूमि को वह शक्ति देते हैं जिससे हमें पौष्टिक वनस्पतियां और औषधियां प्राप्त होती हैं । गाय से पुष्टि, तुष्टि, शांति, ऐश्वर्य तथा दीर्घायुष्य प्राप्त होता है । हमारे शारीरिक, मानसिक, आत्मिक और बौद्धिक विकास में गाय का सर्वाधिक महत्व है ।

गाय, घोड़े आदि पशुधन हमारे कृषि व व्यापार की रीढ़ की हड्डी हैं । गौ तो मानवीय हितों की प्रतीक है । जो दुष्टात्मा पशुधन को हानि पहुंचाता है या मानव जीवन की सफलता के मार्ग में बाधाएं उपस्थित करता है वह समाज का सबसे बड़ा शत्रु है । ऐसे व्यक्तियों के अनीतिपूर्ण कार्यों का जमकर विरोध करना चाहिए ।

अनीति इसीलिए बढ़ती है कि उसे रोका नहीं जाता । निर्बाध गति से जिसे रास्ता मिलेगा वह आगे ही बढ़ता जाएगा । अच्छाई हो या बुराई, सबकी एक ही रीति है । अवरोध उन्हें रोकते हैं और निर्बाध निष्कंटक मार्ग मिले तो वे निरंतर बढ़ती चली जाती हैं । अनीति से सतर्क रहना, अन्याय को रोकना और अपनी सुरक्षा पर पूरा ध्यान रखना आवश्यक है अन्यथा सारा गुड़ गोबर हो जावेगा । जो बचाव करना नहीं जानता, प्रतिरोध के लिए तैयार नहीं होता, वह बेमौत मारा जाता है ।

भगवान की इस दुनिया में पुण्य और सहयोग बहुत है । वह न होता तो यहां जीवित रहना भी असंभव हो जाता पर साथ ही अन्याय भी कम नहीं है । यह इसलिए है कि हम सतर्क और संघर्षशील रहें । ये दोनों ही गुण मानवीय प्रगति के लिए अति आवश्यक हैं । जो सतर्क नहीं, सावधान नहीं, लापरवाही बरतता है, वह जरूर किसी आक्रमण का शिकार होगा और घाटा उठाएगा । जो अपने बचाव और सुरक्षा का ध्यान नहीं रखता वह दुष्टता के आक्रमण का शिकार बनेगा । दूरदर्शी व्यक्ति इस प्रकार की लापरवाही नहीं बरतते ।

प्रकृति चाहती है कि हर व्यक्ति सजग और सतर्क रहे । ईश्वर ने उसके लिए अपार शक्ति हमें प्रदान की है । हमें किसी के साथ अनीति नहीं करनी है, पर अनीति का शिकार भी नहीं बनना है । हमारी असावधानी ही दूसरों को अनुचित लाभ उठाने के लिए ललचाती है । हमारी दुर्बलता ही दुष्ट दुराचारियों को अपना खेल खेलने के लिए उकसाती है । संसार में सज्जनता बहुत है पर दुर्जनता उससे किसी प्रकार भी कम नहीं है । देवत्व से असुरता का पलड़ा कुछ भारी ही पड़ता है । वर्तमान समय में तो दुष्टता और दुर्जनता अपने चर्मोत्कर्ष पर पहुंच चुकी हैं ।

विपदाओं से बचना उचित है पर जब वे सामने आ ही जाएं तो इतनी हिम्मत रखनी चाहिए कि बहादुर योद्धा की तरह बिना घबड़ाए धैर्य, साहस, विवेक और पुरुषार्थ के साथ उनसे जूझने और निबटने में कोई कठिनाई प्रतीत न हो । दुराचारी और दुर्व्यसनी व्यक्तियों को पनपने का अवसर ही नहीं देना चाहिए और हर प्रकार से उनका तिरस्कार व असहयोग करके उन्हें हतोत्साहित करना चाहिए । उनका प्रतिरोध करने में किसी प्रकार की भी ढील नहीं होनी चाहिए ।

समाज को भययुक्त रखने का यही मार्ग है ।

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः ।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥

(ऋग्वेद १०/१५१/२)

भावार्थ-इस संसार में श्रम उन्हीं व्यक्तियों का सफल होता है जो सदैव श्रद्धापूर्वक लोक हितार्थ दान कर्म और पुरुषार्थ करते हैं ।

संदेश-ईश्वर ने इस सृष्टि की रचना क्यों की है ? मनुष्य के लिए । उसके परिश्रम के लिए, पुरुषार्थ के लिए, कर्म के लिए, जिससे धर्म मार्ग पर चलते हुए वह तप कर सके । 'श्रमेण तपसा सृष्टा' । मानव जीवन की सार्थकता श्रम और तप में ही निहित है । श्रम और तप एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । किसी भी कार्य पूर्ति के लिए हम जो कर्म करते हैं, पुरुषार्थ करते हैं, अपने शरीर की कठिनाइयों की चिंता किए बिना जुटे रहते हैं वही तप है । अकारण ही शरीर को सुखाने या जंगलों में जाकर अपना समय व्यर्थ नष्ट करने का नाम तपस्या नहीं है ।

तप का अर्थ है तपना । तपाने, भट्टी में गलाने, के बाद ही सोने में प्रखरता आती है और उसे कैसा भी आकार दिया जा सकता है । इसी प्रकार अपने जीवन को विशेष आकार देने की सामर्थ्य तप, श्रम और पुरुषार्थ से ही प्राप्त होती है । यह तप भी सात्विक, राजसिक और तामसिक, तीन प्रकार का होता है ।

देहिक सुख की तनिक भी चिंता न करते हुए जो मनुष्य ईश्वर की साधना में रम जाता है, उसका तप सात्विक है । सभी प्राणियों में स्थित ईश्वरत्व का साक्षात्कार कर जन सेवार्थ जिसने अपने को आजीवन समर्पित किया, उसका समग्र जीवन ही सात्विक तप है । ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति के लिए जो ऐहिक सुखों का त्याग करता है, अपने जीवन को प्रतिदिन, प्रतिक्षण चंदन के

समान घिसकर जो संसार में सुगंध फैलाता है, उसका जीवन ही सात्विक जीवन है । जिसके कर्म और पुरुषार्थ में चिरनिर्मोही, दृढ़ प्रतिज्ञ एवं दीर्घोपयोगी वृत्ति दिखाई दे, उसीका तप सात्विक है ।

राज्य, धन, कीर्ति, लोकप्रियता, प्रतिष्ठा, अधिकार आदि के लिए जो उद्यम किया जाता है, वह राजसिक तप है । अपनी क्षुधा-तृषा को भूलकर, सब ऐहिक सुखों को तिलांजलि देकर जो वैज्ञानिक वर्षों अपनी प्रयोगशाला में बंद रहकर सृष्टि की अज्ञात शक्तियों का उद्‌घाटन कर, कीर्ति एवं प्रतिष्ठा संपादित करते हैं, वह राजसिक तप है । गायन वादन में प्रवीणता प्राप्त करने के लिए घंटों जुटे रहना, अध्यवसाय और निश्चय से अपने विचारों के प्रचार-प्रसार में लगे रहना भी राजसिक तप है ।

दूसरों का नाश करने के उद्देश्य से ईर्ष्या व द्वेषपूर्वक किया गया सतत उद्योग तामसिक तप है । अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए, इंद्रियों के दास बनकर उनके चोंचले पूरे करने के लिए, क्षुद्र लालसाओं की तृप्ति के लिए किया गया श्रम व पुरुषार्थ तामसिक तप है । रावण, हिरण्यकश्यप आदि ने भी घोर तपस्याएं की थीं; चोर, डाकू, भ्रष्टाचारी आदि भी कुकर्म करते समय अत्यधिक कष्ट सहन करते हैं, ये सब तामसिक तप हैं ।

तपस्या करने के लिए मनुष्य के सामने महान ध्येय होना चाहिए । जीवन को यज्ञमय बनाने के लिए मनुष्य के समक्ष कोई ध्येय होना ही चाहिए । उच्च ध्येययुक्त जीवन यज्ञ की ज्वाला के समान होता है जबकि ध्येयहीन जीवन राख के ढेर के समान । ईश्वर की आज्ञा है कि हम सदैव लोकहित के महान ध्येय में ही श्रद्धापूर्वक अपने कर्म, श्रम और पुरुषार्थ का नियोजन करते रहें ।

ध्येय की विशालता में ही जीवन की सार्थकता है ।

अव मा पाप्मन्त्सृज वशी सन् मृडयासि नः ।
आ मा भद्रस्य लोके पापमन् धेह्यविह्रुतम् ॥

(अथर्व वेद ६/२६/१)

भावार्थ-*जीवन में अनेक विघ्न बाधाएं आती हैं, जो उन्हें प्रयत्नपूर्वक हटाते हैं और विचलित नहीं होते, वही पुरुषार्थी आनंद पाते हैं ।*

संदेश-गंगा गोमुख से निकलती है । एक छोटी सी जल की धारा और ध्येय यह कि सारे संसार की प्यास बुझानी है । उच्च आदर्श, धर्मनिष्ठा, लगन और एकाग्रता के साथ वह उत्साहपूर्वक उछलती कूदती, पत्थरों को तोड़ती, अपनी राह बनाती चल पड़ती है । अतुलित शौर्य, अदम्य साहस और दूरदर्शिता उसके मार्ग की विघ्न बाधाओं को दूर करके सफलता के राजपथ का निर्माण करते हैं । वह छोटी सी जलधार अपने पुरुषार्थ के बल पर ही मीलों, चौड़ी विशाल नदी बन जाती है और धरती को धन धान्य से परिपूर्ण कर देती है ।

इसी प्रकार मनुष्य जीवन का मार्ग भी कांटों और भयानक अवरोधों से भरा हुआ है । ये अवरोध हैं माया, मोह, लोभ, मद, प्रमाद, आलस्य आदि । पग पग पर ये हमारी प्रगति के मार्ग में रुकावटें खड़ी करते हैं । आसुरी वृत्तियां कुविचारों और कुसंस्कारों को जन्म देती हैं । बुराइयों में आकर्षण होता है, चमक होती है, प्रलोभन होता है । इनका आक्रमण भी बड़ी तेजी एवं दृढ़ता से होता है । मनुष्य को हर समय इन सबसे जूझते रहना चाहिए और दृढ़ प्रतिज्ञ होकर अपने को उनके चक्रव्यूह में फंसने से बचाना चाहिए । जीवन में जो भी परेशानियां और कठिनाइयां आती हैं उनसे हमारी संघर्ष करने की क्षमता का विकास ही होता है पर शर्त यही है कि हमारा आत्मिक बल दृढ़ हो । जब हमारे मन में यह विश्वास जागृत हो जाता है कि परमात्मा सर्वत्र

विद्यमान है और हमारे पुरुषार्थ में उसका अमूल्य सहयोग रहता है तो आत्मबल बढ़ता है और कठिनाइयां दुम दबाकर भाग खड़ी होती हैं । दरिद्रता कभी उनके पास आ नहीं पाती । पुरुषार्थी मल्लाह की तरह दूसरों को भी नाव में बिठाकर पार लगा देता है, स्वयं तो आनंद पाता ही है ।

आज अधिकतर व्यक्ति हवाई किले बनाने में ही अपना समय नष्ट करते रहते हैं । वे चाहते तो बहुत कुछ हैं पर स्वयं करना कुछ भी नहीं चाहते । कामचोरी और मुफ्तखोरी उन्हें बहुत रास आती है । अपनी कठिनाइयों से जूझने के स्थान पर दूसरों पर दोषारोपण करना बड़ा आनंददायक लगता है । ऐसे व्यक्ति स्वयं तो असफल होते ही हैं, अपने संपर्क में आने वालों का जीवन भी कष्टमय कर देते हैं । हर समय भाग्य को दोष देना और रोते रहना ही उनकी आदत बन जाती है । मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है । इस तथ्य को वह भूल जाता है और यही उसकी सारी विपत्तियों का मूल कारण है । जब उसका यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि कैसी भी कठिनाई हो वह उसको परास्त करने की क्षमता रखता है, तब उसका मार्ग आसान हो जाता है । फिर वह अनीति से लोहा लेने में, उनको समूल नष्ट करने में तथा नव-सृजन की गतिविधियों में पूरी रुचि व उल्लास के साथ जुट जाता है । जो वास्तव में पुरुषार्थी होता है वही कुविचारों व कुसंस्कारों से, कुरीतियों व कुप्रथाओं से टक्कर लेने का साहस करता है । उन्हें ही यश व कीर्ति की प्राप्ति होती है ।

यही सफल जीवन का मार्ग है । सच्चे पुरुषार्थी को अपने अंतरमन को सभी प्रकार के दोषों से शुद्ध पवित्र करके जनकल्याण के कार्यों में प्रसन्नतापूर्वक लगे रहना चाहिए । यही परमपिता परमेश्वर की आज्ञा है ।

न पञ्चभिर्दशभिर्वष्ट्यारभं नासुन्वता
सचते पुष्यता चन ।
जिनाति वेदमुया हन्ति वा धुनिरा
देवयुं भजति गोमति व्रजे ॥

(ऋग्वेद ५/३४/५)

भावार्थ-आलसी मनुष्य अपना पुरुषार्थ गंवा देते हैं जिससे उन्हें कहीं भी सफलता नहीं मिलती । उन्हें सभी ओर निराशा ही मिलती है ।

संदेश-ईश्वर ने मनुष्य को बनाया है परिश्रम के लिए, पुरुषार्थ के लिए, कर्म के लिए, जिससे धर्म मार्ग पर चलते हुए तप कर सके । यही मानव जीवन का ध्येय है । जो भी कर्म मनुष्य करता है उसके लिए श्रम तो चाहिए ही, तप भी चाहिए । लगन, निष्ठा, एकाग्रता ही तप है । इसी से कर्म सफल होता है । हम चाहे अच्छे कर्म करें या बुरे, श्रम और तप के बिना, पुरुषार्थ के बिना कुछ भी नहीं हो सकता ।

दिन में चौबीस घंटे होते हैं । गायत्री मंत्र में चौबीस अक्षर हैं । गायत्री मंत्र का देवता सविता है जो हमें प्रेरणा देता है कि सूर्य के समान तेजस्वी बनो । सदैव अपने कर्म पथ पर अविचल बढ़ते रहो । कैसी भी परिस्थितियां आएं, कितने ही अवरोध उत्पन्न हों, पर हम रुकें नहीं ।

परंतु आज आलस्य मनुष्य के रग-रग में समाता जा रहा है । वह बिना कुछ किए-धरे ही सब कुछ पा लेना चाहता है । उसका चिंतन विकृत होता जा रहा है । वह सोचता है कि ईश्वर की जो मर्जी होगी वही होगा इसलिए कर्तव्य पालन का श्रम करने की अपेक्षा चुप बैठ रहना या देवी देवताओं की मनौती मानना ही ठीक

है । वह यह भूल जाता है कि परिस्थितियों का जन्मदाता वह स्वयं ही है । अपने भाग्य का निर्माण भी वह स्वयं ही करता है । श्रम से बचने के अनेक बहाने उसने खोज लिए हैं और असफलता को भाग्य के मत्थे डालकर वह संतोष करना चाहता है । उसके हिस्से केवल निराशा ही आती है । पुरुषार्थ करने से विपरीत परिस्थितियां भी हमारे अनुकूल होती चली जाती हैं । परमात्मा भी पुरुषार्थी की सहायता करता है और असफलेता भी सफलता में परिणत हो जाती है ।

आलस्य पुरुषार्थ का प्रबल शत्रु है । आलस्य सारे दुर्गुणों का मूल है । यह मनुष्य की उन्नति में बहुत बड़ा विघ्न है और जीवन मूल्यों को अत्यधिक हानि पहुंचाता है । आलसी व्यक्ति कार्य में टालमटोल करता है जो शनैः शनैः उसको असमर्थ बना देता है । उसे सर्वत्र निराशा ही हाथ लगती है । निराशा और हताशा से ग्रसित मनुष्य का विवेक भी नष्ट हो जाता है और वह परिस्थितियों से जूझने का साहस भी नहीं जुटा पाता । उसमें जो भी क्षमता पहले से होती है वह भी मंद और कुंद पड़ जाती है । वह कुछ करना तो चाहता है पर आलस्यवश कुछ कर नहीं पाता । विचारों को कार्यरूप में परिणत करने का उत्साह ही नहीं जागता । जो आलस्य रहित होकर चुस्त और फुर्तीले होते हैं, समय का सदुपयोग करते हैं, व्यर्थ बकवास में अपना अमूल्य समय नष्ट नहीं करते, सफलता उनके चरण चूमती है । जो अपना कल्याण चाहते हैं, कीर्ति चाहते हैं, उन्हें आलस्य के भयंकर दोष को अपने जीवन से समूल उखाड़कर फेंक देना चाहिए और उद्यमशील और मितभाषी बनकर श्रद्धापूर्वक पुरुषार्थ करते रहना चाहिए । इसी से अभीष्ट फल की प्राप्ति संभव है ।

बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः
सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः ।
अभिवीरो अभिषत्वा सहोजिज्जैत्रमिन्द्र
रथमा तिष्ठ गोविदन् ॥

(अथर्व वेद १९/१३/५)

भावार्थ-सफलता प्राप्त करना चाहते हो तो अपनी शक्तियों को पहचानो । जीवन में अनेक विघ्न बाधाएं आती हैं, इनसे संघर्ष करने के लिए आत्मविश्वासी होना चाहिए ।

संदेश-अवरोध हर कार्य में आते हैं । प्रगति का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं जहां सहज ही अभीष्ट उपलब्धियां प्राप्त हो जाएं । किसी वर्ग में ऐसे मनुष्य नहीं हैं जिनमें केवल सज्जनता ही भरी हो । घटनाक्रम हमारी इच्छानुसार ही हो यह भी संभव नहीं है । प्रतिकूलताओं से टकराकर अपने लिए रास्ता बनाने की प्रक्रिया हर पुरुषार्थी को अपनानी पड़ती है । दुर्जनों को सज्जन अनायास ही नहीं बना लिया जाता वरन उन्हें बार बार नरम-गरम करना पड़ता है । उनके दुराचरण और आतंक की उपेक्षा करके साहसपूर्वक उन्हें यह बताना पड़ता है कि उन्हीं की मर्जी सब कुछ नहीं अपितु न्याय और औचित्य का ही महत्व है । आतंक की व्यर्थता और औचित्य की समर्थता को दृढ़तापूर्वक अनुभव कराए बिना दुर्जनों को रास्ते पर लाने का कोई और मार्ग नहीं है ।

साहसी व्यक्ति ही ऐसा कर सकते हैं अन्यथा उनकी सारी प्रतिभा और क्षमता धरी रह जाती है । प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदलने के लिए संघर्ष करना पड़ता है । निर्धनता को संपन्नता में बदलने के लिए कठोर श्रम करना होता है । दुर्बल शरीर को पुष्ट बनाने के लिए स्वास्थ्य साधना करनी पड़ती है । अशिक्षित एवं अविकसित मस्तिष्क को विद्वानों के समान बनाने हेतु मनोयोग

पूर्वक अध्ययन के तप में संलग्न होना पड़ता है । जिसके भीतर इस प्रकार के पुरुषार्थ और पराक्रम करने की हिम्मत न उठती हो उसके लिए सफलता और संपन्नता के सारे द्वार सदा के लिए अवरुद्ध पड़े रहेंगे ।

ईश्वर उनकी सहायता करता है जो अपनी सहायता आप करने को खड़े होते हैं । हिम्मत वाले को पहाड़ भी रास्ता दे देते हैं । मानवीय अंतरात्मा में अपार शक्ति के स्रोत और सामर्थ्य के भंडार भरे पड़े हैं । पर उन्हें जगाने के लिए साहस का संबल चाहिए । जो कठिन परिस्थितियों से धैर्यपूर्वक स्वयं लड़ता है और अपने हाथों स्वयं रास्ता बनाने का प्रयास करता है, उसे दूसरों का भी भरपूर सहयोग मिलता है ।

अपने भीतर अनेक दोष-दुर्गुण भरे पड़े हैं । यदि उन्हें जैसे का तैसा पड़ा रहने दिया जाए और उखाड़ने की हिम्मत न की जाए तो निश्चय ही हमारा व्यक्तित्व ओछा और निम्न स्तर का बनेगा । नैतिक अनाचार और सामाजिक कुरीतियों का एक चक्रव्यूह सा बन गया है उसे तोड़ा न जाएगा तो हम सब रोते कलपते ही दिन गुजारते रहेंगे । हिम्मत न जुटाई, अनौचित्य का प्रतिरोध न किया तो यह सघन अंधकार और अधिक गहरा होता जाएगा । प्रचलित ढर्रे को बदले बिना अपने मायामोहनिष्ठ जीवन को उत्कृष्टता और आदर्शवादिता के अनुरूप ढालना संभव ही नहीं है । आत्मिक उत्कर्ष के लिए कुछ नया ढर्रा, कुछ नई रीति-नीति अपनानी पड़ती है इससे स्वयं भी अटपटा लगता है और घर वाले भी व्यंग-विरोध करते हैं । साहस के बिना यह कैसे कर सकेंगे ?

साहस, हिम्मत हमारा आध्यात्मिक गुण है । यह हमारी अंतरात्मा की अतुलित शक्ति से उपजता है । हमें अपनी इस शक्ति को पहचानकर प्रगति के लिए पुरुषार्थ और अनौचित्य से जूझने का साहस करना ही होगा । संघर्ष ही जीवन है ।

शुची वो हव्या मरुतः शुचीनां
शुचिं हिनोम्यध्वरं शुचिभ्यः ।
ऋतेन सत्यमृतसाप आयुञ्छुचिजन्मानः
शुचयः पावकाः ॥

(ऋग्वेद ७/५६/१२)

भावार्थ-हमारा अंतर-बाह्य सभी कुछ शुद्ध हो । धर्म से कमाए हुए शुद्ध धन द्वारा परोपकार करें । रिश्वत लेना, जुआ खेलना, बेईमानी तथा अनाधिकारपूर्वक छीना हुआ धन घर को तथा राष्ट्र को बरबाद कर देता है ।

संदेश-धर्म संसार का आधार है, जीवन जीने की कला है । उस के अनुरूप आचरण करने से ही इस मानव शरीर की सार्थकता है । संसार की विषम से विषम परिस्थितियों में भी धर्म ही मनुष्य का सहायक होता है । धर्म के ऊपर ही विश्व का समस्त भार है । यदि धर्माचरण ही समाप्त हो गया तो सबको अपने प्राण बचाने और दूसरों को कुचलने की चिंता ही रात-दिन बन रहेगी । सर्वत्र लूट-खसोट, मार-पीट, अराजकता, अनाचार व अत्याचार का ही बोलबाला दिखाई देगा । सारा सुख-चैन नष्ट हो जाएगा । आज चारों ओर अधिकांश यही हो रहा है । इसका कारण है कि लोगों ने अपने स्वार्थ के आगे धर्म को भुला दिया है । माया, मोह, लोभ की पट्टी उनकी आंखो पर बंधी है और उन्हें यह दिखता ही नहीं कि वे एक दूसरे की जड़ें खोदने में लगे हैं और सबके लिए नारकीय परिस्थितियां उत्पन्न कर रहे हैं ।

धर्म कितना महत्वपूर्ण है, कितना सुदृढ़ है, इसका अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि दुष्ट लोग भी धर्म की आड़ में अनुचित लाभ उठाने व ठगी का जाल फैलाने का प्रयास करते हैं । जहां श्रेष्ठता होती है वहां कुछ बुराई भी घुस आती हैं । लोग धर्म पालन को बहुत महत्व देते हैं और इसके लिए हर प्रकार का त्याग व

बलिदान करने को भी तत्पर रहते हैं । ऐसे में स्वार्थपरता भी अपनी जड़ें जमाने लगती हैं । अनेक व्यक्ति लाल-पीले कपड़े पहनकर तिलक-चंदन लगाकर धर्म गुरु बनने का ढोंग रचते हैं और लोगों की धार्मिक भावनाओं का शोषण करते हैं । न जाने कितनी नकली धार्मिक संस्थाएं चारों ओर इसी आधार पर फल फूल रही हैं । वहां अनीतिपूर्वक एकत्र किए हुए धन से हर प्रकार के दुराचार होते हैं । जिस धर्म के मजबूत आधार का आश्रय लेकर दुराचारी व्यक्ति भी अपना काम चलाना चाहते हैं उसे हम क्यों छोड़ दें ? मनुष्य जीवन की इमारत का निर्माण ही धर्म के सुदृढ़ आधार पर होना चाहिए ।

दान-पुण्य, धार्मिक कर्मकांड आदि तो धर्म के साधन मात्र हैं । वास्तविक धर्म तो कर्तव्य पालन, दूसरों की सेवा, परोपकार, सचाई और संयम में ही है । जो इन तत्त्वो को अपने विचार व आचरण में प्रमुख स्थान देता है वही सच्चा धर्मात्मा है । अन्यथा धर्म का ढोंग करने से कोई लाभ नहीं है । जीवन की सफलता तभी है जब यह धर्म हमारे रक्त में घुला हुआ हो, रोम-रोम में व्याप्त हो । जो कुछ भी हम देखें, सोचें, करें सब कुछ धर्मानुकूल ही हो । दूसरों को अधर्माचरण से यदि कुछ लाभ हो रहा है तो उसे देखकर अपनी नीयत मत बिगाड़ो । कांटे में लिपटी हुई आटे की गोली खाकर मछली की जो दशा होती है वही अनीति से लाभ उठाने वालों की भी होती है । कोई भी बुद्धिमान और दूरदर्शी व्यक्ति इस मार्ग के अनुसरण करने की मूर्खता नहीं कर सकता ।

धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिए सद्बुद्धि हमारे पास है । अल्प बुद्धि और बिना पढ़े-लिखे लोगों को भी सद्बुद्धि का वरदान मिला हुआ है । उसका निष्पक्ष, निर्भय होकर उपयोग करना चाहिए । अपनी सद्बुद्धि की सहायता से उपयोगी रीति रिवाज व आचरण को निर्धारित करके पालन करना ही सच्चा मानव धर्म है ।

परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्यइष्टये ।
वयो न वसतीरूप ॥

(ऋग्वेद १/२५/४)

भावार्थ-क्रोधी व्यक्ति हमसे सदैव वैसे ही दूर रहें जैसे पक्षियों को उड़ा देने से वे दूर चले जाते हैं । क्योंकि क्रोधी व्यक्ति के पास रहने से स्वभाव उल्टा हो जाता है और धर्म की हानि होती है ।

संदेश-काम, क्रोध और लोभ आत्मा का नाश करने वाले तीन घोर शत्रु और नरक द्वार हैं । इन तीनों में से क्रोध सबसे भयानक है । यह बड़ी बुरी बला है और सभी बुराइयों और लड़ाइयों का घर है । क्रोध उस बारूद के समान है, जो दूसरों का नाश करने से पूर्व जिसमें यह रहता है उसे ही भस्म कर देता है । क्रोध की अग्नि भी दूसरों को जलाने से पहले जहां उत्पन्न होती है, उसे ही जलाती है । क्रोध दूसरों को हानि पहुंचाने से पूर्व क्रोध करने वाले को ही जलाता है और कुरूप बना देता है । क्रोध में आंखें लाल हो जाती हैं, चेहरा भयंकर और विकराल हो जाता है । यह शरीर को जलाता है, हृदय को तपाता है, रक्त संचार को अनियमित कर देता है, व्याकुलता बढ़ाता है, वाणी को कठोर-कर्कश बनाता है और धर्म को छुड़ाता है । क्रोध से मनुष्य का धैर्य, विद्या, ज्ञान, विवेक सबका नाश हो जाता है ।

क्रोध अहंकार से उपजता है, मूढ़ता से बढ़ता है और पश्चात्ताप पर समाप्त होता है । यह मन में बुरे विचारों और भावों को जन्म देता है जिसके फलस्वरूप द्वेष, घृणा, वैमनस्य, प्रतिकार, दुख, अभिमान आदि उत्पन्न होते हैं । क्रोध में मनुष्य माता, पिता, आचार्य, संबंधियों आदि का भी अपमान कर बैठता है । क्रोधी मनुष्य दूसरों को दुखी करता है या नहीं पर स्वयं अंदर ही अंदर

जलता रहता है । इस भयंकर रोग से शारीरिक, मानसिक, आत्मिक हर प्रकार की अवनति होती है ।

क्रोध के साथ यदि विवेक का अंकुश भी रहे तो यह एक रामबाण औषधि का कार्य करता है, जिस प्रकार बहुत से रोगों के उपचार में संखिया तक दी जाती है । परिवार के सदस्यों, सहयोगियों तथा अधीनस्थों को सुधारने के लिए और बिगाड़ से बचाने के लिए क्रोध के विवेकपूर्ण प्रदर्शन की आवश्यकता होती है । दंड और प्रताड़ना का भी प्रयोग करना पड़ता है । यदि इस स्थिति का त्याग कर दिया जाए तो फिर मां, बाप, अध्यापक, अधिकारी आदि अपने कर्तव्यों का पालन नहीं कर सकेंगे । क्रोध का विवेकपूर्ण और व्यावहारिक प्रदर्शन वास्तव में प्रेम भाव का ही एक रूप है और इसके प्रयोग में बहुत संयम बरतना होता है । क्रोध केवल दूसरों को आत्मसुधार की प्रेरणा देने के एक सशक्त साधन के रूप में ही प्रयुक्त होना चाहिए ।

क्रोध निवारण के अनेक उपाय हैं । मौन धारण करके मन ही मन गायत्री मंत्र का जाप करने से क्रोध के विषय से ध्यान हट जाता है और वह शांत हो जाता है । यदि किसी की गलती पर क्रोध आए तो यह भी ध्यान करना चाहिए कि ऐसी गलती हमसे भी हो सकती है । इस प्रकार विवेकानुसार विचार करने से क्रोध का वेग कम हो जाता है और बार-बार के अभ्यास से अंततः उस पर विजय पाई जा सकती है । धैर्य और क्षमा का अभ्यास क्रोध निवारण के सर्वोत्तम उपाय हैं । धैर्य उसे शांत कर देता है और क्षमा तो समूल नष्ट कर देती है ।

व्यक्तिगत, पारिवारिक अथवा सामाजिक जीवन में यश व कीर्ति प्रदान करने के लिए क्रोध का सर्वथा त्याग करके हमें सभी से प्रेममय, स्नेहसिक्त व्यवहार करना चाहिए ।

क्रोध पाप का मूल है ।

एतो न्वद्य सुध्यो भवाम प्र
दुच्छुना मिनवामा वरीयः ।
आरे द्वेषांसि सनुतर्दधामायाम
प्राञ्चो यजमानमच्छ ॥

(ऋग्वेद ५/४५/५)

भावार्थ-सच्ची प्रशंसा के पात्र वे हैं जो द्वेष दुर्भावनाओं से रहित सनातन सत्य का अनुशीलन करते हैं । दुष्टों का निवारण करने और विज्ञान को बढ़ाने वाले पुरुष ही सम्मान के अधिकारी होते हैं ।

संदेश-मानव जीवन में अनेकानेक मनोविकार होते हैं और उनसे छुटकारा पाने के सतत प्रयास करते रहने में ही इसका महत्व है । यह एक बड़ा कठिन कार्य है । हमारे आचरण में जो दोष दुर्गुण एक बार प्रवेश कर जाते हैं उनसे आसानी से पिंड नहीं छूटता । द्वेष भाव से तो जान छुड़ाना बहुत ही कठिन होता है । इसके लिए मानसिक निर्मलता, सुहृदयता और समरसता की प्रबल भावना मन में होनी चाहिए । जो हमारी अर्थ-हानि और मानहानि का कारण बने, हमारे मार्ग में कठिनाइयां उत्पन्न करे, उसको हम कोई हानि न पहुंचाएं और अपमानित न करें, यह कम साधना की बात नहीं है । इसके लिए प्रचंड आत्मिक बल की आवश्यकता है । 'जो तो को कांटा बुवै, ताहि बोए तू फूल' की भावना बिरलों के ही आचरण में होती है । यह तभी संभव हो सकता है जब एक दूसरे के सुख-दुख को समझकर आपस में मानसिक भावों की एकता हो, मैत्री भाव हो । मानसिक और आध्यात्मिक जगत में द्वेष ही प्रगति में सर्वाधिक बाधक होता है ।

द्वेष भाव का त्याग करके किसी के बुरे व्यवहार का उत्तर भी अच्छे व्यवहार से देना केवल मनुष्य के व्यक्तिगत आचरण से संबंध रखता है । राष्ट्रीय, समाजगत और संस्थागत धर्म से इसका कोई

संबंध नहीं है । शत्रु देश यदि हमला कर दे तो उसके कांटों का उत्तर फूलों से नहीं शूलों से ही देना होगा । समाज के अवांछनीय तत्त्वों को, अपराधियों को उचित एवं कठोर दंड देने का विधान ही समाज को व्यवस्थित रखता है । अपराधियों के कांटों के जबाव में फूल बोना समाज के लिए अत्यंत हानिकारक होगा और संस्थागत धर्म की जहां तक बात है, त्रुटि करने वाले को दंड दिए बिना संस्था की व्यवस्था चल ही नहीं सकती । प्रबंधक को सदैव सुधारवादी दृष्टिकोण सामने रखकर संस्था के हित में कठोरतापूर्वक अवांछनीय गतिविधियों को कुचल देना चाहिए, किसी के प्रति प्रीतिकारी नहीं होना चाहिए । सत्तारूढ़ होकर प्रीतिकार की भावना से बचना केवल संस्कारी जीवों का ही काम है । आज अनेक संस्थाएं इसी प्रकार अपने उद्देश्य से भटक रही हैं । 'अंधा बांटे रेवड़ी अपनों को ही देय' की भावना से प्रबंधक अपने आदमियों की त्रुटियों को अनदेखा करके उन्हें और अधिक त्रुटियां करने को उकसाते रहते हैं । साथ ही सत्ता के मद में वे अपना मानसिक संतुलन खो कर ईमानदार व अच्छे कार्यकर्ताओं का द्वेषपूर्वक मानमर्दन करने में भी नहीं चूकते ।

हमारे मन में किसी के प्रति द्वेष भाव न रहे और जो भी हमारे प्रति ऐसा भाव रखे उसे हम क्षमा कर दें, इसका संबंध विशुद्ध व्यक्तिगत व्यवहार से है न कि राष्ट्रीय, सामाजिक और संस्थागत व्यवहार से । पर होता अधिकतर उलटा है । लोग व्यक्तिगत स्तर पर तो द्वेष भाव को पाले रहते हैं और निरंतर उसी की आग में अपने को जलाते रहते हैं जबकि राष्ट्रीय, सामाजिक या संस्थागत व्यवहार में द्वेष दुर्गुणों के आगे सिर झुका देते हैं । यह उनकी मानसिक कायरता का परिचायक है । हमें अपने व्यक्तिगत आचरण में निरंतर इस द्वेष भाव से छुटकारा पाने का प्रयास करते रहना चाहिए ।

ये मूर्धानः क्षितीनामदब्धासः स्वयशसः ।
व्रता रक्षन्ते अद्रुहः ॥

(ऋग्वेद ८/६७/१३)

भावार्थ-यश की कामना वाले पुरुषो ! कभी किसी से द्वेष मत रखना, सत्य आदि सत्कर्मों का पालन करना इससे तुम्हारा भय समाप्त हो जाएगा और मनुष्यों में श्रेष्ठ कहलाओगे ।

संदेश-हमारे विद्वान ऋषियों-मनीषियों ने जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए उत्तम व्यवस्था की थी । राष्ट्रीय, समाजकि और संस्थागत गतिविधियों का संचालन भी श्रेष्ठ गुण संपन्न यशस्वी लोगों के हाथों में रहे, ऐसी कामना की थी । उन्होंने विधान बनाया था कि राष्ट्राध्यक्ष, सभासद, अधिकारी, प्रबंधक, व्यवस्थापक आदि सदैव ऐसे ही व्यक्ति बनें जो गुणों में सर्वश्रेष्ठ हों; दूसरों की विभूति, उन्नति व मंगल देखकर ईर्ष्या-द्वेष न करें; अपनी वीरता, सदगुण, विद्या आदि के द्वारा एवं परिश्रम करके स्वयं यश प्राप्त करते हों और किसी से भी द्रोह न करते हों । ऐसे व्यक्ति ही ईश्वरीय एवं लौकिक नियमों का स्वयं भी पालन कर सकते हैं और जन साधारण से भी करा सकते हैं ।

पर आजकल इसका पूर्णरूपेण उलटा हो रहा है । जो देखो सो एक दूसरे की टांग खींचने में, नीचा दिखाने में लगा हुआ है । ईर्ष्या-द्वेष की भावना चरम पर है । सत्ता संघर्ष में लिप्त व्यक्ति उचित-अनुचित का कोई ध्यान नहीं रखते और साम, दाम, दंड, भेद से कैसे भी अपना वर्चस्व स्थापित करने का प्रयास करते रहते हैं । अपराधिक एवं अवांछनीय तत्त्व अपनी निकृष्ट हरकतों से समाज में अराजकता फैला रहे हैं और सत्ताधीश अपनी स्वार्थपूर्ति के लोभ में उनका निषेध ही नहीं करते । ऐसे अपराधियों का सहयोग ही आज सत्ता प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ आधार बन गया है । चाहे

देश या राज्यों की सत्ता का प्रश्न हो अथवा सामाजिक या धार्मिक संस्थाओं के प्रबंध का, अधिकांश पर इसी प्रकार की निकृष्ट विचारधारा के व्यक्ति अपना कब्जा जमाए हुए हैं । जो भी उनके विरुद्ध आवाज उठाने का प्रयास करता है उससे इतना अधिक द्वेष और बैर भाव रखते हैं कि उसकी जान तक ले लेने के उपक्रम चलाने में जरा भी संकोच नहीं करते ।

भगवान राम को अपनी विमाता कैकेई से जरा भी द्वेष नहीं था यद्यपि उन्हीं के कारण राम को राजसिंहासन का त्याग करके वन के कष्ट भुगतने पड़े थे । रावण को उन्होंने इसलिए दंडित नहीं किया था कि उनकी पत्नी सीता का अपहरण किया गया था । व्यक्तिगत द्वेष भाव वहां नहीं था वरन वह युद्ध तो इसलिए लड़ा गया था कि जनता को उसकी राक्षसी वृत्तियों से छुटकारा मिल सके । सीताहरण तो निमित्त मात्र था । महर्षि दयानंद सरस्वती ने भी सामाजिकता और राष्ट्रीयता की दृष्टि से 'सब के साथ प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य बरताव' करने की बात कही थी । सबसे पहले प्रीति होवे । सब मनुष्य उस परमपिता की संतान हैं और हमारे भाई के समान हैं । उनसे किसी प्रकार का द्वेष या बैर नहीं, बस प्रेम व स्नेह का ही संबंध रहे । साथ ही धर्मानुसार, यथायोग्य व्यवहार भी हो । यदि उसका आचरण अधर्म एवं अन्याय का हो तो उसे उचित प्रताड़ना या दंड भी दिया जाए । कोई पक्षपात या भाई-भतीजावाद नहीं, कोई अपना-पराया नहीं, सबके साथ यथायोग्य, न्यायपूर्वक व्यवहार करना, यही हमारी आदर्शवादिता होनी चाहिए ।

द्वेष भाव का त्याग करके ही लोकहित के, परोपकार के कामों में सफलता प्राप्त की जा सकती है और इसी से समाज में सुख शांति का वातावरण बन सकता है ।

विश्वा उत त्वया वयं धारा उदन्याइव ।
अति गाहेमहि द्विषः ॥

(ऋग्वेद २/७/३)

भावार्थ-जैसे पानी की धारा एक जगह नहीं टिकती ऐसे ही बैर की भावनाएं भी एक स्थान पर रुकने न पावें । शत्रुभाव त्याग कर मित्र भाव जागृत करना चाहिए ।

संदेश-हमारे मन में एकत्रित सभी कुसंस्कारों का मूल कारण अविद्या अथवा अज्ञान है जो हमेशा ईश्वर प्राप्ति में बाधक होता है । हम अपने दिव्य स्वरूप के प्रति न तो सचेत रहते हैं और न हमें अपनी दिव्यता का ही ज्ञान रहता है । इस अज्ञानता से ही अहंकार का उदय होता है । मैं यह हूं, मैं वह हूं आदि अहंभाव हमें स्वयं को दूसरों से भिन्न समझने को प्रेरित करते हैं । इससे आसक्ति, घृणा, अपना-पराया, राग-द्वेष की भावना जन्म लेती है और हम आध्यात्मिकता के मार्ग से भटककर स्वयं अपने ही जीवन का पतन कर लेते हैं ।

बैर भाव के निरंतर चिंतन से दुष्प्रवृत्तियों में वृद्धि होती है और तदनुसार मनुष्य का आचरण निम्न स्तर का होता जाता है । मन में हर समय यही विचार बना रहता है कि कैसे अपने बैरी से बदला लिया जाए, कैसे उसकी अधिकाधिक हानि की जाए, कैसे उसका अपमान किया जाए । निरंतर यही उधेड़बुन होती रहती है । आक्षेप, व्यंग, कटाक्ष और कटुता भरा आचरण अपनाकर व्यक्ति स्वयं अपना ही चारित्रिक पतन करता है । उसके संपर्क में आने वाले व्यक्तियों को उससे जो मानसिक कष्ट होता है, सो अलग । ऐसे निकृष्ट व्यक्ति हर समय अपने विरोधी के विनाश की ही कल्पना करते रहते हैं और उसकी जरा सी भी हानि होने पर प्रसन्नता व्यक्ति करने की नीचता भी दिखाते हैं ।

बहता हुआ जल कितना पवित्र और निर्मल होता है । नदी, नाले, निर्झर की धारा सबको उल्लास प्रदान करती है । पर यदि इस जल को एक गड्ढे में रोक दिया जाए तो सड़ने लगता है और सर्वत्र दुर्गंध फैलाता है । यही हाल बैर व द्वेष की भावना को अपने मन के भीतर रोक कर रखने से होता है । ऐसे लोगों के मन में प्रेम की भावना के स्थान पर घृणा के भाव जागृत होते हैं और चारों ओर वैमनस्य, तिरस्कार, असहयोग का अहितकर दूषित वातावरण उत्पन्न हो जाता है ।

संसार में निर्दोष व्यक्तियों की संख्या बहुत कम है । दो-चार दोष-दुर्गुण तो हर व्यक्ति में होते ही हैं । हम स्वयं भी इसके अपवाद नहीं हो सकते । पर मनुष्य अपने अवगुणों की ओर तो ध्यान देता ही नहीं और दूसरों की जरा-जरा सी बात पर उनसे दुश्मनी ठान कर बैठ जाता है । आजकल का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक वातावरण ही ऐसा अस्वाभाविक बन गया है कि लोग बैर भाव की दुर्गंधयुक्त दलदल में ही फंसे रहते हैं । शत्रु भाव का त्याग करके जब तक आपस में मित्रता की भावना नहीं पनपेगी, समाज व परिवार में सुख शांति का वातावरण बन ही नहीं सकेगा । इसके लिए सबसे महत्वपूर्ण है सहिष्णुता और समझौते की भावना । जहां तक संभव हो सके ठंडे दिमाग से परिस्थितियों का अध्ययन करें तो पता चल जाएगा कि दूसरों के आचरण बैर या द्वेष भाव से जानबूझकर किए गए नहीं हैं । उन्हीं परिस्थितियों में संभवतः हम भी वैसा ही आचरण कर बैठते । इस प्रकार के विचार से मन में अकारण दुराग्रह नहीं होता और सहयोग व क्षमा भाव उदय होता है ।

मन, वचन और कर्म में पूर्ण पवित्रता का अभ्यास करते रहकर ही बैर भावना से छुटकारा पाया जा सकता है ।

सुहृदयं सांमनस्यम विद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाधन्या ॥

(अथर्व वेद ३/३०/१)

भावार्थ-हम पारस्परिक बैर भाव को त्याग कर सुहृदय, मनस्वी तथा उत्तम स्वभाव वाले हों । एक दूसरे को सदैव प्यार की दृष्टि से देखें । तभी हम सुखी रह सकेंगे ।

संदेश-भारतीय समाज दर्शन में त्याग का स्थान बहुत महत्व का है । त्यागमय जीवन को ही यहाँ सर्वश्रेष्ठ माना गया है । दान में भी किसी पर अहसान करने का भाव रहता है, अपने अहंकार का पोषण होता है और बदले में नाम, यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि की आकांक्षा भी रहती है । पर त्याग तो दान से भी ऊपर की स्थिति है जो दुःख, मोह, क्रोध, अहंकार आदि सबसे परे है । जिस व्यवस्था में रुपये, पैसे व अन्य भौतिक संपत्तियों के त्याग का इतना महत्व है वहां अपने दोष दुर्गुणों के त्याग की गरिमा का स्वतः ही अनुभव किया जा सकता है । इनमें भी पारस्परिक बैर भाव को त्यागना परिवार व समाज की उन्नति का मुख्य आधार है । जब मन में द्वेष भाव समाप्त हो जाता है तो वहां पवित्रता और निर्मलता का वास होता है । इससे मनुष्य के हृदय में लोगों के प्रति सद्भावना जागृत होती है और बदले में उसे सबका सहयोग मिलता है ।

समाज हो या परिवार जब तक सब में हृदय की एकता, मन की एकता, द्वेष का अभाव तथा प्रेम एवं सद्भाव का व्यवहार नहीं होगा, सुख शांति का वातावरण बन ही नहीं सकेगा । लक्ष्य एक होने पर भी यदि आपस में द्वेष है, कलह है, ईर्ष्या है और मनोमालिन्य है तो काम कैसे चलेगा ? यदि विचारों की एकता नहीं है, विचार भेद है, मतभेद है तो लक्ष्य भी एक नहीं हो सकेगा । जब लक्ष्य ही निश्चित नहीं होगा तो

फिर 'अपनी अपनी ढपली, अपना अपना राग' की स्थिति हो जाएगी । यदि किसी प्रकार लक्ष्य एक हो जाए तो फिर सबके मन व हृदय भी एक होने चाहिए तभी तो आपस में सहयोग एवं सहानुभूति का वातावरण बनेगा । सच्चे मन से हार्दिक सहयोग मिलने पर ही लक्ष्यपूर्ति संभव हो सकेगी । इसी से प्रेरणा और क्रियाशीलता आती है, पारस्परिक प्रेम और सहानुभूति की अभिवृद्धि होती है । सर्वत्र घनिष्ट प्रेम का प्रवाह होने से लोग अपने स्वार्थ से ऊपर उठकर एक दूसरे का हित चिंतन करते हैं और उसमें अपने प्राण देने तक को तत्पर रहते हैं । आपसी प्रेम की भावना का महत्व सर्वाधिक है । प्रेम और स्नेह से भी ऊपर वात्सल्य का भाव होता है । जिस प्रकार मां अपने बच्चे को या गाय अपने बछड़े को दुलारती व पुचकारती है तथा उसकी भलाई के लिए संसार का बड़े से बड़ा संकट भी स्वयं झेलने को तैयार रहती है, उसी भावना को यदि हम आपसी व्यवहार में उतार सकें तो यह संसार स्वर्ग बन जाए ।

पर यह प्रेम, स्नेह व वात्सल्य की भावना हमारे मन में उपजे भी तो कैसे । वहां पर तो बैर, द्वेष, मनोमालिन्य का कीचड़ भरा है । जब तक उनका निवारण नहीं होगा प्रेम के अंकुर कैसे फूटेंगे ? द्वेष प्रेम का सबसे बड़ा शत्रु है । पारस्परिक एकता, स्नेह, सदभाव और सामंजस्य से ही आत्मीयता व सहकारिता स्थापित होती है तथा व्यक्तित्व का विकास होता है । आपसी प्रेम बंधन पुष्ट होने से एक-दूसरे के सुख-दुख में सहभागी होने की प्रवृत्ति बढ़ेगी । परिवार के हित में, समाज के हित में और राष्ट्र के हित में ही लोग अपना भी हित समझेंगे ।

बैर और द्वेष भाव को अपने मन में घुसने ही नहीं देना चाहिए और यदि कभी आ जाए तो बलपूर्वक धक्का देकर निकाल देना चाहिए ।

उत वा यः सहस्य प्रविद्वान्मर्त्तो
मर्त्तं मर्चयति द्वयेन ।
अतः पाहि स्तवमान स्तुवन्तमग्ने
माकिर्नो दुरिताय धायीः ॥

(ऋग्वेद १/१४७/५)

भावार्थ-जो लोग सदैव दूसरों की निंदा और पर छिद्रान्वेषण में लगे रहते हैं उनसे बचना चाहिए क्योंकि उनके पास रहने से अपना स्वभाव भी वैसा ही बनता है ।

संदेश-यह कहावत है कि 'मनुष्य को दूसरे की आंख का तिल तो दिखाई देता है, पर अपनी आंख का ताड़ दिखाई नहीं देता ।' दूसरों के दोषों को बढ़ा-चढ़ा कर कहने में उसे बड़ा आनंद आता है । परनिंदा में जो मजा आता है वह और किसी भी वस्तु में नहीं । पराकाष्ठा की बात तो यह है कि कुछ लोग मुंह के सामने तो स्तुति करते हैं, चापलूसी करते हैं और पीठ पीछे निंदा करते हैं । चापलूसी करना और निंदा करना दोनों ही उसके निकृष्टतम स्तर को प्रदर्शित करते हैं । निंदा करते करते मनुष्य की दृष्टि ऐसी बन जाती है कि उसे सर्वत्र बुराई ही दिखाई देती है । लोगों के अच्छे गुणों की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता ।

अहंकार और दंभ के वशीभूत होकर लोग दूसरों की निंदा करते हैं । उनमें यह अभिमान जागृत हो जाता है कि मैं बड़ा बुद्धिमान हूं, पराक्रमी हूं, कर्तव्यनिष्ठ हूं तथा बाकी सब बेकार, अज्ञानी और कामचोर हैं । इस भावना से वह औरों को अपने से तुच्छ समझने लगता है तथा उनकी अच्छी बातों में भी दोष खोजने का प्रयास करता है । इससे दूसरे का कुछ बिगड़े या न बिगड़े पर उसकी स्वयं की प्रगति कुंठित हो जाती है । अनेक व्यक्ति स्वयं उचित पुरुषार्थ तो करते नहीं और असफलता से निराश होकर अकारण ही दूसरों में दोष खोजते हैं । वे अपनी कमजोरी को

छिपाने के लिए लोगों की निंदा करके उन्हें नीचा दिखाने का प्रयास करते हैं । द्वेष व ईर्ष्या भी परनिंदा को बढ़ावा देते हैं । अधिकांश व्यक्ति दूसरों के गुणों की परख करना जानते ही नहीं और मिथ्या दोषारोपण करते रहते हैं । स्वयं किसी कार्य में कुशलता का प्रदर्शन करते नहीं और 'नाच न आवे आंगन टेढ़ा' के आधार पर दूसरों में दोष निकालते हैं । जिसके समक्ष स्वयं अपना कोई स्पष्ट ध्येय नहीं होता, समय के सदुपयोग की कोई योजना नहीं रहती, वही परनिंदा में मग्न रहकर समय को नष्ट करता है । परनिंदा की मादकता उसे कुछ सोचने समझने का अवसर ही नहीं देती । दूसरे की अप्रतिष्ठा करके अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने का चलन आजकल सर्वत्र दिखता है ।

दिन प्रति दिन तो स्थिति और भी भयावह होती जा रही है । श्रेष्ठ महापुरुषों के जीवन चरित्र न तो कोई पढ़ता है और न ही उनसे कुछ सीखने का प्रयास करता है । भगवान श्री राम, श्री कृष्ण, राणा प्रताप, क्षत्रपति शिवाजी, लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, सुभाष बोस, लाल बहादुर शास्त्री आदि के जीवन के त्याग, सेवा, शौर्य, दृढ़ता आदि सद्‌गुणो की कोई चर्चा करना भी पसंद नहीं करता । सर्वत्र कामुक, अश्लील, परनिंदा व छिद्रान्वेषण से भरपूर सामग्री ही उपलब्ध है, चाहे साहित्य हो या रेडियो, टी. वी. आदि ।

दूसरों की निंदा कदापि नहीं करना चाहिए । इससे स्वयं अपनी आत्मा मलिन होती है । प्रत्येक मनुष्य में कोई न कोई गुण अवश्य होता है । शहद की मक्खी के समान हमें भी दूसरों के गुणों को देखने की आदत डालनी चाहिए । ऐसा करने से हृदय शुद्ध और पवित्र हो जाता है । सदैव दूसरों के गुण देखो और दोष अपने देखो तभी पता चलेगा कि 'मुझ से बुरा न कोय' ।

निंदा निषेध से ही अपना परिष्कार संभव है ।

यो जाम्या अप्रथयस्तद् यत् सखायं दुधूर्षति ।
ज्येष्ठो यदप्रचेतास्तददाहुरधरागिति ॥

(अथर्व वेद २०/१२८/२)

भावार्थ-जो मनुष्य स्त्रियों का सतीत्व अपहरण करता है, मित्रघात करता है और वृद्ध होने पर भी ज्ञान प्राप्त नहीं करता वह अधोगति को जाता है ।

संदेश-वैदिक धर्म में सदाचार और नैतिकता का बहुत महत्व है । सदाचार ही परम धर्म है । सदाचार की कसौटी है कि हमारा प्रत्येक कर्म सार्वदेशिक, सार्वभौम, सार्वकालिक और सार्वत्रिक हो । उसका किसी देश, काल या भूमि विशेष से संबंध न हो । सत्य बोलना, सेवा करना, परोपकार करना आदि ऐसे ही कर्म हैं । सदाचार उन कर्मों को कहते हैं जिन्हें करने से व्यक्ति की अंतरात्मा को परितोष हो, प्रसन्नता व उत्साह की अनुभूति हो । ऐसे कर्म करने से मनुष्य कभी लज्जित नहीं होता और उसकी आत्म संतुष्टि होती है । यही पवित्र व नैतिक कर्म सदाचार कहलाते हैं । इसके विपरीत जिस कर्म के करने में लज्जा, ग्लानि, भय आदि की अनुभूति हो उसे दुराचार कहते हैं ।

दुराचार का व्यापक अर्थ है बुरा आचरण, दुष्टता का व्यवहार पर इसका एक अर्थ व्यभिचार भी है । अश्लीलता और दुराचार का घनिष्ट संबंध है । जो व्यक्ति अश्लीलता को अपना लेता है उसी के दुराचार की ओर प्रवृत्त होने की संभावना रहती है । हमारे ऋषियों ने वासनात्मक पवित्रता पर बहुत बल दिया है । इस शुद्धि और पवित्रता का साधन है निर्व्यसनता अर्थात व्यसनों से दूर रहना । शराब आदि मादक द्रव्यों का सेवन, मांसाहार, अश्लीलता, व्यभिचार, जुआ आदि मुख्य व्यसन हैं जो मनुष्य के पतन का कारण

बनते हैं । इनमें कामुकता का व्यसन सबसे भयंकर होता है और उस पर नियंत्रण रखना सबसे महत्वपूर्ण सदाचार है । बड़प्पन, विद्वत्ता, कुलीनता और विवेक उसी समय तक मनुष्य में रहते हैं जब तक उसकी कामाग्नि प्रज्ज्वलित नहीं होती । यही भारतीय सदाचार का मापदंड है ।

जिस व्यक्ति ने आंख, कान, वाणी और मस्तिष्क को पवित्र रखने का संकल्प कर लिया और पवित्र रखता रहा, वह अश्लीलता से अवश्य बचा रहेगा । बुरे विचारों से अपने को बचाने के लिए ये प्रतिबंध ही नहीं लगाने होंगे वरन इनके साथ ईश्वर भक्ति, अच्छे ग्रंथों का अध्ययन और पवित्र व्यक्तियों का संग भी अपनाना पड़ेगा । मन जितना ईश्वर भक्ति में लगेगा उतने ही अश्लील विचार परे भागेंगे । अच्छे ग्रंथों का जितना अध्ययन किया जावेगा, बुरे विचार उतने ही दूर होंगे । पवित्र व्यक्तियों का सत्संग सदाचार के मार्ग पर बढ़ने की प्रेरणा देगा । शरीर, वचन और मन से संयमित आचरण करने वाला ही सदाचारी कहलाता है ।

वैदिक धर्म और भारतीय संस्कृति का लक्ष्य है प्राकृतिक पदार्थों का उपभोग करते हुए परमात्मा तक पहुंचना । परमात्मा शुद्ध स्वरूप है अतः शुद्ध स्वरूप तक पहुंचने के लिए आत्मा को शुद्ध और पवित्र होना पड़ेगा । आत्मा की शुद्धता और पवित्रता के लिए दुर्व्यसनों को त्यागकर सदाचार को अपनाना ही पड़ेगा । सात्विकता को अपने जीवन का आधार बना लेने पर ही मन में सद्विचारों की उत्पत्ति होती है । उसी से अंतरात्मा में उच्च, शुद्ध एवं पवित्र विचार उठते हैं जो हमें नैतिक आचरण को अपनाने के लिए प्रेरित करते हैं ।

वैचारिक पवित्रता सदाचार का मुख्य आधार है ।

उत्सकथ्याऽअव गुदं धेहि समञ्जि चारया वृषन ।
य स्त्रीणां जीव भोजनः ॥

(यजुर्वेद २३/२१)

भावार्थ-जो स्त्री या पुरुष विषय सेवन द्वारा व्यभिचार को बढ़ावा देते हैं, उन्हें कठोर दंड दिया जाना चाहिए । मांस सेवन करने वाले भी दंड से वंचित न रहें । ये समाज के अपराधी हैं ।

संदेश-दुष्कर्मों के और कुविचारों के जो कुसंस्कार मन पर जमते हैं वे एक प्रकार से विषैली पर्तों के रूप में चेतन मस्तिष्क और अचेतन चित्त पर जमते रहते हैं । ये मन की चंचलता, उद्विग्नता, अस्थिरता, आवेग, विक्षोभ आदि के रूप में फूटते हैं और व्यक्ति को अर्धपागल जैसा बना देते हैं । वह किसी काम को एकाग्र चित्त होकर नहीं कर पाता और हर घड़ी उधेड़बुन में ही लगा रहता है । फलस्वरूप पग-पग पर उसे असफलता मिलती है और ठोकरें लगती हैं । असंतुलित व्यवहार से वह रुष्ट और असंतुष्ट होकर असहयोगी, विरोधी और अपराधी बन जाता है । परिवार और समाज में सभी से कलह करने का अभ्यस्त व्यक्ति हर घड़ी विक्षुब्ध बना रहता है । न तो मस्तिष्क ठीक प्रकार से सोच पाता है, न कोई सही रास्ता मिलता है । शरीर से रुग्ण और मन से विक्षुब्ध व्यक्ति जीवित रहते स्वयं नरक भोगता है और सामाजिक वातावरण को भी दूषित करता है ।

व्यसन और मृत्यु में व्यसन अधिक कष्टदायक होता है । व्यसनों में अलिप्त व्यक्ति मरकर भी सुख प्राप्त करता है पर दुर्व्यसनों में फंसा हुआ व्यक्ति प्रति पल मरता रहता है और अधोगति को प्राप्त होता है । निर्व्यसनता मनुष्य की शोभा का कारण होती है । जो व्यक्ति मादक द्रव्यों का सेवन नहीं करता उसे निश्चित रूप से नशा करने वालों से अच्छा समझा जाएगा । मांसाहार न करने वाला

व्यक्ति मांसाहारी की अपेक्षा श्रेष्ठ समझा जाएगा । जुआरी की अपेक्षा जुआ न खेलने वाला ही सम्मान व प्रतिष्ठा पाता है ।

दुष्कर्मों, दुराचारों और दुर्व्यसनों में उलझा हुआ व्यक्ति अपने पतन का कारण तो बनता ही है, समाज के प्रति भी घोर अपराध करता है । उसके कारण समाज में अराजकता व अशांति फैलती है और न जाने कितने लोगों के जीवन पर भी उसका दुष्प्रभाव पड़ता है । व्यभिचार और बलात्कार से पीड़ित व्यक्ति को आजीवन मानसिक यातना भुगतनी पड़ती है ।

जहां ये सब दुर्व्यसन समाज के प्रति अपराध हैं वहीं मांसाहार जीव जगत के प्रति अपराध है । यह मुनष्य को जंगली और अशिष्ट बनाता है और बुद्धि को मलिन करता है । मांसाहार से मनुष्य के हृदय से दया का भाव दूर हो जाता है । यह उसकी शारीरिक, आत्मिक, मानसिक तथा बौद्धिक उन्नति को रोककर अवनति की ओर ले जाता है । मांस, मछली, अंडा मनुष्य का भोजन नहीं है अतः इसे वर्जित समझना चाहिए । संसार भर में जितने भी महापुरुष हुए हैं वे सभी शाकाहारी रहे हैं और उन्होंने मांसाहार की भरपूर निंदा की है । मांसाहार अहिंसा को त्याग कर ही किया जा सकता है । हमारे ऋषियों ने सदैव ही अहिंसा की महिमा का बखान किया है । महाभारत (आदि पर्व) में ऋषि ने स्पष्ट कहा है 'अहिंसा परमोधर्मः सर्वप्राणभूतां वर ।' किसी भी प्राणी को न मारना ही परम धर्म है । अहिंसा से बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है ।

समाज एवं जीव जगत के इन अपराधियों को, मानवता के विरोधियों को उचित दंड अवश्य मिलना चाहिए । ऐसी दुष्प्रवृत्तियों को जड़ से उखाड़ फेंकने के उपक्रम हम सभी को करने चाहिए तभी हम सामाजिक उत्तरदायित्व को भली प्रकार निभा सकेंगे ।

**हत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम् ।
ऊधर्न नग्ना जरन्ते ॥**

(ऋग्वेद ८/२/१२)

भावार्थ-दुष्ट बुद्धि के लोग मनमानी शराब पीकर आपस में लड़ते रहते हैं और नंगे होकर रात भर इधर उधर घूमते रहते हैं । इसलिए सज्जन पुरुष कभी भूल कर भी शराब न पिएं ।

संदेश-बुद्धिमान समझा जाने वाला मनुष्य जब न करने योग्य करता है, न खाने योग्य खाता है और न पीने योग्य पीता है तो उसकी बुद्धिमत्ता पर सहज ही संदेह होता है । शराब, तंबाकू आदि विषैले पदार्थ मनुष्य की प्रकृति और शारीरिक स्थिति में समाविष्ट कराए जाने पर सदैव विपरीत और दुखद प्रभाव ही छोड़ते हैं । संसार के सभी देशों में शारीरिक शोध के आधार पर इन नशे की वस्तुओं को हर दृष्टि से मनुष्य के लिए अनुपयुक्त और हानिकारक बताया गया है । इसके सेवन से स्मरण शक्ति घटती है तथा आलस्य, प्रमाद, आवेश, चिड़चिड़ापन, झुंझलाहट, उत्तेजना आदि बढ़ जाते हैं । जो इसे पिएगा, अपने में इन दोषों की बढ़ोत्तरी का स्वयं ही अनुभव करेगा ।

नशा एक क्षणिक उत्तेजना पैदा करता है । जैसे हंटर मारने पर घोड़ा तिलमिलाकर दौड़ने लगता है वैसे ही नशेबाजी भी मनुष्य के संचित शक्ति कोष को भड़काती है और पीते समय लगता है कि फुर्ती सी आई पर अंततः इसका परिणाम घातक ही होता है । बार बार हंटर मारकर सामर्थ्य से अधिक दौड़ाने पर घोड़ा जल्दी थक और मर जाता है । यही बात मनुष्य शरीर पर भी लागू होती है । शराब, तंबाकू आदि नशों के सेवन से भड़कने पर शरीर का संचित

कोष जल्दी ही समाप्त हो जाता है और जवानी में ही बुढ़ापा आ घेरता है । शरीर खोखला और निस्तेज होकर तरह तरह के रोगों का घर बन जाता है । मुंह से हर समय दुर्गंध आते रहने के कारण पास बैठने वालों के मन में घृणा उत्पन्न होती है ।

कुकर्मों के संस्कार मनुष्य को पापों में प्रवृत्त करते हैं । मदिरा पान दुर्गुणों और पापों का मूल है । नशा बुद्धि को विकृत कर देता है और उन्मत्त व्यक्ति कोई भी पाप कर सकता है । कर्तव्य ज्ञान के अभाव में वह हर किसी से लड़ता झगड़ता है और मान मर्यादा का भी ध्यान उसे नहीं रह जाता । न उसे अपने तन-बदन का होश रहता है और न कपड़ों का । इधर उधर भटकता हुआ वह अपना पतन तो करता ही है, साथ ही परिवार और पड़ोसियों का जीवन भी नरक कर देता है ।

हमारी स्वयं की तथा राष्ट्र की अरबों खरबों रुपयों की बरबादी प्रति वर्ष शराब, तंबाकू आदि के उत्पादन, विज्ञापन, प्रचार, प्रसार में होती है । यदि इस धन का समुचित सदुपयोग किया जाए तो मनुष्य का स्वास्थ्य एवं जीवन स्तर भी सुधरे और गांव व नगरों का विकास भी हो जाए । इस विपुल धनराशि का समायोजन गृहनिर्माण, वस्त्र निर्माण, गौ पालन आदि रचनात्मक कार्यों में किया जाने लगे तो हमारा देश कहां से कहां पहुंच जाए ।

संसार के सभी धर्माचार्यों और महापुरुषों ने नशेबाजी की निंदा की है और उसे पाप की संज्ञा दी है । यह तामसिक दुर्बुद्धि और अपराधिक दुष्प्रवृत्ति को भड़काती है । दुष्कर्म करने में उसे लज्जा या संकोच नहीं होता, उच्छृंखलता बरतने में कोई झिझक नहीं होती । नशेबाज व्यक्ति की आध्यात्मिक संवेदनशीलता घट जाती है । फिर भी न जाने क्यों हम प्रकृति विरोधी कार्य करके अपना चतुर्दिक विनाश करने में जुटे रहते हैं ।

जाया तप्यते कितवस्य हीना
माता पुत्रस्य चरतः क्वस्वित् ।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानो-
ऽन्येषांमस्तमुप नक्तमेति ॥

(ऋग्वेद १०/३४/१०)

भावार्थ-जुएबाज की स्त्री घोर कष्ट भोगती है । उसकी माता रोती रहती है । वह सदा कर्जे में डूबा रहता है और धन की इच्छा से दूसरों के घर में जाकर चोरी करता है । जुआ महान अश्लील व्यसन है, इससे सदैव बचना चाहिए ।

संदेश-ऐसा लगता है कि जल्दी और अधिक कमाने के लिए बेईमानी का प्रयोग करना आवश्यक है । धनवान लोगों में से अधिकांश ऐसे ही दीखते हैं, जिनके क्रियाकलाप में बेईमानी का समावेश रहता है । ईमानदार लोगों में से अधिकतर गरीब दीखते हैं, इसलिए सामान्य बुद्धि से यही प्रतीत होता है कि हम भी ईमानदार रहेंगे तो गरीब बन जाएंगे । आजकल धन की प्रमुखता है और धन से ही अधिक सुविधा, साधन, सफलता और सम्मान की उपलब्धि होती है । इसी से लोग बेईमानी या ऐसा ही कोई साधन अपनाकर शीघ्रातिशीघ्र धनवान बनने के प्रयास में लगे रहते हैं ।

वस्तुस्थिति का बारीकी से अध्ययन करने पर यह बुद्धि भ्रम दूर हो जाता है कि बेईमानी की गरिमा स्वीकार करके हमने बहुत बड़ी भूल की थी । इस प्रकार धन नहीं कमाया जा सकता और कमा लिया जाए तो स्थिर नहीं रखा जा सकता । अनुचित साधनों के द्वारा कुछ अनुपयुक्त लाभ प्राप्त कर लिया जाए तो इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि उसका परिणाम लाभदायक ही होगा । साहस, परिश्रम, सूझबूझ, मधुर भाषण, व्यवस्था आदि ही वे गुण हैं जो उपार्जन करते हैं । पसीने की कमाई अमृत के समान पवित्र होती है । बेईमानी व अनुचित साधनों द्वारा कमाए गए धन से

अपयश, असहयोग, अविश्वास, घृणा, राजदंड, आत्मग्लानि आदि दुष्परिणाम ही प्राप्त होते हैं । सच्चा उपार्जन तो सद्गुणों से ही होता है, उन्हीं में उत्पादक तत्त्वों का समावेश है । संसार में बड़े काम, बड़े व्यापार, बड़े आयोजन ईमानदारी के आधार पर ही जमे, बढ़े और सफल हुए हैं । संपत्ति से नहीं, सद्बुद्धि और सत्प्रवृत्तियों से उन्नति होती है । धनवान नहीं चरित्रवान सुख पाते हैं ।

जुआ, लाटरी आदि के दुर्व्यसन भी इसी आधार पर फल-फूल रहें हैं कि हर व्यक्ति जल्दी से जल्दी अधिक से अधिक धन कमाकर धनवान बन जाना चाहता है । यह एक शास्त्र विरुद्ध आचरण है और निंदनीय कर्म है । यह आपस में फूट डालता और कलह कराता है । आपस में किसी भी बात पर शर्त लगाना, सट्टा खेलना व ऐसे ही तमाम कर्म द्यूत क्रीड़ा के ही विभिन्न रूप हैं । इनकी लत लग जाने से मनुष्य जीवन का सार तत्त्व ही नष्ट हो जाता है । वह हर समय इसी उधेड़बुन में लगा रहता है कि आज नहीं तो कल हमारा नंबर शायद आ ही जाएगा । इसी चक्कर में वह बढ़-चढ़कर दांव लगाता रहता है । परिणाम स्वरूप वह धन का अपव्यय करता रहता है । जीत का धन तो मिल नहीं पाता उलटे गांठ का पैसा और निकल जाता है । इसी हताशा में मनुष्य अपने घर के जेवर, बर्तन, कपड़े तक बेचकर दांव पर लगा देता है और फिर कंगाल होकर आत्महत्या तक कर बैठता है । परिवार का जीवन नरक हो जाता है सो अलग ।

जुए के कारण ही धर्मराज युधिष्ठिर को भाइयों सहित दुर्योधन का दास बनना पड़ा था और द्रौपदी को चीरहरण की यातना को आजीवन भुगतना पड़ा था । जुए के ऐसे ही भयंकर दुष्परिणाम सामने आते हैं ।

यदि अपना कल्याण चाहते हो तो किसी प्रकार का भी जुआ मत खेलो । वर्जित फल के समान इसका पूर्णतया त्याग कर दो ।

परि चिन्मर्त्तो द्रविणं ममन्यादृतस्य
पया नमसा विवासेत ।
उत स्वेन क्रतुना सं वदेत,
श्रयांसं दक्षं मनसा जगृभ्यात् ॥

(ऋग्वेद १०/३१/२)

भावार्थ-सांसारिक सुख और कल्याण की अभिलाषा रखने वाले को उचित है कि मनसा-वाचा-कर्मणा सत्य व्यवहार करके कल्याण का भागी हो । यही स्थायी सुख मिलने का एकमात्र साधन है ।

संदेश-मन, वचन और कर्म का बड़ा घनिष्ट संबंध है । मन में जैसे विचार उठते हैं, वही हमारी वाणी के द्वारा प्रकट होते हैं और उन्हीं के अनुसार हमारे कर्म होते हैं । तत्पश्चात उन कर्मों का फल भी देर-सबेर हमें ही भोगना पड़ता है । ज्ञानेंद्रियों तथा कर्मेंद्रियों दोनों के साथ संपर्क रहने से मन की स्थिति सर्वोपरि है । कोई भी इंद्रिय मन के सहयोग के बिना कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकती ।

इस चंचल मन को वश में रखना दृढ़ आत्मबल के द्वारा ही संभव है । पल-पल यह मन इधर-उधर भागता फिरता है और इसे कठोरतापूर्वक एक स्थान पर टिका कर रखना ही आध्यात्मिक जीवन का मूल आधार है । मन को वश में किए बिना किसी भी कार्य में एकाग्रता व निष्ठा आ ही नहीं सकती । मन की लगाम से सभी इंद्रियां वश में हो जाती हैं और दुष्प्रवृत्तियां टिक नहीं पातीं । इस प्रकार अपने दोष दुर्गुणों का परित्याग करना सरल हो जाता है । मनुष्य पाप कर्मों से बचा रहता है और समय का सदुपयोग करते हुए स्वाध्याय व सत्संग द्वारा सत्य ज्ञान प्राप्त करता है । यह सत्य ज्ञान हमारे मन के ऊपर एक सुदृढ़ कवच के रूप में रहता है और पाप भावना के प्रवेश को

रोक देता है । जहां कहीं हमारे इस कवच में निर्बलता आई, वहीं पाप भावना मन में प्रवेश करने लगती है । श्रेष्ठ व्यक्तियों के सत्संग से, उनके प्रवचनों को आदर भाव से ग्रहण करके हम इस कवच हो दृढ़ता प्रदान कर सकते हैं और जीवन की सफलता का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं ।

मन को पाप भावना से बचाने के लिए बड़ी सावधानी और जागरूकता की आवश्यकता है । मनुष्य पाप भावना में मिठास का अनुभव करता है । मिठास का प्रलोभन उसे पाप की ओर आकर्षित करता है । बस यह मिठास ही उसके विनाश का कारण बनती है । जो इस मिठास के प्रलोभन से अपने को बचा लेता है, उसके लोभ में नहीं पड़ता वह विनाश से बच जाता है ।

मनुष्य जब मन को वश में करके उत्तम ज्ञान प्राप्त करता है तो उसकी वाणी से भी सत्य भाषण होता है और कर्मों में भी सद्‌गुणों की सुगंध रहती है । सद्व्यवहार और सत्याचरण से संसार के कल्याण के कार्य ही होते हैं और इसी से प्रभु कृपा होती है । ईश्वरीय अनुभूति के लिए अपने संपूर्ण मन को ईश्वर के आगे समर्पित करना होता है । ईश्वर के सान्निध्य को प्राप्त करने का निरंतर अभ्यास किए बिना और अपने अस्तित्व के प्रत्येक क्षण में ईश्वर की उपस्थिति अनुभव किए बिना आध्यात्मिक विकास संभव नहीं है ।

सत्संग व स्वाध्याय से, मन को वश में करके और ईश्वर की उपासना व साधना से हम सत्यज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं पर शीघ्र ही अपने ध्येय से भटक जाते हैं । जो कुछ प्राप्त होता है उसे पुनः गंवा देते हैं और दुःख को प्राप्त हो जाते हैं । स्थायी सुख और कल्याण प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि हम परमेश्वर के अस्तित्व को अपना साक्षी मानकर पाप कर्मों से अपने को सदैव दूर रखें ।

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत ।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥

(अथर्व वेद ६/३९/३)

भावार्थ-संसार में मेरा यश उसी प्रकार फैले जिस प्रकार सूर्य, चंद्रमा और अग्नि का । मैं सभी प्राणियों से बढ़कर यशस्वी होऊं ।

संदेश-किसी व्यक्ति में श्रेष्ठता हमें उसके अंतर की तेजस्विता के कारण प्रतीत होती है । किसी का मुखमंडल ज्ञान एवं सत्कर्मों की आभा से देदीप्यमान होता है तो किसी का भाषण इतना धारदार और आवेशपूर्ण होता है कि सुनने वालों के हृदय की गहराई तक उतारता चला जाता है । पग-पग पर धरती कांप जाए, ऐसे ही किसी की चाल होती है और दृष्टि मात्र से मदोन्मत्त शत्रु का दर्प चूर-चूर हो जाए, ऐसी किसी की नजर होती है । ऐसे तेजस्वी पुरुषों को ही संसार में आदर, श्रद्धा, सम्मान, यश, ऐश्वर्य आदि अपने आप प्राप्त हो जाते हैं । क्या सूर्यनारायण को कभी अपनी श्रेष्ठता का व्याख्यान देना होता है ? चंद्रमा को क्या कभी अपनी शीतलता का विज्ञापन करना पड़ता है ? क्या अग्नि को कभी प्रार्थना करनी पड़ती है कि मुझे पैरों तले मत कुचलिए ? क्या वनराज केसरी को कभी वोटों की भीख मांगनी पड़ती है । श्रेष्ठ गुणों के आधार पर ही चतुर्दिक उनका यश फैलता है । सूर्य, चंद्र आदि निःस्वार्थ भाव से संसार का कल्याण करने में निरंतर लगे रहते हैं । सूर्य प्रकाश, ताप, ऊर्जा से जीव जंतुओं में प्राण शक्ति का संचार करता है और साथ ही गंदगी को सुखाकर नष्ट भी कर देता है । सद्गुणों का अभिवर्धन और दुर्गुणों का उन्मूलन ही उसका ध्येय है और इस उत्तम लक्ष्यपूर्ति में लगे रहने से ही वह सर्वत्र यश प्राप्त करता है । मानव जीवन का भी यही लक्ष्य है । स्वयं तिल-तिल जलते हुए संसार का उपकार करते रहना ही सच्चा अध्यात्म है ।

अध्यात्मवादी जीवन मनुष्य के गौरव की दृष्टि से, उज्ज्वल भविष्य की दृष्टि से, सामाजिक सुव्यवस्था की दृष्टि से और सर्वोपरि आत्म शांति एवं आंतरिक संतोष की दृष्टि से नितांत आवश्यक और अति महत्वपूर्ण है । ऐसा जीवन जीने के लिए प्रेरणा हो और अभिलाषा जागे, उसे सच्चे अर्थों में सौभाग्यशाली और दूरदर्शी कहना चाहिए । ऐसा दिव्य जीवन जीने के लिए किसी को कपड़े रंगने, घर छोड़ने, भीख मांगने या वेश बदलने की जरूरत नहीं है । न सारे दिन जप, तप, व्रत, स्नान, देव दर्शन, कथा कीर्तन में संलग्न रहने की आवश्यकता है । थोड़े समय के लिए आत्म चिंतन और ईश्वरीय प्रकाश की प्राप्ति के लिए उपासना करना भर ही उचित है । पर मुख्य बात तो यही है कि अध्यात्मवाद के सिद्धांतों और आदर्शों को हमने किस सीमा तक अपनी विचारणा, आस्था और कार्य पद्धति में स्थान दिया है । इसी से मनुष्य जीवन यशस्वी बनता है ।

'सादा जीवन उच्च विचार' के सिद्धांत का पालन करते हुए मातृवत परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत् और आत्मवत सर्वभूतेषु के आदर्शों पर चलने में ही आध्यात्मिक जीवन की सार्थकता है । स्त्रियों के प्रति पवित्रता की उच्च भावना का होना श्रेष्ठ पुरुषों के लिए आवश्यक भी है और स्वाभाविक भी । प्रजनन की आवश्यकता पड़ने पर काम क्रीड़ा की इच्छा पति पत्नी को हो सकती है पर सामान्य समय में जिस प्रकार काम विचार एक दूसरे के प्रति नहीं आते उसी प्रकार नर और नारी में भी परस्पर स्वाभाविक साधना बनी रह सकती है । नर नारी परस्पर पवित्र दृष्टि रखें तभी स्वस्थ समाज का आधार बनेगा और सभी नागरिक चरित्रवान होंगे । प्रत्येक नारी को आयु के अनुसार माता, बहन अथवा पुत्री की दृष्टि से देखना चाहिए ।

दूसरे के धन को मिट्टी के ढेले के समान व्यर्थ और अनुपयोगी समझना श्रेष्ठ जनों का आदर्श है । हम केवल श्रम, ईमानदारी और

उचित साधनों से कमाए हुए धन की ही इच्छा करें और उसी में अपना निर्वाह करने का प्रयास करें । जो मिले उसे ही प्रभु कृपा समझकर संतोष करें ।

श्रेष्ठता का सर्वोच्च आधार तो यही है कि हम अपने समान सबके सुख-दुख को समझें । दूसरों के सुख में अपने सुख की और दूसरों के दुख में अपने दुख की अनुभूति जोड़ें । यही भावना हमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के उच्च आत्मस्तर तक पहुंचा देती है । पीड़ित मानवता की सेवा करने की उत्कट अभिलाषा ही हमें अपने चारों ओर बिखेरे पड़े पिछड़ेपन, अज्ञान, अनाचार, पाप और पतन को हटाकर उसके स्थान पर दैवी आदर्शों की प्रतिष्ठा करने की सामग्री प्रदान करती है ।

मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता और विधाता है । उसमें इतनी सामर्थ्य है कि वह संसार में उथल-पुथल मचा दे । आवश्यकता केवल इतनी भर है कि आत्म निरीक्षण करते हुए अपने दोष दुर्गुणों को जीवन से निकाल फेंके और सद्गुणों को धारण करके लोक हित में परोपकार के कार्यों में संलग्न रहे ।

दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन करके ही मानव जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है ।

वेदों का दिव्य संदेश

खंड-५

परिवार और स्वास्थ्य

गृहस्थ आश्रम पूरी समाज व्यवस्था की रीढ़
है । इसकी उत्कृष्टता पर ही समाज
में सुख, शांति व समृद्धि का
स्वर्गीय वातावरण
बनता है ।

सुखी परिवार, सुगढ़ एवं सुसंस्कृत नारी
तथा उत्तम स्वास्थ्य के महत्व को
दर्शाते मंत्रों की प्रेरणा जो हमारे
जीवन को तेजस्वी व
यशस्वी बनाएंगे ।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥

(अथर्व वेद ३/३०/२)

भावार्थ-आदर्श गृहस्थी वह है जिसमें बेटे माता-पिता के आज्ञाकारी हों । माता-पिता बच्चों के हितकारी हों । पति और पत्नी के पारस्परिक संबंध सुमधुर और सुखदाई हों । ऐसे ही परिवार सदैव फलते-फूलते और सुखी रहते हैं ।

संदेश-वेदों के आधार पर ऋषियों ने मनुष्य जीवन को चार आश्रमों में बाँटा है । ये चार आश्रम हैं-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास । मनुष्य के सामान्य जीवन की अवधि को सौ वर्ष निर्धारित करते हुए, ये आश्रम बनाए गए हैं । केवल वैदिक धर्म में ही २५-२५ वर्ष के चार आश्रमों का विधान है। वैदिक विचारधारा की ही यह विशेषता है । गणित के जोड़, घटा, गुणा, भाग के समान ही इन चारों आश्रमों की व्यवस्था है । ब्रह्मचर्य आश्रम में वह शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक शक्तियों को जोड़ता है । गृहस्थ आश्रम में वह इन शक्तियों को घटाता है । आजीविका, पत्नी, संतान आदि गृहस्थ के कार्यों में खर्च करता है । फिर वानप्रस्थ आश्रम में ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, जप, तप के द्वारा अपनी शक्तियों को गुणीभूत करता है । तत्पश्चात संन्यास आश्रम में वह अपने संग्रहीत ज्ञान, विज्ञान एवं अनुभव को समाज में बाँटता है । आश्रम व्यवस्था वैदिक धर्म की बहुत बड़ी विशेषता है ।

ब्रह्मचर्य आश्रम यदि जीवन का आधार है तो गृहस्थ आश्रम उस आधार पर निर्मित एक सुंदर भवन है । गृहस्थ आश्रम की अपनी महत्ता, उपयोगिता और उपादेयता है । गृहस्थाश्रम में त्याग

की भावना बलवती होती है । परिवार में सभी एक दूसरे के प्रति स्नेह व सहयोग का भाव रखते हुए स्वयं कष्ट उठाने को तत्पर रहते हैं । स्त्री के त्याग का तो कहना ही क्या । वह तो त्याग की साक्षात मूर्ति है । पत्नी, बहन, बेटी, मां, हर रूप में उसका त्याग परिवार को अलौकिक आनंद से भर देता है । संयमित जीवन से उत्तम स्वास्थ्य को बनाए रखकर पवित्र साधनों से अर्थोपार्जन करते हुए अपने सभी संबंधियों, सहयोगियों व पड़ोसियों के साथ उत्तम व मधुर व्यवहार बनाकर अपने जीवन को एवं समाज को सुख, शांति, समृद्धि से भर देने का साधन इसी काल में मिलता है ।

परिवार सदैव एक से अधिक व्यक्तियों से मिलकर बनता है । पति और पत्नी तो होते ही हैं, साथ में पुत्र, पुत्री, भाई, बहन, मां, बाप, चाचा, चाची, दादा, दादी, सास, ससुर आदि अनेकानेक संबंधी भी रहते हैं । इन सबके बीच संबंधों की जो मधुरता व पवित्रता होती है उससे परिवार में विशेष प्रकार की प्रसन्नता, आह्लाद, उल्लास और चहल-पहल का वातावरण बनता है । यदि पति-पत्नी के बीच प्रेम और विश्वास की प्रगाढ़ता है तो परिवार में सर्वत्र प्रेम, स्नेह, श्रद्धा व सेवा की भावना बनी रहेगी । बच्चे भी आज्ञाकारी होंगे । सभी एक दूसरे के हित की ही सोचेंगे और हित की ही करेंगे । तब यह स्थिति नहीं आएगी कि 'बाप बड़ा न भइया, सबसे बड़ा रुपइया' । अपना स्वार्थ गौण रहेगा तथा परिवार में सबकी उन्नति के लिए स्वयं त्याग करने की भावना बलवती होगी । आत्मीयता, उदारता और सहयोग से सभी एक दूसरे की सेवा करते हुए परिवार में हर्षोल्लास की सुगंध फैलाएंगे ।

प्रेम और सौहार्द ही आदर्श परिवार का आधार है ।

तमस्मेरा युवतयो युवानं
मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः ।
स शुक्रेभिः शिक्व भी रेवदस्मे
दीदायानिध्मो घृतनिर्णिगप्सु ॥

(ऋग्वेद २/३५/४)

भावार्थ-जिनके हृदय शुद्ध, निर्मल व पवित्र हों उन युवक और युवतियों को पाणिग्रहण करना चाहिए । शारीरिक शक्तिधारी पुरुष विवाह करके परिवार को सतेज बनाएं ।

संदेश-दो भिन्न स्थानों, भिन्न परिवारों, भिन्न वातावरण में पैदा हुए और पले-बढ़े नर नारी भिन्न प्रकृति और भिन्न आकृति के होते हुए भी समग्र एकता के सूत्र में बँधकर विवाह का प्रयोजन पूरा करते हैं । विवाह का वास्तविक अर्थ है दो आत्माओं की प्रथकता को समाप्त करके एक दूसरे के प्रति समर्पण । इस समर्पण और समन्वय से ही एक सम्मिलित सत्ता का विकास होता है जो 'दो शरीर एक जान' के रूप में दिखाई देता है ।

दाम्पत्य जीवन केवल दो शरीरों का मिलन ही नहीं वरन दो आत्माओं का गठबंधन भी है । यह एक आध्यात्मिक साधना है । आध्यात्मिक प्रगति का आधार है प्रेम । जिसके हृदय में जितना अधिक, जितना निर्मल प्रेम उमड़ता है वह उतना ही आदर्श व्यक्ति होता है । भक्ति का अर्थ है प्रेम भावना और भक्त का अर्थ है प्रेमी । भगवान से प्रेम करने की साधना हमारे जीवन को प्रेम भावना से ओत-प्रोत करने के लिए ही होती है । प्रेम ही परमेश्वर है । मनुष्य के अंतःकरण में भगवान की अनुभूति उफनती हुई प्रेम भावनाओं के रूप में ही होती है । बचपन से सीखी हुई इस

आध्यात्मिक महत्ता का वास्तविक अभ्यास दाम्पत्य जीवन की प्रयोगशाला में ही संभव होता है । एक दूसरे के प्रति अनन्य आत्मीयता, श्रद्धा, सौजन्य, समता और वफादारी का आरोपण करके जीवन को प्रेम, स्नेह व अनुराग से भरपूर बना लिया जाता है । आत्मीयता ऐसी ही वस्तु है । वह जिस पर भी आरोपित हो जाती है उसे परम प्रिय बना देती है । पति पत्नी में भी मनुष्योचित दुर्बलताएं एवं त्रुटियां रहती हैं पर यदि विवाह के उद्देश्य को समझकर परस्पर आत्मीयता, समर्पण, एकता और ममता का व्यवहार रहे तो गृहस्थ जीवन की नाव आनंद पूर्वक आगे बढ़ती रहती है । 'अपने लिए कुछ भी नहीं, साथी के लिए सब कुछ' की बात सोचने वाला व्यक्ति स्वयमेव ही अपनी दुर्बलताओं और त्रुटियों को सहज ही सुधार लेता है जिससे साथी को किसी प्रकार की असुविधा न हो । आंतरिक प्रेम की अनुभूति से दोनों हर घड़ी सरसता का अनुभव करते रहते हैं ।

आज लोगों ने विवाह के उच्च उद्देश्य एवं आदर्श को ही भुला दिया है । विवाह मात्र काम क्रीड़ा की पशुता का प्रमाणपत्र बन गया है । लड़के रूपवती और उत्तेजित लड़कियां खोजते हैं ताकि वासना को अधिक आकर्षण प्राप्त हो सके । लड़कियां इसके साथ ही मोटी मुर्गी की तलाश करती हैं ताकि वासना के साथ विलासिता और आरामतलबी का सुख भी मिलता रहे । लोग यह भूल जाते हैं कि विवाह की सफलता का आधार साथी की मनोभूमि, संस्कृति एवं आदर्शवादिता ही है । विवाह का प्रयोजन आध्यात्मिक है और उसी से गृहस्थ जीवन आनंदमय होता है । तभी परिवार में सुख, शांति, समृद्धि एवं तेजस्विता आती है ।

यही दाम्पत्य जीवन की आध्यात्मिकता है ।

अक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ समञ्जनम् ।
अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति ॥

(अथर्व वेद ७/३६/१)

भावार्थ-हम पति पत्नी एक दूसरे को प्यार भरी दृष्टि से देखें, मुख से सदैव मीठे वचन बोलें तथा एक दूसरे के हृदय में रहें । हम दो शरीर और एक मन हों ।

संदेश-विवाह का उद्देश्य और आदर्श क्या है ? सभ्यता के प्रारंभ से ही यह प्रथा आखिर क्यों चली आ रही है ? यदि केवल काम-कौतुक ही विवाह का प्रयोजन है तो यह बहुत ही मँहगा और झंझट भरा सौदा है । उसमें दोनों पक्षों के हाथ केवल बरबादी ही लगती है । पुरुष कोल्हू के बैल की तरह पिसता है और स्त्री प्रजनन के कुचक्र में अपना स्वास्थ्य व प्रतिभा ही नहीं, अपना जीवन तक गँवा देती है । नहीं, विवाह का ऐसा उद्देश्य कभी नहीं हो सकता । यदि यही रहा होता तो समाज व्यवस्था पूरी तरह से छिन्न-भिन्न हो जाती और मनुष्य पशु से भी निकृष्ट स्तर पर पहुँच जाता ।

विवाह एक आध्यात्मिक साधना है । यह एक ऐसी प्रेम वल्लरी है जिसका अभिसिंचन त्याग और उत्सर्ग की उच्च भावना से किया जाता है। यह सज्जनों और शूरवीरों का काम है । सुखी गृहस्थ जीवन के लिए आवश्यक है कि वर और कन्या दोनों का ही जीवन उच्च स्तर का हो । दोनों गुणवान हों । वर वेदज्ञ, सुशिक्षित, संस्कारित एवं सहिष्णु हो । कन्या में शुद्धता, पवित्रता और प्रतिभा हो । शरीर की आंतरिक शुद्धि से मन, बुद्धि और चित्त शुद्ध होते हैं । मन यदि शुद्ध है तो बुद्धि और चित्तवृत्तियां भी शुद्ध होंगी । शरीर की आंतरिक व बाह्य शुद्धता से आचरण में

पवित्रता आती है, सद्गुणों का विकास होता है और ज्ञान व प्रतिभा का प्रकाश फैलता है । ज्ञान और चरित्र मानव जीवन की कसौटी हैं । जो इस पर खरे उतरें, ऐसे तेजस्वी पुरुष व विदुषी महिला विवाह बंधन में बंधकर यज्ञीय जीवन जीते हुए आत्मोन्नति कर सकते हैं । क्षमता, विद्वत्ता और सुयोग्यता के मापदंड को ही विवाह का आधार बनाकर परिणय सूत्र में बंधने से पति पत्नी दोनों का जीवन सुखमय होता है ।

वर्तमान काल में स्थिति बड़ी विचित्र होती जा रही है । बाहरी चमक-दमक और रुपये-पैसे को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है तथा आंतरिक सौंदर्य व प्रतिभा की उपेक्षा ही होती है । परिणामस्वरूप पति पत्नी में अधिकतर असंतोष व अविश्वास ही बना रहता है । सच्ची सहानुभूति, ममता और एकता के अभाव में दोनों पास रहते हुए भी अपरिचितों के समान गृहस्थ की लाश ही ढोते रहते हैं । दांपत्य की सरसता, सहजता व सहिष्णुता के आंतरिक आनंद व उल्लास से वे वंचित रह जाते हैं । आधुनिकता के रंग में रंगी स्त्री घर की शांति को अशांति में परिवर्तित कर देती है ।

पति और पत्नी दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं । दोनों ही परस्पर वफादारी, आत्मीयता, सेवा, सम्मान, सहयोग, सद्भावना, उदारता को आजीवन निभाने की दृष्टि से यदि एक दूसरे को अपना आराध्य मानकर गृहस्थ की नाव को खेते हुए जीवन-सागर के अंतिम छोर तक ले जाने का पुरुषार्थ करेंगे तभी सफल गृहस्थ की ध्येय पूर्ति होगी । इस पवित्र प्रयोजन के लिए जहां पत्नी को पतिव्रत धर्म का पालन करना है, वहीं पति को भी पत्नीव्रत की मर्यादा को निभाना चाहिए ।

इसी से परिवार में स्वर्ग का अवतरण हो सकता है ।

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः ।
मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम् ॥

(अथर्व वेद १४/१/५२)

भावार्थ-हे पत्नी ! ईश्वर ने तुम्हें मुझको सौंपा है, तुम्हारे पालन-पोषण का उत्तरदायित्व मुझ पर है । हम तुम संतानयुक्त होकर सौ वर्ष तक जिएं ।

संदेश-सफल गृहस्थ जीवन के लिए पति और पत्नी दोनों ही उत्तरदायी होते हैं । पर चूंकि पत्नी दूसरे परिवार को त्याग कर पति के परिवार में आती है अतः पति का दायित्व अधिक होता है । परमपिता परमेश्वर ने दो आत्माओं के मिलन का सुयोग उपस्थित किया है और इसका सदुपयोग करने के लिए दोनों को ही उत्तम आचरण करना चाहिए तभी पारिवारिक सुख एवं सौभाग्य की प्राप्ति होगी । केवल विवाह हो जाना भर ही दांपत्य जीवन का सौभाग्य नहीं है । अपितु पति पत्नी दोनों में प्रेममूलक अनुकूलता होना और तदनुसार व्यवहार करना ही स्थायी सुख का आधार होता है । जहाँ दोनों ओर से प्रेम और सुख-दुख में सहभागिता है वहाँ सौभाग्य स्थिर रूप से निवास करता है । दांपत्य जीवन के इस सौभाग्य को अक्षुण्ण रखने के लिए यह भी आवश्यक है कि वंश परंपरा चलती रहे और नारी योग्य संतानों को जन्म दे । इस प्रकार दोनों ही सुखी रहकर दीर्घजीवी होते हैं और सौ वर्ष की निर्धारित पूरी आयु भोगने का सौभाग्य पाते हैं ।

कन्या का भावी जीवन सुखमय हो, इसके लिए वर को सौंपने से पूर्व उसके गुणों का समुचित मूल्यांकन करना भी आवश्यक होता

है । सुयोग्य, विद्वान और दुर्व्यसनों से मुक्त व्यक्ति सफल एवं सुखी पारिवारिक जीवन का बोझ ढो सकता है । वह अत्यंत ज्ञानवान और गुणी तो होना ही चाहिए, साथ ही शारीरिक दृष्टि से हृष्ट-पुष्ट हो और दुर्गुणों, दुष्प्रवृत्तियों और दुर्व्यसनों से मुक्त हो । व्यसन परिवार में विष के समान होते हैं । शराब, जुआ आदि व्यसनों में फंसा हुआ व्यक्ति परिवार की सुख शांति को नष्ट कर देता है और अपमान व अपयश का भागी होता है । उसके साथ उसकी पत्नी भी अनेक मानसिक कष्ट भोगती है ।

व्यावहारिक दृष्टि से पत्नी का कार्यक्षेत्र घर के भीतर और पति का बाह्य जगत है । अपनी योग्यता, विद्वत्ता और पांडित्य आदि का प्रदर्शन करते हुए परिवार की व्यवस्था करना उसका दायित्व है । स्त्री का कार्यक्षेत्र घर की आंतरिक व्यवस्था है । पति द्वारा पवित्र साधनों से उपार्जित धन का यथास्थान विनियोग, घर की साज-सज्जा, स्वच्छता आदि तथा परिवार का पालन-पोषण करना पत्नी का धर्म है । दोनों को इसमें उचित सामंजस्य रखते हुए सीमित साधनों से ही संतोषपूर्वक काम चलाने की व्यवस्था करनी चाहिए । रूखी-सूखी खाकर भी परिवार में प्रसन्नता का वातावरण बनाए रखना पत्नी का ही दायित्व है । गृह प्रबंध में नारी जितनी कुशल होती है, पुरुष नहीं । इसी सुघड़ता से घर में स्वर्गीय आनंद की वर्षा होती है ।

सुखी दांपत्य जीवन के लिए यह आवश्यक है कि पति सभी दृष्टि से संपन्न हो व धन-धान्य की समृद्धि हो । उसमें तेजस्विता तथा मानसिक प्रसन्नता हो । ऐसा पति ही अपनी पत्नी को पूर्ण रूप से संतुष्ट और प्रसन्न रख सकता है ।

सम्राज्ञी श्वशुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्रवां भव ।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधि देवृषु ।।

(ऋग्वेद १०/८५/४६)

भावार्थ-हे वधू ! तू अपने परिवार में इस तरह जीवनयापन कर जिससे सास, श्वसुर, ननद तथा देवर सभी तेरा सम्मान करें ।

संदेश-विवाह के बाद लड़की अपना सब कुछ त्याग कर पति के घर में आती है । माता-पिता, भाई-बहन, परिवार, घर सब पीछे रह जाता है । जहाँ उसने जन्म लिया, खेलकूद कर, पढ़-लिखकर यौवनावस्था में पैर रखा, वह सारा स्नेहिल परिवेश वह हंसते-हंसते त्याग देती है और एक अनजाने, अपरिचित व्यक्ति के साथ नाता जोड़कर उसके घर पहुँचती है । इस त्याग से क्या वह नुकसान में रहती है ? नहीं, उलटे पति के लिए त्याग और सर्वस्व समर्पण के द्वारा वह पति के परिवार की एक अति महत्वपूर्ण सदस्या बन जाती है । अब यही उसका अपना परिवार हो जाता है जहां वह गृहस्वामिनी के उच्च पद पर आसीन होती है । घर की मालकिन बन जाती है और घर का समस्त उत्तरदायित्व उस पर आ जाता है ।

इस नए परिवार में सास-ससुर, ननद, देवर सभी की वह साम्राज्ञी बन जाती है । जिस प्रकार एक सम्राट अपने अधीनस्थ सभी राजाओं की सुख, सुविधा व सुरक्षा की चिंता करता है और सबमें सामंजस्य स्थापित करते हुए उन सभी की उन्नति का ध्यान रखता है उसी प्रकार परिवार की मुखिया बनकर नव वधू को भी सबकी सेवा, सुविधा, भोजन, वस्त्र आदि की समुचित व्यवस्था सुनिश्चित करने का गुरुतर भार उठाना होता है । छोटे हों या बड़े सभी का हित-चिंतन उसका कर्तव्य बन जाता है । इन कर्तव्यों के निर्वाह के कारण

ही वह गृह की स्वामिनी या साम्राज्ञी कहलाती है ।

साम्राज्ञी या स्वामिनी हो जाने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह घर में सब पर अपना प्रभुत्व जमाए । वरन भाव यह है कि वह अपनी कर्तव्यों की गुरुता को अनुभव करे, सबसे शिष्ट व्यवहार करे और बड़ों के अनुभव का लाभ उठाते हुए उनके निर्देशन में समस्त गृह कार्यों का संचालन करे । नए परिवेश में आकर वह अपने को सेविका न समझे और उसमें किसी प्रकार की हीन भावना न आने पाए, इसी से उसको साम्राज्ञी का गरिमामय पद दिया गया है । परिवार के सभी लोगों को भी उसे उचित मान-सम्मान देकर स्नेह व प्रेम का व्यवहार करना चाहिए ।

पर आजकल अधिकांश व्यक्ति इस प्रेममय स्वस्थ दृष्टिकोण की उपेक्षा करके नव वधू को यथोचित स्नेह प्रदान नहीं करते । नौकरानी समझकर सास, ननद व अन्य लोग उस पर हर समय हुकुम चलाते रहते हैं । उसके अच्छे कार्यों में भी उन्हें दोष दिखाई देते हैं । उपेक्षा, अवहेलना, प्रताड़ना और कहीं-कहीं तो इससे भी आगे मार-पीट और हत्या तक की दुखद स्थितियां बन जाती हैं । ऐसा क्यों होता है ? यह बड़े ही दुख, शोक और संताप का विषय है । यदि सास-ससुर पुत्र वधू को अपनी बेटी के समान समझें और वधू भी उन्हें माता-पिता से बढ़कर माने तभी बात बन सकती है । प्रश्न उठ सकता है कि पहल कौन करे ? सास-ससुर या पुत्रवधू । बड़े होने के नाते पहले सास ससुर को ही उसे अपनी बेटी के समान प्रेम व स्नेह से अनुपूरित करना चाहिए जिससे उसके मां-बाप के बिछोह से उत्पन्न हुई रिक्तता भर जाए । फिर तो दूने उत्साह से वह अपने साम्राज्य के हित-साधन में जुट जाएगी ।

इसी में साम्राज्ञी के पद की गरिमा है ।

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा ।
एवा त्वं साम्राज्ञ्येधि पत्यरस्तं परेत्य ॥

(अथर्व वेद १४/१/४३)

भावार्थ-समुद्र वृष्टि करता है तब नदियां जल प्राप्त करती हैं अर्थात जिस प्रकार नदियों का नियंत्रण समुद्र करता है, उसी प्रकार हे वधू ! तू भी अपने घर की मालकिन होकर संपूर्ण परिवार को सुखी कर ।

संदेश-गृहस्थाश्रम बहुत ही उत्तरदायित्वपूर्ण आश्रम है । इसमें बहुत समझबूझ वाले और व्यवहार-कुशल व्यक्ति ही सफल हो पाते हैं । अशिक्षित व्यक्तियों की तो बात ही क्या, सुशिक्षित व्यक्ति भी अपनी व्यवहार कुशलता के अभाव में कई भूलें कर बैठते हैं । व्यवहार-कुशलता तो अनुभवी व्यक्तियों के पास बैठने से आती है । उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेने भर से यह संभव नहीं होता । गृहस्थ-प्रवेश के पश्चात माता-पिता, सास-श्वसुर, बहन-भाई आदि परिवारीजनों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसका ज्ञान अनुभवी व्यक्तियों से अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिए ।

हमारे देश में संयुक्त परिवार प्रणाली एक वरदान है और यह बचपन से ही गृहस्थ के उत्तरदायित्वों से परिचित करा देती है । आध्यात्मिक और भावनात्मक विकास की दृष्टि से भी उसका बड़ा महत्व है । माता-पिता की सेवा, भाई-बहनों की सहायता, कुटुंबियों की समस्याएं अपनी समझने और उन्हें सुलझाने में संलग्न रहकर व्यक्ति अपनी स्वार्थपरता को घटाता और उदारता को बढ़ाता ही है । अपनी देह और पत्नी तक की बात सोचने वाला चढ़ती उम्र में कुछ सुविधाएं भले ही पा ले पर शेष जीवन में उसे अपनी इस संकीर्णता का दंड भुगतना ही पड़ता है । हारी, बीमारी, असमर्थता, दुर्घटना,

लड़ाई-झगड़ा आदि अवसरों पर संयुक्त परिवार की उपयोगिता पता चलती है जब अन्य सभी अपने-अपने ढंग से सहायता करके बोझ हलका करते हैं । संयुक्त परिवार प्रणाली ही में यह संभव है कि अयोग्य, असमर्थ, पागल, दुर्गुणी सभी खप जाते हैं । अकेले होते तो उन्हें भीख मांगना व जीवित रहना भी कठिन पड़ता ।

नववधू परिवार का केंद्रबिंदु होती है और सभी परिवारीजन उससे कुछ न कुछ आशाएं व अपेक्षाएं रखते हैं । यह उसकी व्यवहार कुशलता पर निर्भर करता है कि वह किस प्रकार परिवार में सबकी प्रसन्नता, हर्ष, उल्लास, माधुर्य को बनाए रखती है । परस्पर सौजन्य, स्नेह, शिष्टाचार, सम्मान, सहयोग की भावना बनी रहे तो कभी भी असंतोष या मनोमालिन्य उत्पन्न नहीं होता । हर व्यक्ति अपने कर्तव्यों और अधिकारों का उचित रूप से पालन करे । यह न हो कि कुछ लोग बड़प्पन के नाम पर मौज करते रहें व छोटों को कोल्हू के बैल के समान रात दिन खटना पड़े । इसी से परिवारों का विखंडन होता है ।

जैसे समुद्र व नदियों का आपसी संबंध होता है उसी प्रकार परिवार का संचालन होना चाहिए । समुद्र संसार के सारे जल का स्वामी है । नदियों का जल भी बहकर उसी में आ जाता है पर इस जल पर वह अपना एकाधिकार नहीं समझता । बादलों के माध्यम से संसार के कोने-कोने में पहुँचा कर बरसा देता है और समस्त जीव जंतुओं के पालन पोषण का साधन बनता है । वधू से भी यही अपेक्षा होती है कि वह घर की समस्त सुख सुविधाओं की मालकिन बनकर, सबका स्नेह-सम्मान प्राप्त करके, समुद्र के समान धीर-गंभीर भाव से परिवार के सभी सदस्यों के हित-चिंतन को ही परम सौभाग्य समझे ।

अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना
शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः ।
वीर सूर्देवृकामा सं
त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना ॥

(अथर्व वेद १४/२/१७)

भावार्थ-हे वधू ! तू प्रियदर्शिनी होकर, शुद्ध अंतःकरण से परिवारीजनों का हित कर । इससे घर में सुख-संपत्ति की वृद्धि होगी ।

संदेश-यदि घर को सुखद और मंगलमय बनाना है तो परिवार का वातावरण शांत और सौम्य होना चाहिए । पशु-पक्षी भी शांत और रम्य स्थान में रहना चाहते हैं । जैसे पशु-पक्षियों को शांत और सुरक्षित स्थान रुचिकर है, उसी प्रकार मनुष्य भी प्रसन्न रहने के लिए परिवार में शांत वातावरण चाहता है । घर को स्वर्ग बनाने का दायित्व पति और पत्नी दोनों ही पर होता है । पतिव्रत धर्म एवं पत्नीव्रत धर्म के अंतर्गत दोनों के ऊपर जिन कर्तव्यों का, उत्तरदायित्वों का भार आता है उसे अति उत्साहपूर्वक वहन करना चाहिए और प्रयत्न यह होना चाहिए कि साथी की तुलना में अपनी भूमिका अधिक ऊँची बनी रहे ।

नववधू से भी इसी प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा की जाती है । वह परिवार की प्रतिष्ठा है । कुल या वंश का गौरव उसके चरित्र और आचरण पर ही निर्भर है । वह कुल परंपराओं की पालक है और कुल को ज्योतिर्मय बनाने के लिए सुयोग्य संतानों को जन्म देने वाली है । कुल की स्थिति को दृढ़ करने का उत्तरदायित्व उसी पर होता है । केवल गृहस्थ धर्म का पालन ही उसका कर्तव्य नहीं है, अपितु कुल की प्रतिष्ठा में वृद्धि करना, प्राचीन उत्कृष्ट परंपराओं का

निर्वाह करना, वंश के सामान्य जनों को उचित सम्मान देना, अतिथियों का स्वागत-सत्कार करना, कुल को दूषित करने वाले दुर्गुणों का परित्याग और कुल के लिए ज्ञान-विज्ञान, वैभव आदि से युक्त संतान को जन्म देना, उनको उत्तम आचार-विचार की शिक्षा देना आदि पत्नी के महत्वपूर्ण कर्तव्य हैं । परिवार की प्रसन्नता में ही उसकी प्रसन्नता हो तथा वह पूरे परिवार के सुख के लिए सदा प्रयत्नशील रहे, ऐसी नारी ही परिवार में सबकी प्रिय होती है ।

नारी में लज्जा, शील, स्नेह, ममता आदि ऐसे गुण हैं, जो बलात मनुष्य को आकृष्ट कर लेते हैं । उसमें सहज आकर्षण होता है जो प्रायः सौंदर्यमूलक होता है । शारीरिक सौंदर्य, गुण, ज्ञान, गौरव, कलात्मक रुचि आदि अनेक तत्त्व उसके व्यक्तित्व को उत्कृष्टता प्रदान करते हैं । आकर्षण के मूल में हृदय की शुद्धि, सरलता और निश्छलता रहती है, जो समान गुणों वाले व्यक्ति को सहसा आकृष्ट कर लेती है । स्त्री के रूप सौंदर्य में मादकता रहती है । वह अपने चुंबकीय आकर्षण के द्वारा परिवार में सभी को इस प्रकार अपनी ओर खींच लेती है जैसे कोई सुंदर व सुगंधित फूल । परंतु बाह्य सौंदर्य की अपेक्षा आंतरिक सौंदर्य, भाव शुद्धि, विचार शुद्धि आदि को विशेष महत्व दिया जाता है । सुहृदयता, संवेदना, सहयोगिता आदि की भावना से जो स्त्री परिवार में सभी का हित-चिंतन करती है, उसी दिशा में पुरुषार्थ करती है, वह घर सुख शांति से भरपूर रहता है । परिश्रमी और कर्मठ स्त्री ही परिवार को सुखमय बना सकती है ।

सुंदर सुगढ़ पत्नी ही पूरे परिवार के कष्टों को दूर करके दुखों से पार लगाने की सामर्थ्य रखती है । सबका हित चिंतन करते हुए, वह अपना जीवन भी सुखमय करती है और परिवार को भी सुखी और खुशहाल बनाती है ।

आ पवस्व हिरण्यवदश्ववत्सोम वीरवत् ।
वाजं गोमन्तमा भर स्वाहा ॥

(यजुर्वेद ८/६३)

भावार्थ-गृहस्थी के ठीक ढंग से संचालन के लिए मनुष्यों को चाहिए कि वे अपने पुरुषार्थ के द्वारा स्वर्ण, पशु और धन कमाएं । इनके बिना गृहस्थ जीवन परिपूर्ण नहीं बनता । गृहस्थाश्रम की उन्नति पुरुषार्थ में सन्निहित है ।

संदेश–संसार का कोई भी कार्य धन के बिना नहीं चल सकता, फिर गृहस्थ की गाड़ी इसके बिना कैसे चले ? वास्तविकता तो यह है कि गृहस्थाश्रम में रहकर ही व्यक्ति धनोपार्जन करता है । वही अपने साथ-साथ ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम वालों की भी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, उनका भरण-पोषण, लालन-पालन करता है । गृहस्थ के लिए धन कमाना और उसका सदुपयोग करना दोनों ही महत्वपूर्ण हैं । इसके बिना घर-गृहस्थी का संचालन भली प्रकार से कर पाना असंभव होगा । गृहस्थ के लिए यह आवश्यक है कि वह धन कमाए, परंतु उसकी कमाई के साधन पवित्र हों ।

धन कमाने के चार साधन हैं-खेती, व्यापार, नौकरी और मजदूरी । कृषि कर्म में अर्थ की पवित्रता का अभिप्राय है कि श्रमिकों का शोषण न किया जाए । उन्हें उचित पारिश्रमिक मिले । व्यापारी की आर्थिक पवित्रता यही है कि वह वस्तुओं में मिलावट न करे, क्रत्रिम अभाव बनाकर उन्हें मँहगे दामों पर न बेचे । उचित दर पर ही ब्याज ले और सरकार को पूरा कर अदा करे । नौकरी करने वाला, चाहे छोटा कर्मचारी हो या उच्च पदस्थ अधिकारी, पूरे मनोयोग से अपने कर्तव्यों का पालन करे, घूस न ले और सरकारी एवं संस्था की

धन-संपत्ति का दुरुपयोग न करे । श्रमिक भी काम से जी न चुराए और पूरी निष्ठा से काम करने का प्रयास करे । निर्धनों, अनाथों से छीना गया, किसी के शोषण से एकत्रित किया हुआ तथा अन्य अनुचित साधनों से कमाया हुआ धन अपवित्र होता है । गृहस्थाश्रम की सुख समृद्धि के लिए आर्थिक पवित्रता बहुत आवश्यक है ।

जहाँ गृहस्थ को आय के पवित्र साधनों के प्रति जागरूक रहना चाहिए, वहाँ धन के सदुपयोग का भी विशेष ध्यान रखना चाहिए । पति और पत्नी गृहस्थ रूपी गाड़ी के दो पहिए हैं । जहाँ पति का कार्य धन कमाना है वहीं पत्नी का कर्तव्य गृह कार्यों को संपन्न करना है । पति यदि निखट्टू या फिजूलखर्च होगा, व्यसनी (शराबी, जुआरी, व्यभिचारी) या रोगी होगा तो परिवार की अर्थव्यवस्था चरमरा जाएगी जो सभी के लिए कष्टदायक होगी ।

धन के सदुपयोग का शास्त्रों ने बड़ा सुंदर विधान किया है । 'धर्माय यशसेऽर्थाय आत्मने स्वजनाय च', उपार्जित धन को पांच भागों में विभाजित कर देना चाहिए । एक भाग धर्म के लिए और एक यश के लिए दान कर देना चाहिए । इसी से वानप्रस्थ व संन्यास आश्रम की गतिविधियों का संचालन होता है और इसी से ब्रह्मचारियों के लिए स्कूलों आदि की व्यवस्था होती है । एक भाग अपने धन को बढ़ाने के लिए पुनः व्यापार में लगाकर या भविष्य के लिए जमा करके रखना चाहिए । शेष ही स्वयं अपने व स्वजनों के उपयोग में आना चाहिए ।

जो गृहस्थ धनोपार्जन में पवित्रता का और उसके उपयोग में विवेकशीलता का आंचल कसकर थामे रहते हैं वे सदा सुखी, संतुष्ट व समृद्ध रहते हैं ।

धाता दधातु नो रयिमीशानो जगतस्पतिः ।
स नः पूर्णेन यच्छतु ॥

(अथर्व वेद ७/१७/१)

भावार्थ-गृहस्थ लोग अपने पुरुषार्थ द्वारा परमात्मा की कृपा से धन और बल का संचय कर सुख प्राप्त करें ।

संदेश-वेद धन कमाने का निषेध नहीं करता । वह कहता है कि खूब धन कमाओ परंतु धर्म एवं न्यायपूर्वक । जो व्यक्ति उत्तम मार्ग से धर्मानुसार धन का उपार्जन करता है, लोभ के वशीभूत होकर अन्याय और अधर्म से, दूसरों का शोषण करके, दूसरों का अधिकार छीनकर कभी धन कमाने का विचार भी नहीं करता, वही आदर्श पुरुष कहलाता है । 'अग्ने नय सुपथा राये', हे प्रभो ! धन प्राप्ति के लिए आप हमें सुपथ पर चलाइए, यही प्रार्थना वह सदैव करता रहता है ।

अनीति और अन्याय के द्वारा कमाया हुआ धन जुगनू की भांति चमकता है एवं थोड़ी देर के लिए हमें चकाचौंध कर देता है फिर पुनः अंधकार का साम्राज्य छा जाता है । सद्गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह अपने पुरुषार्थ में किसी प्रकार की भी कमी न आने दे और अधिक से अधिक परिश्रम करते हुए जो भी उपार्जन करे उसमें ही संतुष्ट रहे । किसी को कष्ट न देकर, दुर्जनों के सामने न झुककर और सन्मार्ग को न छोड़कर जो थोड़ा भी कमाया जाता है वही बहुत है । अनीति से कमाया हुआ धन हमारे लिए सुख सुविधाओं के ढेर तो लगा देता है पर साथ ही परिवारीजनों को विलासी, आलसी, अकर्मण्य, लोभी, लंपट और रोगी भी बना देता है । उस धन से सुख कम और कष्ट अधिक मिलता है । साथ ही

अनेकानेक दुर्गुण और दुर्व्यसन भी परिवार में घुस जाते हैं । इसके दुष्प्रभाव से परिवार के सभी सदस्यों की शारीरिक व मानसिक अवनति होती है तथा उनमें आपसी मनोमालिन्य, शंका, संदेह व द्वेष का भाव भी जागृत होता है ।

हमारे शास्त्रों ने इसीलिए गृहस्थों को अर्थोपार्जन की पवित्रता पर विशेष ध्यान देने का आग्रह किया है । इसके साथ ही उस धन का उचित रीति से सदुपयोग करना भी जरूरी है । घर को ठीक प्रकार से बसाने के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, गृहस्थों को उनकी व्यवस्था जुटाने का प्रयास करना चाहिए और भोग-विलास की वस्तुओं को घर में नहीं घुसने देना चाहिए । वेद की इस भावना की तो आज सर्वत्र अवहेलना हो रही है । लाखों-करोड़ों रुपयों का सौंदर्य-प्रसाधन एवं विलासिता का सामान तो विदेशों से कर्जा लेकर आयात किया जाता है । हमारा खान-पान, रहन-सहन, वस्त्र-विन्यास सभी क्रत्रिमता एवं आडंबर से बुरी तरह ग्रसित हो रहे हैं । भारतीय परिवेश और जलवायु में वे सब अनुपयुक्त ही नहीं, स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक भी हैं ।

इस प्रकार धन की पवित्रता बनाए रखने का पुरुषार्थ तभी संभव हो सकता है जब उसमें पर्याप्त आत्मबल हो, सांसारिक प्रलोभनों के प्रति उदासीनता दिखा सकने का साहस हो तथा परिवार के सभी सदस्यों में विचार साम्य हो । सुसंस्कारित परिवारों में बच्चों को बचपन से इस प्रकार के त्याग की शिक्षा दी जाती है और प्रारंभ से ही उनमें आत्मविश्वास के साथ कुरीतियों का सामना करने का साहस भी रहता है । ऐसे परिवार में सभी लोग सुख व संतोष के स्वर्गीय वातावरण में रहते हुए आत्मोन्नति करते हैं और एक स्वस्थ समाज के निर्माण में सहायक होते हैं ।

अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयामुया ।
पतिर्यद् वध्वोः वाससः स्वमङ्गमभ्युर्णुते ॥

(अथर्व वेद १४/१/२७)

भावार्थ-जो पुरुष स्त्री द्वारा लाए हुए द्रव्य का उपभोग करता है वह अपवित्र हो जाता है । अर्थात दहेज लेना महान पाप है ।

संदेश-अग्नि संसार का पालक और पोषक है, अतः वह पृथ्वी पर अपना साम्राज्य फैलाए हुए है । उसके बिना कोई कार्य चल ही नहीं सकता । इसी प्रकार जो व्यक्ति अग्नि के समान प्रखर एवं तेजस्वी होते हैं, वही संसार में प्रतिष्ठित और प्रिय होते हैं । जो व्यक्ति सूर्यवत, राजवत और वीरवत होते हैं वे भी मान, सम्मान व यश प्राप्त करते हैं । सूर्य संसार को प्रकाश देता है, अंधकार का नाश करता है और संसार का पालक है । श्रेष्ठ व्यक्ति भी अपने गुणों के प्रकाश व ऊर्जा से संसार के अज्ञान व दुर्गुणों का नाश करके सबके भले का कार्य करते हें । राजा राष्ट्र की रक्षा करता है, सबका हित करता है और सबसे हितकारी मित्र के तुल्य व्यवहार करता है, अतः वह जनप्रिय होता है । राजवत पुरुष भी परिवार व समाज के हित चिंतन में ही लगा रहता है और आत्मवत सर्वभूतेषु की भावना से उनकी रक्षा सेवा करता है । वीर पुरुष अपने प्राणों की चिंता न करते हुए देश और समाज की रक्षा करते हैं ।

इस प्रकार के गुणवान पुरुषों के लिए ही शास्त्रों ने यह अनुमति दी है कि वे विवाह बंधन में बँधकर दांपत्य जीवन का सुख भोगें । जो ज्ञानवान हों, शरीर से हृष्ट-पुष्ट हों तथा पुरुषार्थी हों

वे ही सुंदर, सुशील, गुणवती स्त्री के साथ विवाह करके गृहस्थ आश्रम के दायित्व निबाहें । अग्नि, सूर्य व राजा के समान परिवार के पालन-पोषण की व्यवस्था करें । पत्नी को सुंदर वस्त्राभूषण, धन-धान्य आदि से प्रसन्न रख सकें । समृद्ध और प्रसन्नचित्त पति ही पत्नी की सभी कामनाएं पूर्ण कर सकता है । पति सूर्य के समान सदैव कर्मशील व गतिशील रहे, परिवार की आवश्यकतानुसार यथेष्ठ धनोपार्जन करे और राजा के समान अपनी पत्नी व परिवार को संतुष्ट, सुखी व सुरक्षित रख सके, इसी में सद्गृहस्थ की गरिमा है ।

विवाह सदैव योग्य एवं सुसंस्कारी स्त्री-पुरुषों का ही होना चाहिए । आलसी व अज्ञानी व्यक्ति सदैव दीन-दरिद्र बने रहते हैं और इसी ताक में रहते हैं कि कैसे मुफ्त का माल प्राप्त हो । ऐसे व्यक्ति विवाह को भी पैसा कमाने का एक धंधा बना लेते हैं और जबरन दहेज वसूल करने का नीचतापूर्ण दुस्साहस तक करते हैं । इससे अधिक निकृष्ट आचरण और क्या हो सकता है ? विवाह के समय वधू के परिवार की ओर से यदि उसे कुछ द्रव्य दिया जाता है तो वह उसका स्त्रीधन होता है । ऐसे धन का उपयोग करने का पति को कोई अधिकार ही नहीं होता । माता-पिता द्वारा अपनी पुत्री को स्वेच्छया दिए गए उपहार और जबरन वसूले गए दहेज में आकाश-पाताल का, स्वर्ग-नर्क का सा अंतर है । दहेज की मांग करना और उसे प्राप्त करने के लिए भांति-भांति के हथकंडे अपनाना, मनुष्य के चरित्र के निकृष्टतम स्तर का द्योतक है । दहेज लेना कानूनी अपराध तो है ही, यह आत्मा को पतित करके पुरुष के मान, सम्मान, यश, गौरव सबको धूल में मिला देता है । पत्नी के धन से अपनी गृहस्थी की गाड़ी खींचने की जो योजना बनाते हैं उनसे अधिक नीच, धूर्त और दुष्ट दूसरे नहीं हो सकते ।

अपने पुरुषार्थ में ही पुरुष की मर्यादा है ।

लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम् ।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन योनावसीषदन् ॥

(यजुर्वेद १५/५९)

भावार्थ-भली स्त्रियां घर का प्रत्येक कार्य रुचिपूर्वक पूरा करती हैं । किसी भी कार्य में आलस्य नहीं दिखातीं । प्रत्येक विदुषी और श्रेष्ठ नारी द्वारा गृह धर्म का जैसा पालन होना चाहिए उसी की शिक्षा वे दूसरी स्त्रियों को भी देती हैं ।

संदेश-गृहस्थ का आधार क्या है ? उसका मूल क्या है ? गृहस्थ का आधार पत्नी है । गृह की सुरक्षा, व्यवस्था, संचालन, निरीक्षण और समुन्नयन का पूरा उत्तरदायित्व पत्नी पर होता है । इसी से कहा है कि पत्नी ही घर है । घर को घर नहीं कहते अपितु गृहणी को ही गृह कहते हैं । कहावत भी है कि 'बिन घरनी घर भूत का डेरा' गृहणी के बिना घर भूतों के निवास की तरह सूना-सूना, मनहूस जैसा हो जाता है । उसी से घर में श्री एवं ऐश्वर्य की वृद्धि होती है । पारिवारिक श्रीवृद्धि के लिए स्त्री में आत्मिक बल, सात्विकता, पवित्रता, सुशीलता और विनय आदि सौम्य गुणों का होना आवश्यक है । ऐसी सरल, सुशील और विनीत स्त्री ही परिवार के लिए कल्याणकारी होती है । जिस प्रकार जल पाकर वृक्ष फलते-फूलते हैं, उसी तरह सुशील एवं विदुषी स्त्री के द्वारा परिवार की भी चतुर्दिक उन्नति होती है । सुशील स्त्री परिवार के लिए लक्ष्मी होती है, गृहलक्ष्मी होती है ।

उस पति का जीवन धन्य है जिसे सुंदर, सुशील, मधुर भाषिणी, पतिव्रता पत्नी मिलती है । धर्मानुसार आचरण करने और पति तथा परिवार के साथ भी धार्मिक कार्यों में पूर्ण सहभागिता रखने के

कारण उसे धर्मपत्नी भी कहते हैं । विवाहित जीवन का सुख पति-पत्नी की समरसता पर निर्भर है । यदि दोनों एकरूप होकर तादात्म्य की अनुभूति करते हुए एक दूसरे का सम्मान करते हैं और गृह संचालन में सहयोग करते हैं तो दोनों का जीवन मधुर होता है ।

गृह संचालन का दायित्व पत्नी पर होता है । पति तो धनोपार्जन करके उसे सौंप देता है और सारी व्यवस्था उसे ही बनानी होती है । जो स्त्री प्रसन्नतापूर्वक परिश्रम करके परिवार की श्रीवृद्धि का पुरुषार्थ करती है वही सर्वप्रिय होती है । जीवन में सरसता, सौंदर्य, पुरुषार्थ और पति परायण होना स्त्री के सौभाग्य के चिह्न हैं । अपने पति को सर्वोत्कृष्ट मानने से स्त्री का गौरव बढ़ता है और जीवन में कभी हीनता की भावना नहीं आती । सरलता, मृदुता, विनम्रता आदि गुण जिस स्त्री में होंगे वहाँ दांपत्य जीवन स्वयं सुखमय होगा।

परिश्रमी और कर्मठ स्त्री ही परिवार को सुखमय बना सकती है । उसे परिवार के सभी व्यक्तियों के हित चिंतन में तत्पर रहना चाहिए । सास-ससुर की सेवा करना, पति की सेवा करना, परिजनों के प्रति स्नेह पूर्ण व्यवहार करना और सभी परिवार वालों के लिए भोजन आदि की व्यवस्था करना, पत्नी का कर्तव्य है । उसका यह भी कर्तव्य है कि वह प्रेमपूर्ण दृष्टि से सबको देखे । उसकी दृष्टि में कटुता और क्रूरता न हो । यदि वह कटुता का वातावरण उत्पन्न करेगी तो परिवार का सामंजस्य समाप्त हो जाएगा । उसका जीवन स्वयं दुखी रहेगा और दूसरों के लिए भी वह एक समस्या बन जाएगी । उसका दायित्व है कि वह पूरे परिवार के सुख के लिए सदा प्रयत्नशील रहे। यही श्रेष्ठ नारियों का गृहधर्म है ।

स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी ।
यच्छा नः शर्म सप्रथाः, अप नः शोशुचदघम् ॥

(यजुर्वेद ३५/२१)

भावार्थ-गृह कार्य योग्य वह स्त्री होती है जिसमें पृथ्वी के समान क्षमा भाव हो, क्रूरता से रहित और दूसरों के दोष निवारण करने वाली हो ।

संदेश-परिवार में स्त्री अपनी योग्यता से आदर पाती है । उसमें जितनी अधिक योग्यता होगी, उतनी ही अधिक वह सम्मानित होगी । यदि वह सभी पारिवारिक कार्यों में दक्ष है तो उसका मान अनिवार्य है और वह सबको प्रिय होगी । उसका कर्तव्य है कि वह परिवार में महान आनंद का वातावरण तैयार करे, देवताओं और ज्येष्ठ जनों का सम्मान करे । यज्ञादि कर्मों से देवता प्रसन्न होते हैं और श्रद्धा भाव से परिवार के सभी बड़े लोग । जिस प्रकार पिता अपने पुत्रों के प्रति दयालु और कर्तव्यनिष्ठ होता है, उसी प्रकार स्त्री भी अपने सद्व्यवहार से परिवार में सभी को प्रसन्न रखे और उनकी सुख सुविधा का पूरा-पूरा ध्यान रखे । प्रेमपूर्ण व्यवहार से आत्मीयता, सहयोग एवं सद्भावना की वृद्धि होती है तथा पारिवारिक समस्याओं से सफलतापूर्वक जूझने की शक्ति मिलती है ।

पति का अहित न कभी सोचना और न करना, यह पत्नी का प्रमुख कर्तव्य है । जीवन भर उसे इसका निर्वाह करना चाहिए । परिवार के सभी व्यक्तियों के प्रति भी उसका व्यवहार प्रेमपूर्ण होना चाहिए । किसी से भी द्वेष, बैर या अनुचित क्रोध नहीं करना चाहिए । क्षमा स्त्री का सर्वश्रेष्ठ गुण है । उसमें पृथ्वी के समान ही सबके प्रति क्षमा भाव होना चाहिए । जो उसके प्रति अहित की

दुर्भावना रखे उसे भी क्षमा कर के प्रेमपूर्वक अपने अनुकूल बना लेने की सामर्थ्य होनी चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि परिवार में सबके दोष दुर्गुणों को क्षमा करके उन्हें कुमार्ग पर चलने का बढ़ावा दें। अपितु उसका दायित्व है कि सभी पर कठोर नियंत्रण रखे और दुर्गुणों को पनपने से पहले ही दृढ़तापूर्वक कुचल दे। यदि कभी पति-पत्नी में किसी बात पर मतभेद हो जाए तो परिवार के व्यापक हित को ध्यान में रखते हुए उन्हें अपने मतभेदों को दूर कर के सुसंगठित परिवार का निर्माण करने में जी जान से जुटे रहना चाहिए। पति और पत्नी दांपत्य जीवन रूपी रथ के दो पहिए हैं। दोनों में सामंजस्य और सहभागिता रहने से जीवन सुखपूर्वक चलता है और परस्पर प्रेम भाव की अभिवृद्धि होती है।

पत्नी में आध्यात्मिकता, आस्तिकता और ईश भक्ति भी होनी चाहिए। ईश भक्ति से सात्विकता, मनोबल और आत्मबल आता है जिससे जीवन में प्रगति और विकास होता है। स्त्री की तेजस्विता ईश भक्ति से बढ़ती है। तेजस्विता उसके चारित्रिक बल पर निर्भर करती है। पवित्र चरित्र मनुष्य को देवता बना देता है और स्त्री को सती, साध्वी और देवी। इससे वह परिवार में प्रतिष्ठित होती है। यदि चरित्र बल के साथ-साथ ज्ञान का बल भी हो तो वह स्त्री को पूज्य और श्रद्धेय बना देता है। जिस प्रकार विष्णु सर्वत्र पूज्य और प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार वह भी सबके आदर की पात्र होती है।

ऐसी चरित्रवान, ज्ञानवान और पतिव्रत स्त्री परिवार में सबको सद्‌बुद्धि, सद्‌विचार और सद्‌गुणों के मार्ग पर ले जाती है, उन्हें यशस्वी और दीर्घजीवी बनाती है तथा जीवन लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक बनती है।

सुशील एवं सुगढ़ स्त्री ही घर की शोभा है।

सूयवसाद्भगवती हि भूया
अथो वयं भगवन्तः स्याम ।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं
पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥

(ऋग्वेद १/१६४/४०)

भावार्थ-संतान विद्यावान हो इसलिए माताएं ज्ञानवान बनें । जो स्त्रियां सदाचारी पुरुषों से विवाह कर संतान उत्पन्न करती हैं और उन्हें संस्कारवान बनाती हैं उनसे समाज का गौरव बढ़ता है । उनका अनुदान गायों के समान पवित्र होता है ।

संदेश-नारी अपने विभिन्न रूपों में सदैव मानव जाति के लिए त्याग, बलिदान, धैर्य, सहिष्णुता, स्नेह व श्रद्धा का जीवन बिताती रही है । उसके नेत्रों में करुणा, सरसता, और आनंद के दर्शन होते हैं । उसकी वाणी जीवन के लिए अमृत का स्रोत है । उसकी मधुर मुस्कान में संसार की समस्त निराशा व कटुता को मिटा देने की अपूर्व क्षमता है । पत्नी के रूप में वह पति की अर्धांगिनी है, सहधर्मिणी है । यह पत्नी की कोमल कुशलता का ही प्रतिफल है कि वह पति की पशुता एवं उच्छृंखलता को नियंत्रित करके उसे परिवार के व्यवस्थित वातावरण में बांधकर रखती है तथा सद्‌गृहस्थ की गरिमा प्रदान करती है । विद्या, वैभव, वीरता, सरसता, ममता, करुणा आदि गुणों से परिपूर्ण स्त्री जब सुसंस्कारित, सदाचारी एवं चरित्रवान व्यक्ति से विवाह करती है तो परिवार व समाज में सर्वत्र उनके सद्‌गुणों की सुगंध से यश व कीर्ति फैलती है ।

पत्नी का सर्वोत्तम रूप उसके मातृत्व में निहित है और इसी से व्यक्तित्व को पूर्णता एवं गरिमा प्राप्त होती है । संतानोत्पादन एक

शारीरिक मनोरंजन की परिणति नहीं वरन एक महान उत्तरदायित्व है जिसके दूरगामी परिणाम होते हैं । गर्भावस्था में उसका विकास, जन्म देने की कष्टदायक पीड़ा, फिर उसका लालन-पालन, आहार-विहार, शिक्षा, संस्कार आदि अनेकानेक समस्याएं इसके साथ जुड़ी रहती हैं । माता-पिता को ही इनके निदान की उचित व्यवस्था बनानी होती है । इन सारे उत्तरदायित्वों को वहन कर सकने की क्षमता हो तभी माता-पिता को यह विचार करना चाहिए कि वे संसार में एक नए जीव को जन्म देने का पुरुषार्थ करें । पहले से ही अपने शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक धरातल एवं पारिवारिक वातावरण को इतना उत्कृष्ट बना लें कि जन्मने वाली संतान हर दृष्टि से परिष्कृत एवं सुसंस्कृत ही सिद्ध हो । जिस प्रकार अन्य सारे कार्यों के लिए पहले से तैयारी कर लेते हैं, उसी प्रकार इस अति महत्वपूर्ण आयोजन के लिए भी तैयारी में किसी प्रकार की चूक नहीं करनी चाहिए । माता-पिता के संस्कारों का प्रभाव बच्चे में गर्भ के समय से ही आ जाता है और ये उसमें इतने गहरे समाए रहते हैं कि जीवन भर साथ नहीं छोड़ते ।

बिना समुचित तैयारी के कुसंस्कारी और अविकसित संतान उत्पन्न करना स्वयं अपने लिए तो परेशानी पैदा करता ही है, यह समाज और देश के साथ भी बहुत बड़ा विश्वासघात है । कुसंस्कारी, दुर्गुणी, व्यसनी नागरिकों से भरा हुआ समाज सामूहिक रूप से पतन के गर्त में ही गिरता जाता है । ऐसी संतान स्त्री के मातृत्व को भी कलंकित करती है । समाज में प्रतिभाशाली, उत्कृष्ट व्यक्तियों की संख्या तभी बढ़ सकती है जब सुयोग्य, सद्गुणी, सुविकसित और सुसंस्कारित संतान को जन्म देने का पवित्र कर्म पूरी श्रद्धा व निष्ठा से किया जाए ।

उप नः सूनवो गिरः शृण्वन्त्वमृतस्य ये ।
समृडीका भवन्तु नः ॥

(यजुर्वेद ३३/७७)

भावार्थ-संतान के हित व कल्याण के लिए उनके माता-पिता उन्हें ब्रह्मविद्या व उत्तम शिक्षा दिलाकर शरीर व आत्मा से बलवान बनावें ।

संदेश-मनुष्य यदि संतान उत्पन्न करता है तो स्वभावतः उसकी यह जिम्मेदारी भी होती है कि उनके पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा, विवाह एवं आजीविका की व्यवस्था करे। मनुष्य के लिए यह उचित है कि बालकपन और किशोरावस्था में बच्चों के भरण-पोषण कीं, भोजन-वस्त्र की, शिक्षा एवं चिकित्सा की व्यवस्था करें और उन्हें शारीरिक व मानसिक दृष्टि से इस योग्य बनाएं कि वे भावी जीवन में स्वावलंबी हो सकें । पौष्टिक आहार, उचित शिक्षा, सरल एवं स्वस्थ मनोरंजन तथा सही संगति के साधन जुटाना उनके माता-पिता और अभिभावकों का ही दायित्व है । यह भी उन्हीं की जिम्मेदारी है कि उनके गुण, कर्म, स्वभाव को सुसंस्कृत बनाने के लिए ऐसा वातावरण एवं साधन उपस्थित करें जिसमें उन्हें सभ्य, सुसंस्कारी एवं सज्जन बनने की दिशा मिल जाए । यदि कोई अपने इन कर्तव्यों को पूरा नहीं करता है तो उसे, कर्तव्यपालन में प्रमाद करने का दोषी कहा जाएगा । लाड़-प्यार के आवेश में यदि बच्चों को आलसी, विलासी, चटोरा, अहंकारी, उद्दंड एवं दुर्गुणी बनाया गया तो भी यही कहा जाएगा कि अहितकर और अनावश्यक लाड़ दिखाकर उन्होंने बच्चों के साथ अन्याय ही किया है ।

शिशु जन्म के बाद माता-पिता की एवं घर की सभी परिस्थितियां ऐसी बननी चाहिए जिसमें अस्वच्छता, मनोमालिन्य,

उद्दंडता एवं अनैतिकता के लिए कोई गुंजायश न हो । सब लोग यह बात ध्यान में रखें कि बहुत ही कुशल और संवेदनशील गुप्तचर की तरह यह नवजात शिशु हमारे आचरण और व्यवहार को निरंतर परखता रहता है और बहुत कुछ सीखता है । इन दिनों उसे जो भी सिखाया जाएगा उसी के आधार पर उसकी प्रकृति बनेगी और बड़े होने पर उसका भविष्य उसी प्रकार का विनिर्मित होगा । इस तथ्य को समझने वाले लोगों का यह एक अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है कि अपने दुर्गुणों पर नियंत्रण रखें और घर में सज्जनता की सौम्य परिस्थितियां बनाए रखने के लिए जो भी त्याग करना पड़े उसके लिए खुशी-खुशी तैयार हों । माता-पिता को आपसी लड़ाई-झगड़े से पूरी तरह बचना चाहिए और काम क्रीड़ा पर अधिक से अधिक नियंत्रण रखना चाहिए जिससे कि बच्चों के कुसमय ही बिगड़ने का दुष्परिणाम सामने न आए ।

बच्चों का शिक्षण उपदेशों पर नहीं अनुकरण पर निर्भर है । उनका अविकसित मस्तिष्क लंबे-चौड़े उपदेशों या कठोर निर्देशों के समझने में असमर्थ रहता है पर जो कुछ हो रहा है उसे समझने और अपनाने में उसका अंतःकरण पूर्ण समर्थ होता है । इसलिए उन्हें जो भी सिखाया जाना हो उसका प्रत्यक्ष रूप उनके सामने प्रस्तुत करना चाहिए । पहले की तरह गुरुकुल प्रथा तो अब रही नहीं । आजकल स्कूल-कालेजों में और मोहल्ले पड़ोस में भी चरित्र एवं संस्कारों का कोई वातावरण नहीं है । चारों ओर से कुविचार एवं कुसंस्कार ही बच्चों को मिलते रहते हैं । ऐसे में यह और भी आवश्यक हो जाता है कि घर का वातावरण बहुत ही निर्मल, शांतिमय, सदाचारी एवं सज्जनतापूर्ण हो जिससे बच्चों को सद्गुणों को गृहण करने की प्रेरणा मिले ।

एषा वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात् ॥

(अथर्व वेद ९/६ (३)/७)

भावार्थ-हे सद्गृहस्थ पुरुषो ! पहले द्वार पर आए अतिथि को भोजन कराना पीछे आप करना ।

संदेश-अतिथि को भारतीय संस्कृति में माता, पिता और गुरु के पश्चात चौथा महान देवता माना गया है । यों तो घात लगाकर आने वाले चोर, ठग और अपराधी प्रवृत्ति के लोग भी अतिथि होने का वैसा प्रयत्न कर सकते हैं जैसा कि रावण ने सीता को अतिथि के नाम पर ही ठग लिया था । वस्तुतः अतिथि से तात्पर्य उन उदार आत्माओं से है जो कृपापूर्वक स्वयं कष्ट उठाकर किसी के यहां आते हैं और उसे अपने सहयोग अनुदान से लाभान्वित करते हैं । प्राचीनकाल में उदारमना संत ऐसा ही अनुग्रह करने गृहस्थों के यहां पधारते थे और अपने पुण्य प्रभाव से उनको सुखी व समुन्नत बनाने का प्रयास करते थे । ऐसे श्रेष्ठ मानवों का, अतिथियों का देवोपम सत्कार किया जाना उचित भी है और आवश्यक भी । शास्त्रों ने इसी से अतिथि को देवता मानने और उसका समुचित सम्मान करने का निर्देश दिया है ।'अतिथि देवो भव'।

वैदिक धर्म में पंच-यज्ञों का बड़ा महत्व है और अतिथि-यज्ञ भी हमारा एक दैनिक कर्तव्य है । जब भी हमारे घर पर कोई ऐसा व्यक्ति आ जाए जो वेदादि शास्त्रों का विद्वान हो, जिसने अपना जीवन संसार के कल्याण में लगा दिया हो, तो हमें भोजन, वस्त्रादि से उसका सत्कार करना चाहिए । साथ ही यदि कोई दीन, दुखी, असहाय और अनाथ प्राणी द्वार पर आ जाए या कहीं भी मिल जाए तो हर प्रकार से उसकी सहायता करना भी अतिथि सेवा है ।

प्राचीनकाल में अतिथि को भोजन कराकर ही गृहस्थ भोजन ग्रहण करते थे । जिस दिन कोई अतिथि न मिले तो अपने को भाग्यहीन समझते थे । हमें भी अपने हृदय में ऐसी ही भावना रखनी चाहिए । अतिथि को खिलाया हुआ भोजन व्यर्थ नहीं जाता । हमारे अन्न से शक्ति पाकर कोई देश और जाति का उद्धार करता है और किसी के प्राणों की रक्षा होती है-यह स्वयं ही महत्वपूर्ण है । जिस घर से अतिथि निराश लौट जाता है उसकी अपकीर्ति होती है । कभी भी अतिथि को निराश नहीं लौटने देना चाहिए । पर दुष्टों और मक्कारों से सावधान रहना भी आवश्यक है ।

आजकल तो बस यार दोस्तों की, मेहमानों की, सरकारी कर्मचारियों आदि की जमकर खातिर की जाती है क्योंकि इससे उन्हें लाभ पहुँचने की संभावना रहती है । बहाना कुछ भी हो सकता है, बच्चों का जन्मदिन, विवाह, परीक्षा में पास होना आदि । लोगों को आग्रहपूर्वक बुलाकर हर प्रकार से उनके खाने पीने की व्यवस्था की जाती है । यही नहीं सुरा सुंदरी का सरंजाम भी जुटाया जाता है । क्या इसे अतिथि सत्कार कहा जा सकता है ? क्या यह लेन देन नहीं है कि अमुक ने अपने बच्चे के जन्मदिन पर दावत की थी तो हम भी उससे ऊंचा आयोजन करें ? क्या यह विशुद्ध व्यापार नहीं है कि दावत में कुछ व्यय करके उससे असंख्य गुना कमाने का मार्ग सुनिश्चित हो रहा है ? क्या यह उच्च अधिकारियों को रिश्वत देकर अपना काम निकालने का साधन नहीं है ? हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकार एक व्यक्ति के भोजन आदि पर जो व्यय होता है, उतने में दस-बीस-पचास असहाय व्यक्तियों की सहायता की जा सकती है जिन्हें इसकी सचमुच आवश्यकता है । यही असली पुण्य कर्म है ।

स्वाक्तं मे द्यावापृथिवी स्वाक्तं मित्रो अकरयम् ।
स्वाक्तं मे ब्रह्मणस्पतिः स्वाक्तं सविता करत् ॥

(अथर्व वेद ७/३०/१)

भावार्थ-मनुष्य ऐसे शुभ कर्म करे जिससे माता-पिता तथा गुरुजनों का प्यार उसे मिलता रहे ।

संदेश-मनुष्य जीवन की स्थिरता एवं प्रगति की आधारशिला है उसकी कर्तव्यपरायणता । यदि हम अपनी जिम्मेदारियों को छोड़ दें और निर्धारित कर्तव्यों की उपेक्षा करें तो फिर ऐसा गतिरोध उत्पन्न हो जाए कि प्रगति की बात तो दूर, मनुष्य की तरह जीवनयापन कर सकना भी संभव न रहे । जीवन की हर विभूति कर्तव्यपरायणता पर निर्भर है । हर उपलब्धि की स्थिरता एवं सुरक्षा, कर्तव्यनिष्ठा पर ही आधारित है । हमें बहुमूल्य शरीर मिला है । इसे निरोग, परिपुष्ट तथा दीर्घजीवी तभी बनाया जा सकता है जब शौच, स्नान, स्वच्छतां, श्रम, समयपालन, आहार संयम, इंद्रिय निग्रह आदि की जिम्मेदारी को भलीभांति निबाहा जाए । मन की समर्थता एवं प्रखरता इसी बात पर निर्भर है कि चिंता, शोक, निराशा, भय, क्रोध, आवेश आदि से उसे बचाकर उत्साह, उल्लास, साहस, संतोष, संतुलन, धैर्य, विश्वास, एकाग्रता जैसे सद्गुणों से उसे सुसज्जित रखा जाए ।

परिवार से जीवन में बहुत सुविधा और सुव्यवस्था रहती है । पर वे उपलब्धियां केवल उन्हें ही प्राप्त होती हैं, जो परिवार के हर सदस्य के साथ अपनी जिम्मेदारियों को पूरी तत्परता, सावधानी व ईमानदारी से निभाते हैं । स्त्री केवल सेवा के लिए नहीं मिली है । उसके विकास, सुविधा, संतोष एवं स्वास्थ्य की हर आवश्यकता को पूरा करना भी तो एक कर्तव्य है । गाय उसी को दूध देगी जो भर पेट चारा खिलाएगा । दांपत्य जीवन का आनंद भी उसे ही मिलेगा

जो अपना परिपूर्ण कर्तव्यपालन करते हुए उसका हृदय जीत लेगा । बच्चे उसी के सुसंस्कृत और सुविकसित होंगे, जो उन्हें प्यार, समय और सहयोग देकर विकासोन्मुख एवं सुसंस्कृत बनाने को निरंतर तत्पर रहेगा । माता, पिता एवं गुरुजनों का वात्सल्य एवं आशीर्वाद उसे ही मिलेगा, जो उनकी सुविधा तथा इज्जत में कमी न आने देने का शक्ति भर प्रयत्न करेगा । भाई-बहनों का अनंत प्रेम और सहकार पाने की आशा उन्हें ही करनी चाहिए जो उनके लिए जान देने को तैयार हों और भरपूर प्यार करते हों । परिवार का आनंद केवल कर्तव्य परायण ही ले सकते हैं । इसके विपरीत जिन्होंने, सुविधाएं पाने का अधिकार तो जाना, पर कर्तव्यपालन की शर्त भूल गए, उनके लिए घर और नरक में कोई अंतर नहीं रहेगा । मनोमालिन्य और कलह से घर का वातावरण विषाक्त बना रहेगा । न पत्नी जीवन संगिनी बनकर रहेगी, न बच्चे आज्ञानुवर्ती होंगे । माता-पिता का असंतोष और भाई-बहनों का द्वेष घर को मरघट बनाए रहेंगे ।

परिवार उन्हीं के लिए स्वर्ग समान हैं, जो पग-पग पर अपनी जिम्मेदारियों के निर्वहन में तत्पर रहते हैं तथा अपने साथियों की कमियों को भी सहर्ष सहन कर लेते हैं । नरक उनके लिए है जो घर वालों से बड़ी-बड़ी आशाएं तो रखते हैं, पर अपनी जिम्मेदारियों के प्रति उदासीन होते हैं ।

आत्मा के प्रति हमारी जिम्मेदारी है और ईश्वर के प्रति भी । उन्हीं के कारण हमारा अस्तित्व है । आवश्यक है कि हम आत्मा की आवाज सुनें और परमात्मा द्वारा निर्धारित कर्तव्यों का पालन करते हुए मानव जीवन को सार्थक बनाने के लिए प्रयत्नशील रहें । ऐसे शुभ कर्मों से ही सबका स्नेह व सम्मान प्राप्त हो सकता है और परिवार स्वर्ग बन जाता है ।

उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसंमुदः ।
अक्षुध्या अतृष्या स्त गृहा मास्मद् विभीतन् ॥

(अथर्व वेद ७/६०/४)

भावार्थ-परिवार के सभी सदस्य धन कमाने वाले, आस्तिक और विनोदप्रिय हों । वे भूख-प्यास से व्याकुल न हों, एक दूसरे से डरें भी नहीं ।

संदेश-अपने पास दूसरों को देने के लिए धन दौलत न हो, किसी को कुछ और देने की स्थिति भी न हो तो भी हम एक वस्तु सबको देते रहने में सर्वदा समर्थ रहते हैं । वह वस्तु है-प्रसन्नता, जिसे बांटकर निरंतर पुण्य और संतोष लाभ प्राप्त किया जा सकता है । यदि अपने स्वभाव में प्रसन्न रहने का समावेश कर लिया जाए, हंसने-मुस्कराने की आदत डाल ली जाए तो आप जहां कहीं भी रहेंगे, वहीं प्रसन्नता बिखेरते रहेंगे और जो कोई भी आपके संपर्क में आएगा प्रसन्न और प्रभावित होता चला जाएगा ।

प्रसन्नता विशुद्ध रूप से एक ऐसी मनोदशा है जो पूर्णतया आंतरिक सुसंस्कारों पर निर्भर रहती है । गरीबी में भी मुस्कराने और कठिनाइयों के बीच भी जी खोलकर हंसने वाले असंख्य व्यक्ति होते हैं । उदात्त और संतुलित व्यक्तित्व के लोग हर परिस्थिति में हंसते रहते हैं । वे जानते हैं कि मानव जीवन सुविधाओं एवं असुविधाओं, अनुकूलताओं एवं प्रतिकूलताओं के ताने-बाने से बुना गया है । संसार में अब तक एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं जन्मा जिसे केवल सुविधाएं और अनुकूलताएं ही मिली हों एवं कठिनाइयों का सामना न करना पड़ा हो । हमारे आदर्श पुरुष राम और कृष्णा का सारा जीवन कठिन परिस्थितियों से संघर्ष करते रहने का ही कथानक है । संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, सभी ने हंसते

हुए उलटी परिस्थितियों से लोहा लिया है और उन्हें पलट कर सीधी दिशा में मोड़ा है ।

सुखी एवं संपन्न पारिवारिक जीवन का भी यही आधार है । हर परिवार में सुख-दुख, कष्ट व परेशानियों की स्थिति बनती रहती है । जो हर समय अपनी प्रतिकूलताओं का, कष्ट-क्लेषों का ही रोना रोता रहेगा वह सदा दुखी ही रहेगा । अधिक संपन्न लोगों से अपनी तुलना करेगा तो अपने दुर्भाग्य पर खीजता रहेगा । हर एक पर अपनी हताशा को क्रोध के रूप में व्यक्त करेगा । उसका सारा जीवन ही मानसिक अस्त-व्यस्तता का प्रतीक बन जाएगा ।

इसके विपरीत जो अपनी तुलना पिछड़े हुए लोगों से करेगा और जो भी उपलब्धियां प्राप्त हैं उन पर संतोष करेगा वह सदा प्रसन्न रहेगा । उसे हर समय ही लगेगा कि ईश्वर की महान अनुकंपा के फलस्वरूप हम करोड़ों से अच्छे हैं, हमें भगवान ने वे नियामतें दी हैं जिनके लिए संसार के लाखों-करोड़ों व्यक्ति तरसते रहते हैं । वह अपने की सौभाग्यवान मानेगा । सुसंस्कृत मनोभूमि के व्यक्तियों को ही यह ईश्वरीय वरदान उपलब्ध होता है । उसे सर्वत्र आनंद मंगल दिखता है तथा ईश्वर की अनुकंपा और लोगों की सद्‌भावना पर अटूट विश्वास होता है ।

जिस परिवार में इस विचारधारा के लोग रहते हैं, वहां सदा सुख शांति का ही वातावरण रहता है । सभी लोग रूखी-सूखी खाकर भी प्रेम व संतोषपूर्वक जीवनयापन करते हुए एक दूसरे को सहयोग देते हैं । इससे निर्भयता एवं निश्चिंतता का जो वातावरण बनता है उसमें सभी की आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक व आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है ।

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत ।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न घृष्ण्वर्चत ॥

(अथर्व वेद २०/९२/५)

भावार्थ-हे ईश्वर ! हम अपने पुत्र-पुत्रियों, बंधु-बांधवों समेत सदैव आत्मोन्नति के कार्यों में लगे रहें ।

संदेश-प्रगति पथ पर अग्रसर होने के लिए, अपनी आत्मोन्नति के लिए, यह आवश्यक है कि अभावों और असुविधाओं से लड़ने का साहस हो । साधन सामग्री की अभिवृद्धि से भी अधिक महत्व मानवी संकल्प शक्ति को दृढ़ता प्रदान करने का है । वास्तविक प्रगति में साधनों एवं परिस्थितियों का इतना योगदान नहीं होता जितना की विचारणा और आकांक्षा का होता है । संकल्प की प्रखरता से ही इन सबका उचित समन्वय संभव होता है ।

परिवार के सभी सदस्यों को आत्मोन्नति का दृढ़ संकल्प लेकर अपने दैनिक कार्यों का संचालन करना चाहिए । इसी से उनके उत्तम व्यक्तित्व का निर्माण होगा और परिवार का उत्कर्ष होगा । मानवी व्यक्तित्व का निर्माण मनुष्य की अपनी सूझबूझ, एकाग्रता और पराक्रम का प्रतिफल है जो संसार के अन्यान्य उपार्जनों की तुलना में कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। इसमें संकल्प शक्ति, साहसिकता और दूरदर्शिता का परिचय देना होता है । जन साधारण द्वारा अपनाई गई रीति-नीति से ठीक उलटी दिशा में चलना होता है । साधारण जन तो हर कीमत पर संपन्नता और वाहवाही पाने के ही चक्कर में रहते हैं । किंतु इसके विपरीत आत्म निर्माताओं को जहाँ 'सादा जीवन उच्च विचार' की नीति अपनाकर स्वल्प संतोषी, अपरिग्रही बनना पड़ता है वहीं

साथियों के उपहास, असहयोग और विरोध का भी सामना करना पड़ता है ।

जिस किसी ने भी आत्म निर्माण के मोर्चे को जीत लिया, वह सस्ती प्रशंसा से तो वंचित हो सकता है, उसकी भौतिक सुख-सुविधाओं में तो कमी हो सकती है, पर ईश्वरीय अनुकंपा की सतत वर्षा से वह सदैव अनुप्राणित रहता है । सघन आत्मसंतोष, अनुकरणीय आदर्श परिपालन तथा अनुगामियों के लिए पद चिह्न छोड़ जाने की गौरवपूर्ण गरिमा ऐसे बिरलों को ही प्राप्त होती है । चिंतन, चरित्र और प्रयास में आदर्शवादिता घुली रहने पर ही महानता की उपलब्धि होती है ।

परिवार में प्रत्येक को अपने वैयक्तिक जीवन में इसी प्रकार आत्मोन्नति का प्रयास करते रहना चाहिए । यही आचार शिक्षा है । हम अपने-पराए, सजातीय-विजातीय, शत्रु-मित्र, परिचित-अपरिचित आदि से किस प्रकार का व्यवहार करें । बाह्य और आंतरिक शत्रुओं के प्रति कैसा व्यवहार रखा जाए । इन सभी प्रश्नों का समुचित उत्तर तथा शंका से समाधान तक पहुँचने का मार्ग उन्हीं को मिलता है जो सतत अपनी आत्मोन्नति में लगे रहते हैं । मनुष्य जैसे कर्म करता है, उसी प्रकार उसका जीवन बनता है । सत्कर्मों से वह उन्नत होता है और दूषित कर्मों से निकृष्ट । वेद की शिक्षा है कि निरंतर सद्गुणों को अपने जीवन में लावें और दुर्गुणों को छोड़ें । इसी प्रकार जीवन पवित्र और उत्कृष्ट बनेगा ।

सुखी एवं समुन्नत परिवार में सभी को इसी प्रकार का आचरण करना चाहिए । माता-पिता और अभिभावकों का यह विशेष उत्तरदायित्व है कि वे बच्चों को प्रारंभ से ही उत्कृष्ट आचरण का अभ्यास कराएं तथा उनकी आत्मोन्नति में सहायक बनें ।

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि
मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् ।
शतं जीवन्तु शरदः
पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥

(ऋग्वेद १०/१८/४, यजुर्वेद ३५/१५)

भावार्थ-परमात्मा ने मनुष्य की आयु सौ वर्ष से भी अधिक बनाई है । इसलिए मनुष्य संयम और ब्रह्मचर्य से रहे और अकाल मृत्यु को प्राप्त न हो ।

संदेश-स्रष्टा ने अपने अद्‌भुत कौशल से इस सृष्टि की रचना की है । वह सर्वत्र व्याप्त है । वही सबका नियंता है, विधाता है । सब कुछ उसी के विधान व नियमों के अनुसार चलता है । कहीं कोई व्यवधान नहीं होता । संसार में चौरासी करोड़ योनियों में जीव जंतुओं की उत्पत्ति भी उसी ने की है । एक से एक अलौकिक शरीर रचना, कोई इतना छोटा कि आंख से दिखाई भी न दे और कोई मनुष्य के भार से भी दस, बीस, पचास गुना भारी । प्रत्येक के जीवन क्रम की भी एक निश्चित आयु सीमा । किसी का जीवन पल दो पल का, किसी का कुछ घंटों का, कुछ दिनों का या फिर कुछ वर्षों का । चारों ओर आंख खोलकर देखें तो यह नियमबद्धता देखकर मन अभिभूत हो जाता है ।

परमेश्वर ने सभी जीव जंतुओं को जो असंख्य अनुदान वरदान दिए हैं उनमें से आयु का वरदान भी है । हर एक की आयु सीमा निश्चित है । पेड़-पौधों तक की आयु उसने निश्चित कर रखी है । गेहूं के पौधे की आयु लगभग चार माह है । उसी अवधि में वह बीज से बढ़कर पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है और फिर सूख जाता है । हम चाहें कि एक महीने में गेहूं पककर तैयार हो

जाए या फिर वह पौधा साल भर तक हरा भरा बना रहे, तो यह प्रकृति के नियमों के विरुद्ध है और संभव ही नहीं है । यही दशा सारे पेड़-पौधों और जीवधारियों की है ।

इसी प्रकार उसने मनुष्य की आयु सीमा भी सौ वर्ष की निश्चित की है और उससे यह अपेक्षा की है कि वह इस परिधि को न तोड़े, उसका उल्लंघन न करे । सभी मनुष्य सौ वर्ष तक और उससे भी अधिक जीवित रहें और इससे पूर्व न मरें । अकाल मृत्यु को हम अपने पुरुषार्थ से दूर कर दें । यह परमेश्वर का अपने प्रिय पुत्रों को वरदान भी है और आदेश भी ।

हमें भगवान ने कृपापूर्वक यह सर्वगुण संपन्न मानव शरीर कुछ विशेष प्रयोजन के लिए ही दिया है । उसकी पूर्ति तभी संभव है जब शरीर को पूरी तरह से परिपुष्ट व निरोग रखा जाए । यह तभी होगा जब हम अपना खान-पान, आहार-विहार और समस्त दिनचर्या इस प्रकार की रखें कि रोगी ही न हों । संसार में कोई भी जीव जंतु कभी भी बीमार नहीं पड़ता । सब प्रकृति के साथ तालमेल रख़ते हुए अपनी पूर्ण आयु का भोग करते हैं । वे समय पर मरते तो हैं पर कभी रोगी नहीं होते । इसके विपरीत मनुष्य हर समय प्रकृति के प्रतिकूल आचरण करता है और कोई न कोई रोग उसे घेरे ही रहता है । भोजन पर जितना व्यय होता है उससे भी अधिक औषधियों पर । भार स्वरूप जीवन का बोझ ढोते हुए वह असमय ही मर जाता है ।

मनुष्य को चाहिए कि संयम और ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए श्रम, तप व पुरुषार्थ को अपने जीवन का अंग बनाए जिससे मृत्यु भी यदि उसके द्वार पर आए तो यह देखकर लौट ज़ाए कि अभी तो यह व्यक्ति कार्य में व्यस्त है और इसे चलने का अवकाश नहीं है ।

आ रोहतायुर्जरसं वृणाना
अनुपूर्वं यतमाना यतिष्ठ ।
इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा
दीर्घमायुः करति जीवसे वः ॥

(ऋग्वेद १०/१८/६)

भावार्थ-परमात्मा ने इस संसार में सभी को दीर्घायु प्रदान की है किंतु मनुष्य अनुचित आहार विहार द्वारा आयु-क्षय कर लेता है । इसलिए नियमपूर्वक जीवन जीते हुए पूर्ण आयु प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है ।

संदेश-मानव जीवन की यह महान उपलब्धि हमें परमेश्वर ने ऐसे ही प्रदान नहीं कर दी है । उसने हमें संसार में अपने उत्तराधिकारी राजकुमार के रूप में भेजा है कि हम सौ वर्ष तक हृष्ट-पुष्ट रहकर समाज में सबकी भलाई के कार्य करते हुए यशस्वी एवं श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करें और हमारी कीर्ति पताका सर्वत्र फहराती रहे । जीवन बहुत महत्वपूर्ण है, इसे नीचतापूर्ण कर्मों में गंवाना अच्छी बात नहीं । इसलिए पुरुषार्थी बनें और दुराचार त्याग कर सदाचारी हों इससे मनुष्य पूर्ण आयु प्राप्त करता है ।

प्रत्येक व्यक्ति को जीवन में श्रेष्ठ, यशस्वी और कीर्तिमान होने की कामना करनी चाहिए । उसे सदैव सत्कर्मों के द्वारा समाज हितकारी कार्य करने चाहिए । जिस प्रकार संसार का उपकार करते रहने से सूर्य, चंद्र, पवन को यश मिलता है, उसी प्रकार हम भी ऐसे ही कार्य करें । कभी भी कोई ऐसा कार्य न करें जो हमें अपयश का भागी बनाए ।

यशस्वी एवं सर्वश्रेष्ठ बनने का सर्वोत्तम मार्ग है अपने जीवन

को दोष-दुर्गुणों से मुक्त करके आसुरी वृत्तियों का पूरी तरह से दमन करना। दुराचारी व्यक्ति अपने नीच कार्यों से थोड़ा बहुत लाभ भले ही प्राप्त कर लें परंतु वे आंतरिक रूप से निरंतर उदास, दुखी, क्षुब्ध और रोते हुए ही दिखाई देते हैं । हमें इस जीवन का सर्वोत्तम उपयोग करना चाहिए । विषय सेवन से अपने को दूर रखें । इनमें फँसने से सदा अपयश ही मिलता है ।

हमें स्वयं अपना समीक्षक और न्यायाधीश बनकर अपने आपको दुराचारों के लिए दंडित करते रहना चाहिए । हमारी भावना होनी चाहिए कि जो पांव कुमार्ग पर चलें उन्हें काट दो, जो हाथ किसी की सहायता न करें उन्हें काट दो, जो जिह्वा परनिंदा में लगी रहे उसे काट दो, जिस आंख में करुणा के आंसू न हों उसे फोड़ दो । इस प्रकार स्वयं अपने आचरण की समीक्षा करते हुए पुरुषार्थी और सदाचारी बनकर यशस्वी बनें ।

संसार में सर्वश्रेष्ठ बनने के लिए मनुष्य को उच्चकोटि का ज्ञान, स्वस्थ शरीर, स्वस्थ मस्तिष्क और उत्कृष्ट मनोबल चाहिए । ज्ञानी, विद्वान, सदाचारी, परोपकारी और उदारमना व्यक्ति ही मनुष्यों में अपना सर्वोच्च स्थान बना सकता है । इसी से वह दैवी गुणों में वृद्धि करते रहने का साहस कर सकता है और पाप कर्मों के प्रलोभन से अपने को बचा सकता है । दैवी गुणों से दिव्यता आती है तथा सुशीलता, वर्चस्विता, तेजस्विता और प्राण शक्ति में वृद्धि होती है । करुणा, प्रेम, दया, उदारता, सरसता, शिष्टता, विनय के प्रभाव से उसके व्यक्तित्व में निखार आता है और वह समाज में अद्वितीय, अनुपम एवं अग्रणी होने का सम्मान पाता है ।

दीर्घायु प्राप्त करने का यही साधन है ।

मा नो हेतिर्विवस्वत आदित्याः कृत्रिमा शरुः ।
पुरा नु जरसो वधीत् ॥

(ऋग्वेद ८/६७/२०)

भावार्थ-हमारा जीवन इस प्रकार हो कि हम पूर्ण आयु प्राप्त करें । हमारी अकाल मृत्यु न हो इसलिए हम संयमित जीवन जिएं ।

संदेश-मनुष्य के शरीर और मन में शक्तियों का अकूत भंडार भरा पड़ा है । उनको नष्ट होने से बचाया जा सके और उस बचत का सदुपयोग किया जा सके तो अभीष्ट दिशा में आशाजनक सफलताएं प्राप्त की जा सकती हैं । इस तथ्य को न समझकर हम अपनी बहुमूल्य शक्तियों का निरर्थक अपव्यय करते रहते हैं और ईश्वर प्रदत्त शक्ति भंडार को खोकर खोखला, रुग्ण, अशक्त और असफल जीवन जीते हुए मौत के दिन गिना करते हैं ।

शरीर और मन अपने-अपने आहारों द्वारा शक्तियों का निरंतर उत्पादन करते रहते हैं और हमारा सामर्थ्य भंडार बराबर बढ़ता रहता है । इस उत्पादन को यदि अपव्यय से बचाकर रचनात्मक दिशा में प्रयुक्त किया जा सके तो निस्संदेह किसी भी क्षेत्र में आशाजनक प्रगति की जा सकती है । संयम का अर्थ है शक्तियों के अपव्यय को रोकना । यह अपव्यय अधिकतर हमारी इंद्रियों द्वारा ही होता है । इनमें सबसे प्रमुख हैं जीभ और जननेंद्रिय ।

जीभ के द्वारा हम निरर्थक बकवास, निंदा, चुगली, शेखी तथा गप्पें हांकने में अपनी शक्तियों का नाश करते हैं । यदि जीभ को असत्य व कटु न बोलने के संयम से बांध दिया जाए तो हमारी वाणी आश्चर्यजनक रूप से प्रभावशाली हो सकती है । उसे

आशीर्वाद व वरदान देने की भी क्षमता प्राप्त हो जाएगी । मौन को तप माना गया है । तपस्वियों जैसा मौन रहना तो हर एक के लिए संभव नहीं है पर अनर्गल बकवास पर तो नियंत्रण रखा ही जा सकता है । उतना ही नपा तुला बोलें जो अपने तथा दूसरों के लिए आवश्यक एवं हितकर हो ।

जीभ का दूसरा असंयम है चटोरापन । विकृत जायके के लिए हम अवांछनीय, अभक्ष्य पदार्थ खाते रहते हैं । स्वाद की उत्तेजना में हम खा तो अधिक जाते हैं पर वह पचता नहीं । अपच से शरीर में जो सड़न पैदा होती है वह पाचन तंत्र को कमजोर करती है और दुर्बलता को जन्म देती है । यही अंततः शरीर के विभिन्न अंगों में पहुंचकर विभिन्न रोगों को उत्पन्न करती है । 'स्वाद से स्वास्थ्य आवश्यक है' यह तथ्य हम भूल जाते हैं और उसका दुष्परिणाम भुगतते हैं ।

जननेंद्रिय का संयम तो सबसे महत्वपूर्ण है । इसका असंयम शरीर के सार तत्व को नष्ट कर देता है । इस सार तत्व से ही शरीर में ओजस, चेहरे पर चमक, वाणी में प्रभाव, आंखों में ज्योति, मस्तिष्क में मेधा और स्वभाव में साहस का प्रवाह होता है । इस सार तत्व का जितना भी अपव्यय होता है, मनुष्य शारीरिक व मानसिक दृष्टि से उतना ही दुर्बल होता जाता है । कामुक व्यक्ति न निरोग रह सकता है और न दीर्घ जीवन का आनंद उठा सकता है ।

संयम अर्थात शक्तियों का संचय । असंयम अर्थात सामर्थ्य की बरबादी । यह मोटा तथ्य है कि बरबादी से मनुष्य दिवालिया हो जाता है और जो थोड़ा-थोड़ा बचाता रहता है, वह बूंद-बूंद से ही अपना घड़ा भर लेता है ।

अपाङ्प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो
मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्तान्यन्यं
चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ॥

(ऋग्वेद १/१६४/३८) अथर्व वेद ९/१०/१६

भावार्थ-जीवात्मा अमर है और शरीर प्रत्यक्ष नाशवान । संपूर्ण शारीरिक क्रियाओं का अधिष्ठाता आत्मा है क्योंकि जब तक शरीर में प्राण रहता है तब तक वह क्रियाशील रहता है । इस आत्मा के संबंध में बड़े-बड़े पंडित और मेधावी व्यक्ति भी नहीं जानते । इसे ही जानना मानव जीवन का प्रमुख लक्ष्य है ।

संदेश-आत्मा और शरीर के बीच जो गूढ संबंध है उससे सभी मानव सदैव ही चकित एवं भ्रमित रहते हैं । यह आत्मा कहां से आती है और शरीर की मृत्यु के पश्चात कहां चली जाती है, यह सदैव ही विवादित रहा है । गीता ने आत्मा की अमरता के बारे में स्पष्ट रूप से कहा है कि आत्मा को कोई शस्त्र छेद या काट नहीं सकता, कोई आग उसे जला नहीं सकती, पानी गला नहीं सकता और वायु उसे सुखा नहीं सकती । इससे स्पष्ट है कि शरीर का तो अंत होता है पर उसकी मृत्यु होने पर भी आत्मा का अंत नहीं होता । आत्मा तो अजन्मा है, नित्य है और सदा रहने वाला है । शरीर के नाश होने पर भी आत्मा का असितत्व बना रहता है ।

आत्मा और शरीर विपरीत प्रकृति के होते हुए भी साथ-साथ रहते हैं । कठोपनिषद के ऋषि का कथन है कि शरीर एक रथ के

समान है जिसमें घोड़े जुते होते हैं । घोड़ों की लगाम सारथि के हाथ में होती है जो उन्हें चलाता है जबकि रथ का स्वामी पीछे बैठा रहता है । उसी के निर्देश पर सारथि रथ को चलाता है । शरीर रथ है, इंद्रिय घोड़े हैं, मन लगाम है और बुद्धि सारथि है । आत्मा इस रथ का स्वामी है, अतः जिधर वह कहे उधर ही बुद्धि को चलना चाहिए । इसी के अनुसार मन और इंद्रियों को कार्य करना चाहिए । जब यह क्रम चलेगा तो आत्मा अपने गंतव्य स्थान पर पहुंच जाएगा अन्यथा वह पता नहीं किन-किन योनियों में भटकता रहेगा ।

आत्मा और शरीर में अमरता व नश्वरता का विरोधाभास है फिर भी दोनों में अटूट संबंध है । शरीर के जीवित रहते तक आत्मा उसे नहीं छोड़ती भले ही मनुष्य आत्मा की कितनी ही उपेक्षा क्यों न करे । जीवन की व्यावहारिकता के लिए अध्यात्मवाद और संसारवाद दोनों की ही आवश्यकता है । भौतिक सुख-साधन भी चाहिए, शरीर एवं इंद्रियों को उचित आहार भी चाहिए और साथ ही आत्मशक्ति के संवर्धन का भी प्रयास होना चाहिए । हमें प्रतिदिन, प्रतिक्षण अपने कार्यों की समीक्षा करते हुए अपनी चित्त वृत्तियों का संशोधन करते रहना चाहिए । इंद्रिय संयम को जीवन की आवश्यक दिनचर्या बना लेना चाहिए । शारीरिक स्वास्थ्य के साथ-साथ मानसिक स्वास्थ्य का भी विशेष ध्यान रखना चाहिए । दोनों के स्वस्थ रहने पर ही आत्मा में शुद्ध एवं पवित्र विचारों का जन्म होता है ।

इस सत्य को भली भांति हृदयंगम करके अपने आचरण में लाने से ही इस शरीर की उपयोगिता है ।

जुषस्व सप्रतस्तमं वचो देवप्सरस्तमम् ।
हव्या जुह्वान आसनि ॥

(ऋग्वेद १/७५/१)

भावार्थ-शारीरिक और आत्मिक सुख प्राप्त करना चाहते हो तो अपने आहार विहार और चेष्टाओं में सादगी रखो, ब्रह्मचारी बनो ।

संदेश-शारीरिक सामर्थ्य मानव जीवन की महती आवश्यकता है । स्वास्थ्य के बिना कोई गति नहीं । धन, विद्या, पद, सम्मान आदि के उपार्जन में जो श्रम करना पड़ता है वह अस्वस्थ व्यक्ति के लिए संभव नहीं । आवश्यक कर्तव्यों की पूर्ति एवं महत्वाकांक्षाओं की दिशा में प्रगति वही कर सकते हैं जो स्वस्थ और निरोग हों । शारीरिक समर्थता के लिए यह आवश्यक है कि स्वस्थता और पुष्टता बढ़ाने में समुचित सतर्कता बरती जाए ।

व्यक्तिगत स्वास्थ्य के लिए आहार, विहार, श्रम एवं संयम चारों की आवश्यकता होती है । इनमें से एक के भी गड़बड़ा जाने से अस्वस्थता की विपत्ति आ दबोचेगी । अपनी इंद्रियों को संयम से वश में रखने पर ही शारीरिक एवं आत्मिक सुख प्राप्त हो सकता है । इंद्रियां तो आत्मा के औजार हैं, सेवक हैं । परमात्मा ने उन्हें इसलिए प्रदान किया है कि उनके द्वारा आत्मा की आवश्यकताएं पूरी हों और सुख मिले । सभी इंद्रियां बड़ी उपयोगी हैं और उनका कार्य जीव को उत्कर्ष एवं आनंद प्रदान करना है । यदि इंद्रियों का सदुपयोग किया जाए तो मनुष्य निरंतर जीवन के मधुर रस को चखता हुआ अपना जीवन सफल बना सकता है ।

इंद्रियों का उपयोग पाप नहीं है । सच तो यह है कि अंत:करण की भूख को तृप्त करने का वे एक उत्तम साधन हैं । जैसे पेट की भूख-प्यास को न बुझाने से शरीर दुर्बल हो जाता है वैसे ही सूक्ष्म शरीर की ज्ञानेंद्रियों की क्षुधा को उचित रीति से तृप्त न किया जाए तो आंतरिक क्षेत्र का संतुलन बिगड़ जाता है और अनेक प्रकार की मानसिक गड़बड़ी पैदा होने लगती है । आजकल अधिकांश व्यक्ति इंद्रियों की वासना के गुलाम बने हुए हैं । बेकाबू हुई वासना अपने स्वामी को खा जाती है।

आत्म नियंत्रण ही स्वर्ग का द्वार है और इसका मूल मंत्र है आत्म संयम । इससे मनुष्य अपने दैवी गुणों को विकसित करके दैवी ज्ञान और शांति प्राप्त करता है । जो व्यक्ति आत्म संयम के परम गौरव का अनुभव नहीं करता, इसकी निस्सीम आवश्यकता को नहीं समझता वह आध्यात्मिक स्वतंत्रता और वैभव को नहीं ण सकता । इससे वह कुवासनाओं का दास बना रहता है । इंद्रियों के कुमार्गगामी होने का सबसे प्रधान कारण भांति-भांति के प्रलोभन होते हैं । जीवन में आने वाले बहुत से मायावी प्रलोभन इतने मनमोहक, लुभावने और मादक होते हैं कि वे हमें विवेकशून्य, अदूर्दर्शी और विक्षिप्त बना देते हैं और हम विषय वासना, आर्थिक लाभ, स्वार्थ आदि प्रलोभनों के शिकार हो जाते हैं । हमें प्रबल इच्छा शक्ति के द्वारा आत्म संयम की साधना करनी चाहिए और 'सादा जीवन उच्च विचार' को अपना आदर्श बना लेना चाहिए ।

आत्म संयम पुण्यपथ की प्रथम सीढ़ी है । इसी से सद्‌गुणों की प्राप्ति होती है । सच्चे तथा सुव्यवस्थित धार्मिक जीवन की यह सर्वप्रथम आवश्यकता है ।

दधिष्वा जठरे सुतं सोममिन्द्र वरेण्यम् ।
तव द्युक्षास इन्दवः ॥

(ऋग्वेद ३/४०/५)

भावार्थ-हमारा आहार ऐसा हो जिससे हमारी बुद्धि, अवस्था और बल में निरंतर वृद्धि होती रहे ।

संदेश-भोजन के बिना जीवन असंभव है । प्रत्येक व्यक्ति को अपने भोजन पर विशेष ध्यान देना चाहिए । भोजन जितना ही शुद्ध, सादा और सात्विक होगा उतना ही स्वास्थ्यवर्धक होगा । गीता में यह स्पष्ट कहा गया है कि आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाला एवं चिकने और रस युक्त, स्थिर रहने वाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय लगने वाले पदार्थ सात्विक होते हैं । हमें सदैव सात्विक एवं संतुलित आहार ही ग्रहण करना चाहिए । ठूंस-ठूंस कर खाने की अपेक्षा अल्पाहारी होना चाहिए । गौतम बुद्ध का भी यह उपदेश है कि 'एक बार हल्का आहार करने वाला महात्मा है, दो बार संयमपूर्वक खाने वाला बुद्धिमान है और इससे अधिक बार बार खाने वाला अभागा, महामूर्ख और पशु के समान है ।' इसी से कहा है 'एक बार योगी, दो बार भोगी, तीन बार रोगी ।' जिह्वा का संयम सबसे आवश्यक संयम है । भक्ष्य-अभक्ष्य, उचित-अनुचित का ध्यान रखकर ही हमें अपना आहार निश्चित करना चाहिए । उसमें सात्विक भोजन व फलों का समावेश अवश्य करना चाहिए । इनसे जीवन में सात्विकता, सहनशीलता और आध्यात्मिकता की वृद्धि होती है तथा अन्य सभी इंद्रियां भी वश में रहती हैं ।

आहार संयम का एक बड़ा ही सरल साधन है सप्ताह में एक दिन अस्वाद व्रत । अस्वाद का अर्थ है स्वाद का गुलाम न होना । इसका अर्थ यह नहीं है कि हम संसार के भोज्य पदार्थों का सेवन ही न करें और अपनी जीभ की स्वाभाविक शक्ति को ही समाप्त कर दें ।

अस्वाद व्रत का तात्पर्य है कि शरीर के पोषण, स्वास्थ्य एवं रक्षा के लिए जिन पदार्थों की आवश्यकता हो उनका सेवन करने में कसर न रखी जाए। हां, केवल जीभ के चोंचले पूरे करने के लिए किसी भी वस्तु का सेवन न करें। जीभ को सदैव अपने वश में रखें। इसी का अभ्यास करने के लिए सप्ताह में एक दिन नमक व चीनी के बिना भोजन करें। प्राकृतिक फलों का सेवन करें।

सात्विक व संयमित आहार को अपनाने से शारीरिक, आर्थिक या सामाजिक किसी प्रकार की भी हानि नहीं होती, अपितु लाभ ही लाभ रहता है। जहां आहार की सात्विकता आवश्यक है वहां नियमित और व्यवस्थित आचरण के बिना भी काम नहीं चलता। स्वास्थ्य की दृष्टि से नियमितता का बड़ा भारी महत्व है। समय पर सोना, जागना व नहाना आदि दैनिक क्रियाएं की जानी चाहिए। नित्य कर्मों में बरती जाने वाली अस्त-व्यस्तता स्वास्थ्य को चौपट करके रख देती है। कई व्यक्ति बड़े आलसी होते हैं और अपनी दिनचर्या का कोई क्रम ही नहीं रखते। चाहे जो करते रहते हैं। न खाने का समय है, न नहाने का, न सोने का और न शौच आदि का। सब कुछ उलटा-पुलटा रहता है। शरीर की संचित ऊर्जा इस दुराचार को कुछ समय तक तो झेलती रहती है। जवानी के जोश में कुछ पता नहीं चलता पर ३५-४० वर्ष की आयु तक पहुंचते-पहुंचते शरीर तरह-तरह के रोगों का घर बन जाता है। कहीं कहीं तो यह स्थिति हो जाती है कि जवानी का आरंभ भी नहीं हुआ और बुढ़ापे ने आ घेरा।

उचित आहार विहार से ही जीवन रस में प्रगाढ़ता आती है जो हमारी मेधा बुद्धि को एवं शारीरिक व आत्मिक बल को बढ़ाकर हमें दीर्घ जीवन प्रदान करती है।

शतं वो अम्ब धामानि सहस्त्रमुत वो रुहः ।
अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मेऽअगदं कृत ॥

(यजुर्वेद १२/७६)

भावार्थ-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का प्रमुख साधन मनुष्य का शरीर है, इसीलिए उचित आहार, संयमित विहार और आचरण में पथ्य का ध्यान रखकर अपना आरोग्य स्थिर रखना चाहिए । रोग रहित शरीर ही सर्व सुखों का मूल है ।

संदेश-स्वर्ग और मुक्ति का आनंद इसी जीवन में संभव है पर होता यह है कि हम अपने जीवन लक्ष्य को ठीक से समझ ही नहीं पाते और उसे प्राप्त करने के हमारे सारे प्रयास गलत दिशा में चलते रहते हैं । हमारे जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का पुरुषार्थ स्वस्थ शरीर के द्वारा ही संपन्न हो सकता है । शारीरिक स्वास्थ्य को बनाए रखकर ही हम जीवंत रह सकते हैं । अस्वस्थ, रुग्ण और दुर्बल तो अर्धमृतक समान ही होते हैं । देहगत पीड़ा तो रहती ही है, साथ में असमर्थता और असफलता की व्यथा भी मनोबल को तोड़ती है । स्वास्थ्य के संबंध में उपेक्षा बहुत मँहगी पड़ती है ।

स्वास्थ्य दवा दारू पर निर्भर नहीं है । वह पैसों से भी नहीं खरीदा जा सकता । कीमती पदार्थों का सेवन करके आरोग्य रक्षा की बात सोचना भी मूर्खता है । यह तो आहार, विहार, श्रम व संयम पर ही निर्भर है । प्रकृति के आदेशानुसार चलना, प्राकृतिक आहार-विहार को अपनाना, प्राकृतिक जीवन व्यतीत करना ही स्वास्थ्य को ठीक रखने और बढ़ाने का राजमार्ग है । अप्राकृतिक, अस्वाभाविक, कृत्रिम तथा आडंबर और विलासितापूर्ण जीवनचर्या से लोग बीमार पड़ते हैं और अल्पायु में ही काल के ग्रास बन जाते

हैं । संसार के सारे जीव-जंतु, पशु-पक्षी प्रकृति के नियमों पर ही आचरण करते हैं, फलस्वरूप कभी बीमार नहीं पड़ते । यदि कभी दुर्घटनावश या आपसी लड़ाई में घायल भी हो जाएं तो स्वत: ही प्रकृति माता की कृपा से ठीक भी हो जाते हैं । जो पशु-पक्षी मनुष्य के चंगुल में फँस गए है उन्हीं के लिए पशु चिकित्सालयों की आवश्यकता होती है ।

पर यह मनुष्य ही एक महामूर्ख जानवर है जो गलत आचरण, असंयम और अनियमितता के कारण स्वयं बीमारियों को आमंत्रित करता है । यह आहार-विहार की असावधानी, आलस्य, प्रमाद आदि का ही परिणाम है । प्रकृति ने मनुष्य को विश्व का सबसे सुंदर, शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक शक्तियों से संपन्न स्वस्थ, सुडौल और दीर्घजीवी प्राणी बनाया है । आरोग्य और उत्तम स्वास्थ्य का बड़ा ही सरल और सीधा मार्ग रखा है । जहां तक भी संभव हो प्राकृतिक आहार ही लेना चाहिए । अग्नि का जितना कम संपर्क होगा, उतना ही भोजन के सार तत्व जीवित रहेंगे और शरीर को पुष्टता प्रदान करेंगे । पके हुए, मौसम के अनुरूप सस्ते फल, कच्ची सब्जियां, अंकुरित अनाज और उबला या भाप में पकाया भोजन हर दृष्टि से उत्तम, सात्विक व पौष्टिक होता है ।

स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क रह सकता है और उसमें पवित्र एवं मधुर विचार आते हैं, मन प्रसन्न एवं शुभ कल्पनाओं से परिपूर्ण रहता है । काम में जी लगता है, आलस्य या उदासी नहीं सताती और हृदय मुस्कराते हुए फूलों के समान उल्लास से भरा रहता है ।

'युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु' का आदर्श सदैव हमारा मार्गदर्शक रहना चाहिए ।

ऋजीते परि वृङ्ग्धि नोऽश्मा भवतु नस्तनूः ।
सोमोअधि ब्रवीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु ।।

(यजुर्वेद २९/४९)

भावार्थ-जिस प्रकार मनुष पृथ्वी पर अपना घर बनाकर निवास करता है, उसी प्रकार शरीर भी जीवात्मा का घर है । अतः इसे ब्रह्मचर्य, सात्विक अन्न, पथ्य और संयम द्वारा सदैव स्वस्थ व नीरोग रखें ।

संदेश-मानव शरीर का महत्व इसी बात से समझा जा सकता है कि भगवान को भी संसार का उद्धार करने के लिए इसी शरीर में अवतार लेना पड़ता है । वैसे भी समस्त जीव-जंतुओं में मनुष्य की शरीर रचना सर्वश्रेष्ठ है । परमात्मा ने जो इतना सर्वगुण संपन्न शरीर मनुष्य को दिया है उसका भी विशेष प्रयोजन है । ईश्वर ने सृष्टि की शांति, सुव्यवस्था, समृद्धि, सुंदरता और प्रगति के लिए मनुष्य को अपने सहायक एवं सहचर के रूप रचा है । अपनी सारी विभूतियां और विशेषताएं इसमें भर दी हैं, जिससे वह इन पुण्य प्रयोजनों का ठीक तरह से निर्वाह कर सकने में पूरी तरह समर्थ रहे । यही नहीं, परमात्मा स्वयं ही प्रत्येक मनुष्य के शरीर में जीवात्मा के रूप में विराजमान रहता है और उसका मार्गदर्शन करता रहता है । यह बात अलग है कि मनुष्य इतना मूर्ख है कि अपनी आत्मा की उपेक्षा, अवहेलना और अवज्ञा करके स्वयं अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारता है ।

इस शरीर को, आत्मा के निवास स्थान को स्वच्छ, पवित्र और निरोग रखने का दायित्व मनुष्य का है । इससे उसका लाभ भी है और प्रभु कृपा भी सरलता से प्राप्त होती है । अच्छा स्वास्थ्य अनमोल संपत्ति है । इससे कपोलों पर गुलाबी छटा, मुखमंडल पर

आभा और तेज, आंखों में ज्योति तथा इंद्रियों, मन और आत्मा में प्रसन्नता रहती है । यदि शरीर स्वस्थ नहीं तो धन-धान्य, ऐश्वर्य, विद्या, बुद्धि आदि किस काम के ? एक व्यक्ति धन-धान्य से पूर्ण है, महान विद्वान है, उसका यश तथा कीर्ति भी चारों ओर फैल रहा है परंतु यदि उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं है तो उसका जीवन भार स्वरूप है । लौकिक उन्नति के लिए तो स्वास्थ्य की आवश्यकता होती ही है, पारलौकिक उन्नति के लिए भी इसका महत्व कम नहीं है । रोगी व्यक्ति ईश्वर चिंतन भी नहीं कर सकता । स्वास्थ्य के बिना दोनों लोक बिगड़ जाते हैं । यहां तो जीवन कष्ट में कटता ही है, उत्तम कर्म न करने से अगला जन्म भी बिगड़ जाता है । मनुष्य न घर का रहता है न घाट का । उसे चाहिए कि वह खूब उन्नति करे, धन कमाए, पदार्थों का संग्रह करे पर स्वास्थ्य को हाथ से न जाने दे । ऐसे धन से क्या लाभ यदि हम अपना भोजन भी नहीं पचा सकते ? जीना है तो स्वस्थ रहकर जिएं अन्यथा जीने का कोई लाभ नहीं ।

स्वस्थ रहने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना और शुद्ध व सात्विक आहार लेना चाहिए । अंडे, मांस, मछली, बीड़ी, शराब आदि नशीली व हानिकारक वस्तुओं का सेवन तो कभी भी नहीं करना चाहिए । इन वस्तुओं के सेवन से मनुष्य जंगली और अशिष्ट बनता है । व्यायाम तो दैनिक दिनचर्या का अंग होना चाहिए । मन और विचारों को भी सदैव शुद्ध और पवित्र रखना चाहिए तथा सदाचार का पालन दृढ़तापूर्वक करना चाहिए । स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति आकर्षण का केंद्र बन जाता है और उसकी आत्मा का प्रकाश चारों ओर फैलकर उसके यश व कीर्ति को बढ़ाता है ।

अयं लोकः प्रियतमो देवानाम पराजितः ।
यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे ॥
स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः ॥

(अथर्व वेद ५/३०/१७)

भावार्थ-मानव देह अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है । बंधन मुक्ति की संपूर्ण शक्तियां और साधन इसमें विद्यमान हैं । इसलिए मनुष्य को ऐसा आहार, विहार, विचार और व्यवहार बनाना चाहिए जिसमें पूर्ण आयुष्य का उपभोग कर सकें ।

संदेश-चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद आत्मा जब इस मानव शरीर को प्राप्त करती है तो उसके लिए उन्नति के सारे मार्ग स्वतः ही खुल जाते हैं । इस शरीर में जो शक्तियां और साधन हैं उनका समुचित उपयोग करके भवसागर से मुक्त होने में देर नहीं लगती । परमात्मा ने मनुष्य को जो सौ वर्ष का जीवन काल दिया है उसका पूर्ण उपभोग करते हुए लोकहित के कार्यों को संपन्न कर सकने की सामर्थ्य उसे ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त हो सकती है ।

ब्रह्मचर्य का प्रायः संकुचित अर्थ वीर्य रक्षा और काम वासना पर नियंत्रण समझा जाता है । पर यह तो उसका केवल एक पक्ष मात्र ही है । ब्रह्मचर्य का अर्थ है ईश्वर चिंतन, वेदाध्ययन, ज्ञानोपार्जन और वीर्य रक्षा । ब्रह्म कहते हैं ब्रह्मा को, महानता को और चर्य का अर्थ है विचरना । महानता में विचरना, महान होना, महानता का आचरण करना ब्रह्मचर्य का व्यापक अर्थ है । महानता के लिए यह आवश्यक है कि हम ईश्वर के दिव्य गुणों का चिंतन करें और उन्हें धारण करने का प्रयास करते रहें । वेदों तथा अन्य सद्ग्रंथों का अध्ययन करते हुए सत्यज्ञान को प्राप्त करें । अपनी मेधा बुद्धि को विकसित करके

उचित-अनुचित, नीति-अनीति का निर्णय करने का विवेक जागृत करें । पर यह सब तभी संभव है जब वीर्य रक्षा के द्वारा उत्तम स्वास्थ्य सुनिश्चित कर लिया जाए । जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है उसमें दैवी तेज भरा रहता है, नेत्र ज्योति तीक्ष्ण हो जाती है, गाल गुलाबी हो जाते हैं और चेहरा ओजस व तेजस की आभा से देदीप्यमान रहता है । हृष्ट-पुष्ट शरीर, प्रसन्नता, दृढ़ता, साहस और धैर्य इसी से प्राप्त होते हैं ब्रह्मचर्य के द्वारा हम अपनी शक्तियों को बिखरने से बचाकर एकत्रित कर सकते हैं और जीवन को महानता के मार्ग पर ले चलने में उसका सदुपयोग कर सकते हैं ।

मनुष्य को अपनी उन्नति के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए । पर यदि इसके व्यापक अर्थ को देखें तो समाज को भी ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है । आज सारा समाज अशक्त, विशृंखलित और संकुचित हो रहा है । चारों ओर स्वार्थपरता, असमर्थता, अश्लीलता, व्याकुलता, भय, क्षय के ही लक्षण दिखाई पड़ते हैं । इसका कारण है कि व्यक्ति की ही तरह समाज में भी ब्रह्मचर्य का लोप हो रहा है जिससे उसकी शक्तियां क्षीण होकर इधर-उधर बिखर रही हैं । देवासुर संग्राम में जब देवत्व की पराजय होने लगी थी तो परमात्मा ने सभी बिखरी हुई शक्तियों को एकत्रित करके एक प्रचंड शक्ति को प्रकट किया था जिसका नाम था-दुर्गा । आज भी जहां व्यक्ति के लिए ब्रह्मचर्य के द्वारा अपनी बिखरी हुई शक्तियों को संग्रहीत करना आवश्यक है वहीं समाज को भी ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए एकता, सहकारिता, सद्भावना और सद्गुणों की शक्ति को एकत्रित करना है । शरीर, मन, आत्मा, समाज और राष्ट्र सभी को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए ।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व राभरत् ॥

(अथर्व वेद ११/५/१९)

भावार्थ-जिस प्रकार सूर्य भगवान अपने प्रकाश से अंधकार दूर करके उत्तम पदार्थ प्रकट करते हैं उसी प्रकार मनुष्य को चाहिए कि वह ब्रह्मचर्य के द्वारा रोग, आलस्य, निर्धनता आदि को हटाकर मोक्ष सुख प्राप्त करें ।

संदेश-'तमसो मा ज्योतिर्गमय', संसार में चारों ओर फैले अज्ञान के अंधकार को दूर करके दिव्य प्रकाश फैलाना ही मानव जीवन की सार्थकता है । इसका मुख्य आधार है ब्रह्मचर्य । इसीसे सतोगुणी ऋतंभरा बुद्धि का विकास होता है जो तत्व और अतत्व का, सत्य और असत्य का, श्रेय और अश्रेय का निर्णय करने की क्षमता प्रदान करती है । इसी के दिव्य प्रकाश में यह विचार करना सरल हो जाता है कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं ? यह विवेक बुद्धि हमारे आहार-विहार को सात्विक रखती है । संयम, सादगी, श्रमशीलता की प्राकृतिक दिनचर्या से बल-वीर्य बढ़ता है, शरीर सक्रिय रहता है और दीर्घायु को प्राप्त होता है । जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है उसके मन में अपरिग्रह, परमार्थ, सेवा, त्याग, सहिष्णुता, दया, सहानुभूति, मैत्री, करुणा, नम्रता, धर्म, श्रद्धा, ईश्वरपरायणता आदि की भावना जागृत होती है । ब्रह्मचर्य शारीरिक शक्ति, मानसिक तेज और आत्मिक बल की अभिवृद्धि करता है और मृत्यु को भी परास्त कर देता है ।

भोग विलास की दलदल में फँसा हुआ मनुष्य किसी संयमी ब्रह्मचारी के दिव्य सुख की कल्पना भी नहीं कर सकता । माया मोह के जंजाल में फंसा हुआ मनुष्य क्या जाने कि 'जो मजा

फकीरी में है वह अमीरी में कहां'। ब्रह्मचर्य कहते हैं इंद्रिय संयम को। इसकी सर्वोत्तम साधना तो गृहस्थाश्रम में ही होती है। राम, कृष्ण, शंकर, पारवती, सीता सभी गृहस्थ थे और ब्रह्मचर्य के उच्चतम आदर्श के प्रतीक थे। पारिवारिक दायित्वों का निर्वाह करते हुए संयम और सादगी की अनुपम दिनचर्या का उदाहरण हमें उनके जीवन में मिलता है। यह ब्रह्मचर्य की शक्ति का ही कमाल था कि राज्याभिषेक और बनवास दोनों को ही राम ने समभाव से स्वीकार किया। न राज्य पाने को कोई उल्लास और न ही वन जाने का कोई दुख। सीता ने भी उसी मर्यादा को निभाया। कृष्ण का तो सारा जीवन ही ब्रह्मचर्य का एक प्रयोग मात्र ही था। चाहे ग्वाल बालों का साथ हो या गोपियों के संग रासलीला, राजनीति के दाँव पेंच हों या युद्ध का मैदान, हर जगह उनका संयम देखते ही बनता है। मन का, वाणी का और कर्म का ऐसा सुंदर नियंत्रण क्या ब्रह्मचर्य के बिना संभव है ? ब्रह्मचर्य विश्व की महानतम शक्ति है।

विश्व रहस्य जानने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। भोग से रोग पैदा होते हैं और परमात्मा में ध्यान नहीं लगता। ब्रह्मचर्य से ज्ञान प्राप्ति की अभिलाषा पैदा होती है और आध्यात्मिक विकास होता है।

ब्रह्मचर्य से मनुष्य का आत्मिक बल तो बढ़ता ही है, साहस, सहनशीलता, निर्भयता और निरोगता में भी वृद्धि होती है। वह शांत, एकाग्र और कर्तव्यनिष्ठ बनता है। आलस, प्रमाद और निर्धनता उसके पास फटक ही नहीं पाते। वह सदैव पुरुषार्थ में संलग्न रहता है और अपना तथा समाज का हित साधन करता रहता है। इसी से मानव शरीर की सार्थकता है।

सूयवसाद् भगवती हि भूया
अधा वयं भगवन्तः स्याम् ।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं
पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥

(अथर्व वेद ९/१०/२०)

भावार्थ-जिस प्रकार गायें घास खाकर और स्वच्छ जल पीकर संसार को दूध घी आदि उत्तम पदार्थ देती हैं, हे मनुष्यों! उसी प्रकार तुम भी सात्विंक आहार ग्रहण कर सदैव संसार का उपकार करो ।

संदेश-भारतीय धर्म ग्रंथों ने गाय को सबसे पवित्र एवं पूज्य माना है और उसे गौमाता के श्रेष्ठ आसन पर प्रतिष्ठित किया है। गौ-रक्षा, गौ-पालन और गौ-पूजा को सर्वाधिक महत्व दिया है। मानव जाति को मां के समान ही प्रेम, स्नेह और वात्सल्य भरे अनुदान गौमाता से ही मिलते हैं । मानवी स्वास्थ्य-सुरक्षा के लिए गौ-दुग्ध एक सर्वश्रेष्ठ पौष्टिक आहार है । जितने उपयोगी खनिज, लवण, रोग-निरोधक, बलवर्धक जीवन तत्व गाय के दूध में हैं, उतने किसी में नहीं मिलेंगे। आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार भी गाय का दूध शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक सभी दृष्टि से सर्वोत्तम है। यह सतोगुणी पेय है और इसके उपयोग से मनुष्य में आध्यात्मिक सद्गुणों की वृद्धि होती है ।

घी-दूध ही नहीं, गाय हमें गोबर व गौमूत्र भी प्रदान करती है जो रोग कीटाणुओं का नाश करने में और कृषि कार्य में अत्यंत उपयोगी है । मरने के बाद भी उसकी खाल मनुष्य के काम आती है । इस प्रकार गाय का सारा जीवन मानव जीवन के उत्थान के पारमार्थिक कार्यों में ही बीतता है । 'सादा जीवन उच्च विचार'

का सर्वश्रेष्ठ आचरण गाय के जीवन में देखा जा सकता है । अपनी आवश्यकताएं कम से कम और संसार का भला अधिक से अधिक ।

मनुष्य भी यदि इस आदर्श को अपने आचरण में धारण कर ले तो यह धरती स्वर्ग बन जाए । भोजन की सादगी और सात्विकता का इसमें सबसे अधिक महत्व है । क्या खाएें ? कितना खाएें ? कब खाएें ? क्यों खाएें ? और कैसे खाएें ? ये कुछ मूल प्रश्न हैं जिन पर हमें सदैव ध्यान रखना चाहिए । भोजन करना मनुष्य का परम पुनीत दायित्व है । ईश्वर द्वारा प्रदत्त इस शरीर को परिपुष्ट रखने की यह यज्ञीय प्रक्रिया है और भोजन करना एक पवित्र यज्ञ कर्म है । यज्ञ कुंड में आहुति देते समय जिस श्रेष्ठता, पवित्रता और प्रसन्नता का भाव हमारे मन में रहता है उसी भाव से भोजन के ग्रास को मुंहमें डालना चाहिए । ऐसी मानसिकता से खाया पिया शरीर में लगता है और पवित्र आध्यात्मिक गुणों की वृद्धि करता है । रूखा-सूखा भोजन भी जब प्रेम व संतोष के साथ ग्रहण किया जाता है तो वह अमृत के समान मधुर हो जाता है । शुद्ध, सात्विक, सादा और ताजा भोजन हमारे शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के लिए हितकर होता है । 'जीने के लिए खाओ, खाने के लिए मत जिओ, स्वाद के लिए मत खाओ' यही बुद्धिमानी की बात है ।

इस प्रकार के सात्विक आहार से ब्रह्मयर्च पालन का संकल्प सरलता से साधा जा सकता है । मनुष्य के रोम-रोम में उत्साह एवं उल्लास की लहरें उठती रहती हैं तथा परोपकार के कार्यों में तन-मन-धन अर्पण करने का साहस जागता है ।

सात्विक आहार ही श्रेष्ठ जीवन का आधार है ।

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः ।
उशतीरिव मातरः ॥

(ऋग्वेद १०/९/२)

भावार्थ-जल मनुष्य के लिए कल्याणकारी होता है । इसके सेवन से बाह्य और आंतरिक मल विक्षेप दूर होते हैं ।

संदेश-मातृत्व की गरिमा संतान के कल्याण में ही निहित है । न जाने कितने कष्ट झेलकर भी मां अपनी संतान के उत्तम स्वास्थ्य व संस्कारों के प्रति सजग रहती है । सद्‌गुणी एवं सुसंस्कारी संतान से ही स्त्री का सौभाग्य चमकता है । गर्भ धारण से लेकर उसके जन्म तक और फिर शेष सारे जीवन वह अपने बच्चों के कल्याण में ही लगी रहती है । इसी प्रकार परमपिता परमेश्वर भी सदैव अपने प्रिय पुत्रों के कल्याण की कामना से ही संसार चक्र को गतिमान रखता है । वह सृष्टि के सभी जीव-जंतुओं, पशु-पक्षियों, मनुष्यों के लिए माता के समान ही सुखदायी है । वही सबके भरण-पोषण की व्यवस्था करता है । परमात्मा के असंख्य अनुदानों में जल का महत्व सर्वाधिक है और यह सबके लिए कल्याणकारी है ।

वेद में जल को जीवन और अमृत कहा गया है । जल में आरोग्यता प्रदान करने का अद्‌भुत औषधीय गुण है तथा यह हर प्रकार के रोगों को नष्ट कर सकता है । जल चिकित्सा का आयुर्वेद में बड़ा भारी महत्व है । मनुष्य के शरीर में भी जल का भाग सत्तर प्रतिशत है । मस्तिष्क में तो नब्बे प्रतिशत जल होता है और ठोस हड्डियों में भी पच्चीस प्रतिशत । मनुष्य का शरीर भी पांच तत्वों से मिलकर ही बना है-जल, थल, पावक, गगन, समीरा ।

इस धरती की सारी शोभा जल से ही है । ये मनोरम हरियाली, मनमोहक महकते फूलों के पौधे, स्वादिष्ट फलों से लदे हुए वृक्ष,

घी, दूध, दही, मक्खन आदि सब जल की कृपा से ही उत्पन्न होते हैं । पहाड़ों के दुर्लभ खनिजों का टानिक पीकर परिपुष्ट जल जब खेतों में पहुंचता है तो धरती सोना उगलने लगती है । संसार के सारे क्रियाकलाप जल देवता की कृपा पर आधारित हैं। कण-कण में जल भगवान की सत्ता विद्यमान है । पानी में बड़े-बड़े गुण हैं और यह हमारे जीवन का अमृत है ।

शुद्ध व शीतल जल का सेवन करने से शरीर के सभी प्रकार के मल विक्षेप दूर हो जाते हैं। प्रातःकाल उठते ही उषःपान का विधान आयुर्वेद में किया गया है। जो व्यक्ति सूर्योदय से पूर्व उठकर आठ अंजलि, लगभग दो गिलास पानी पीता है वह सदैव निरोगी रहता है । मल ठीक प्रकार से साफ हो जाता है, मन प्रसन्न रहता है, भूख खुलकर लगती है और पाचन तंत्र उत्तम रीति से कार्य करता है । उषःपान से अनेक शारीरिक रोग व निर्बलता नष्ट हो जाते हैं। मुख से जल पीने के स्थान पर यदि नाक से जल पीने का अभ्यास कर लिया जाए तो यह स्वास्थ्य के लिए अति उत्तम होता है । यह नेत्र ज्योति व बुद्धि को बढ़ाकर बुढ़ापे को दूर भगाता है ।

शरीर शुद्धि के लिए स्नान तो परम आवश्यक है । प्रतिदिन का स्नान बल, पुष्टिवर्धन, आरोग्यता और स्वास्थ्य का संपादन करता है। इससे देह में स्वच्छता और स्फूर्ति बनी रहती है । शुद्ध व शीतल जल में स्नान करने से शरीर का मैल, पसीना व थकावट दूर हो जाती है । यह शारीरिक बल को बढ़ाकर ओजस्विता व दीर्घायुष प्रदान करता है । गर्म जल से स्नान जहां तक संभव हो नहीं करना चाहिए । ठंडे पानी से नहाना ही स्वास्थ्य के लिए श्रेयस्कर है ।

जल ही जीवन है ।

यदद्य सूर उदितेऽनागा मित्रो अर्यमा ।
सुवाति सविता भगः ॥

(सामवेद १३५१)

भावार्थ-प्रातःकालीन प्राणवायु सूर्योदय के पूर्व तक निर्दोष रहती है । अतः प्रातःकाल जल्दी उठकर इस प्राणवायु का सेवन करना चाहिए । इससे स्वास्थ्य और आरोग्य स्थिर रहता है तथा धन की प्राप्ति होती है ।

संदेश-प्रकृति में हर प्रकार की विचित्रता और प्रचुरता है। आनंद, स्वास्थ्य, आरोग्य की तो हम सीमा ही नहीं पा सकते । स्वास्थ्य की इस अधिकता का रसपान करके ही संसार के सारे पशु-पक्षी, जीव-जंतु अपने जीवन का आनंद उठाते हैं । जल, वायु, प्रकाश, भोजन से सार तत्व खींचकर वे दीर्घ जीवन का सुख लूटते हैं ।

परमात्मा ने इस प्रकृति के कण-कण में, पत्तियों, फलों, फूलों तथा जल की प्रत्येक बूंद में आरोग्य को भरा है । वायु के प्रत्येक अंश को जिसे हम भीतर खींचते हैं, जल के प्रत्येक घूंट में जिसे हम पीते हैं, फल, अन्न और तरकारियों के कण-कण में हमारे लिए असीम स्वास्थ्य और बल संचित है । प्रकृति के पास जीवन के सर्वांगीण विकास और पुष्टता के लिए हर प्रकार के उपकरण मौजूद हैं ।

जीवन का प्रारंभ प्रतिदिन ब्रह्ममुहूर्त्त में जागने से ही होता है । सभी पशु पक्षी ब्रह्ममुहूर्त में जागकर, अपने आलस्य को त्याग कर दैनिक क्रियाकलापों में व्यस्त हो जाते हैं । प्रातः उठने के अनेक लाभ हैं । प्रातः की वायु स्वास्थ्यप्रद व दोषरहित होती है । इसे 'प्राणवायु' और 'वीर वायु' भी कहते हैं । इसके सेवन से बल की वृद्धि होती है, मुख की कांति बढ़ती है, मन सदा प्रसन्न रहता है,

बुद्धि तीव्र होती है । शरीर के समस्त अंग निरोग रहते हैं । प्रातः उठने से शरीर में स्फूर्ति व चुस्ती आती है । इसके विपरीत जो लोग दिन चढ़े तक सोते रहते हैं वे नाना प्रकार की व्याधियों में फँसे रहते हैं । आलस्य और प्रमाद बढ़ जाता है । दिन भर सुस्ती रहती है और किसी काम में मन ही नहीं लगता ।

प्रातःकाल ऊषादेवी अपने दोनों हाथों से स्वास्थ्य, आरोग्यता, बुद्धि, बल और दीर्घायु के अनुदान-वरदान बांटती है । उस मधुर बेला में जो जागते हैं वही उन्हें पा सकते हैं । 'जो जागत हैं सो पावत हैं, जो सोवत हैं सो खोवत हैं ।' मानव के दैनिक जीवन का प्रारंभ इस पुनीत प्रभात की बेला में ही होता है । इस मंद पवित्र पवन के झोंके शरीर के रोम-रोम को स्फूर्ति से भर देते हैं और जीवन के निर्माण, उत्थान और विकास के लिए उत्साह का संचार करते हैं । मन में आगे बढ़ने और कुछ कर दिखाने की ललक जागृत होती है । प्रातःकाल का सुंदर, मधुर और नयनाभिराम वातावरण, पक्षियों का चहचहाना, पशुओं की अठखेलियां, हमारे अंतःकरण में नव चेतना और नव जीवन की ज्योति प्रज्ज्वलित कर देते हैं ।

प्रकृति के इस वरदान से हम अपने को कभी भी वंचित न करें । पशु-पक्षी सभी ब्रह्ममुहूर्त में जागकर इस प्राणवायु का सेवन करते हैं और कभी भी बीमार नहीं होते । ब्रह्ममुहूर्त्त में उठना मनुष्य के स्वास्थ्य, मन, बुद्धि व आत्मा सभी के लिए परम उपयोगी है । यह शरीर में संजीवनी शक्ति का संचार करती है ।

जो व्यक्ति शारीरिक, मानसिक व आत्मिक उन्नति चाहते हैं उन्हें ब्रह्ममुहूर्त में, प्रातः चार बजे के लगभग, बिस्तर छोड़कर खुली वायु में अवश्य आ जाना चाहिए ।

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा ।
स नो जीवातवे कृधि ॥

(सामवेद १८४१)

भावार्थ-वायु जीवन है, आरोग्यदाता है अतः प्रातःकाल उठकर प्राणदायक वायु का नियमित सेवन करें । यह पिता, भाई और मित्र के समान सुख देता है ।

संदेश-संसार में वास्तविक सुंदरता प्रकृति में ही है । हम कृत्रिम प्रसाधनों से अपने सौंदर्य को बढ़ाने के चाहे जितने प्रयास कर लें पर प्रकृति के संसर्ग से हमारे शरीर को जो स्वास्थ्य, पुष्टता व सौंदर्य प्राप्त होता है वह देखते ही बनता है । प्रकृति के नियमों का अनुसरण करने से, व्यायाम और प्राकृतिक भोजन से शरीर की मांसपेशियों का संतुलित विकास होता है और अंग-अंग से सौंदर्य की आभा फूटती है । प्रातःकाल सूर्योदय से पहले ही उठकर सुखदायी प्राणवायु का नियमित सेवन और व्यायाम करने से मनुष्य निरोगी व दीर्घजीवी होता है । यदि हम बलवान, शक्तिशाली और वीर बनना चाहते हैं तो हमें यह नियमित दिनचर्या अपनानी चाहिए ।

नियमितता का बड़ा महत्व है । दो-चार दिन सुबह उठ लिए, थोड़ी-बहुत कसरत भी कर ली और फिर सब बंद । इस तरह तो लाभ के स्थान पर उलटे हानि ही होगी । नित्य, निश्चित समय पर उठने और व्यायाम करने का अभ्यास डालना चाहिए । नियमित व्यायाम एक बहुत ही अच्छी आदत है जिसका शारीरिक ही नहीं मानसिक बलवर्धन पर भी आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ता है । परिश्रमशील होकर दिन भर थकाने वाली कड़ी मेहनत करना अच्छी नींद लाने और खुलकर भूख लगने के लिए सबसे अच्छी

और सस्ती दवा है । पर व्यायाम का तो चमत्कार ही और है । इसका प्रभाव केवल शरीर संचालन तक सीमित नहीं, वरन वह स्वभाव और मनोबल के परिष्कार की भी सुविधा प्रस्तुत करता है । दिन भर लोहा पीटने वाले लोहार की अपेक्षा अखाड़े में दो घंटे कसरत करने वाला पहलवान अधिक परिपुष्ट होता है । इसका कारण व्यायाम के साथ जुड़ी हुई उत्साहवर्धक भावना है । उस समय यह मान्यता रहती है कि हम स्वास्थ्य साधना कर रहे हैं और इस आस्था का मनोवैज्ञानिक एवं चमत्कारी प्रभाव हमारे स्वास्थ्य पर पड़ता है ।

व्यायाम और खेलकूद में नियमित रूप से भाग लेने से शरीर पत्थर के समान दृढ़ होकर सुंदर व सुडौल बन जाता है । भूख-प्यास, गरमी-सरदी आदि को सहने की शक्ति उत्पन्न होती है । व्यायाम से पुट्ठों को शक्ति मिलती है, फेफड़े मजबूत होते हैं, रक्त शुद्ध होता है, बुद्धि तीक्ष्ण होती है और आयु दीर्घ होती है । जो भी खाया-पिया जाता वही पचकर शरीर का अंग बन जाता है । रोग और बुढ़ापा उसके पास नहीं आते, मृत्यु भी दूर भागती है । देश, काल और समय के अनुरूप देशी व सस्ते व्यायाम, खेल एवं योगासन करने चाहिए । विदेशों की नकल करके क्रिकेट, टेनिस आदि मंहगे खेलों की ओर भागना राष्ट्र के प्रति अपराध है । इसका यह भी अर्थ नहीं है कि हर समय व्यायाम या खेल में ही लगे रहें । अपनी आवश्यकतानुसार अवधि निश्चित करके प्रातः प्राणवायु का सेवन तथा व्यायाम स्वास्थ्य के लिए सर्वोत्तम है । सायंकाल भी कुछ खेल या टहलने का श्रम किया जा सकता है । पर इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि चाहे थोड़ा ही हो पर नियमित हो ।

नियमित दिनचर्या जीवन में सुखदायी होती है ।

ईयुष्टे ये पूर्वतराम
पश्यन्व्युच्छन्तीमुषसं मर्त्यासः ।
अस्माभिरु नु प्रतिचक्ष्याभूदो
ते यन्ति ये अपरीषु पश्यान् ॥

(ऋग्वेद १/११३/११)

भावार्थ-जो मनुष्य ऊषाकाल में शयन से उठकर परमात्मा का ध्यान करते हैं, ईश्वर उन्हें बुद्धिमान और धार्मिक बनाता है । जो स्त्री-पुरुष परमात्मा की साक्षी में मधुर संबंध बनाए रखते हैं उन्हें भगवान सदैव सुखी रखते हैं ।

संदेश-समस्त प्राकृतिक तत्वों में वायु बहुत सूक्ष्म है । पृथ्वी, जल, अग्नि की अपेक्षा वायु की सूक्ष्मता बहुत अधिक है । इसी से इसका गुण और प्रभाव भी अधिक है । अन्न और जल के बिना तो कुछ समय मनुष्य जीवित रह सकता है पर वायु के बिना एक क्षण भी काम नहीं चल सकता । शरीर के अन्य तत्वों के विकार इतने हानिकारक नहीं होते जितने वायु के विकार । गंदी, अशुद्ध, सीलन भरी, दुर्गंधयुक्त वायु के विषैले वातावरण में सांस लेना भी कठिन होता है और दम घुटने लगता है । दिन भर तो कार्य-व्यापार के संबंध में हमें न जाने कहां कहां जाना होता है और शुद्ध वायु का सेवन भी कठिनता से ही हो पाता है । ऐसे में सर्वसुलभ प्रातःकालीन प्राणवायु की अवहेलना करके मुंह ढांके सोते रहना परले दरजे की मूर्खता ही है ।

प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में उठकर नित्यकर्म से निवृत होकर प्राणवायु का सेवन करने के साथ व्यायाम और ईश-चिंतन भी करना चाहिए । यह सारा संसार, यह अद्भुत प्रकृति, फल-फूल,

अन्न, जल सब उस परमपिता परमेश्वर ने हमारे उपयोग के लिए ही उत्पन्न किए हैं । उस प्रभु का ध्यान करके उसके प्रति आभार प्रकट करना और उसके दिव्य निर्देशों को पालन करने का संकल्प लेना ही ईश-चिंतन है । किसी मंदिर में जाकर फल-फूल, जल, दूध आदि मूर्ति पर चढ़ा देना, धूप-दीप दिखा देना और घंटा बजाकर माथा टेकना या नाक रगड़ना ईश्वर भक्ति नहीं है । यह तो मात्र कौतुकपूर्ण दिखावा भर है । जीवन का सदुपयोग इसी में है कि ईश्वरीय आदेशों का उचित रीति से पालन हो । आसुरी प्रवृत्तियां हमारे दैनिक कार्यों में हस्तक्षेप न करने पावें । हमारे व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक सभी कार्य दैवी गुणों से प्रेरित हों । स्वार्थ, लोभ, मोह, क्रोध आदि राक्षस हमें न सताएं । यही वास्तविक ईश चिंतन है ।

जीवन का सदुपयोग हमारी सबसे महत्वपूर्ण समस्या है । दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता का तकाजा है कि उसे सुलझाया जाए । इसके लिए प्रातःकाल का समय सर्वश्रेष्ठ होता है । कुछ समय तक प्रभु चिंतन करने से जीवन लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दिव्य संदेश प्राप्त होता है । जो भी दोष-दुर्गुण हैं वे दूर होते हैं तथा सद्‌गुणों की वृद्धि होती है । मन से दुष्ट विचार और पाप भावना दूर होती है । प्रातः बेला में प्रकृति के संसर्ग से ईश्वर की सर्वव्यापक सत्ता से सीधा संबंध जुड़ता है और मन में पवित्र, मधुर और सुंदर विचार तरंगें उठती हैं ।

इस प्रकार के धार्मिक आचरण से प्रभु कृपा का वरदान मिलता है और मनुष्य सारे दिन प्रफुल्लता व उल्लास के साथ अपने दैनिक कार्यों को करते हुए सुख, शांति, यश व कीर्ति प्राप्त करता है ।

वाङ्म आसन्नसो: प्राणश्चक्षुरक्ष्णो: श्रोत्रं कर्णयो: ।
अपलिता: केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् ॥

(अथर्व वेद १९/६०/१)

भावार्थ-मेरे मुख से वायु शक्ति, नासिका से प्राणशक्ति, आंखों से दृष्टि, कानों से श्रवण शक्ति कभी नष्ट न हो । बाल श्वेत न हों, दांत शुभ्र बने रहें और भुजाओं में बल हो ।

संदेश-भारतीय परंपरा के अनुरूप मानव जीवन चार भागों में विभक्त है । इसी को आश्रम व्यवस्था कहते हैं । परमात्मा ने मनुष्य को सौ वर्ष की आयु प्रदान की है और २५-२५ वर्ष के चार खंड करके इसे हमारे ऋषियों ने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में विभाजित कर दिया है । २५ वर्ष ब्रह्मचर्य, विद्याध्ययन और शरीर पुष्टि के लिए । २५ वर्ष पारिवारिक उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए, २५ वर्ष परिवार को स्वावलंबी व सुसंस्कृत बनाते हुए आत्मविकास और लोकमंगल की संयुक्त साधना के लिए । अंतिम २५ वर्ष घर परिवार की मोह ममता से छुटकारा पाकर परिभ्रमण करते हुए राष्ट्र के लिए, परमात्मा के लिए अपना पूर्णतया समर्पण करने हेतु । जीवन काल का ऐसा वैज्ञानिक और व्यावहारिक विभाजन क्रम प्राचीनकाल की तरह आज भी प्रासंगिक और उपयोगी है ।

परमात्मा की कृपा से हमें सौ वर्ष की पूर्ण आयु प्राप्त हो जाए तो क्या इतना भर ही पर्याप्त होगा ? इस दीर्घ आयु का सुख भोग करने के लिए शरीर के अंग-प्रत्यंग में परिपूर्ण पुष्टता एवं निरोगिता आवश्यक है तभी तो जीवन का सुख है । अन्यथा रोगी शरीर को जिंदा लाश की तरह सौ वर्ष तक ढोना अपने आप में कठोर दंड के

समान ही होगा । इसी से मनुष्य का यह दायित्व है कि वह अपना खान-पान, आचरण, व्यवहार आदि इस प्रकार का रखे कि दीर्घ जीवी होने के साथ शारीरिक रूप से भी पूरी तरह स्वस्थ रहे । आंख, कान, नाक, दांत, बाल आदि सभी सौ वर्ष तक पूरी क्षमता से कार्यरत रहें और जीवन शक्ति में किसी भी प्रकार की कमी न आने पावे ।

चलो ठीक है, भगवान की कृपा से सौ वर्ष की आयु के साथ शारीरिक स्वास्थ्य भी परिपूर्ण हो गया । क्या इतने से बात बन जाएगी और जीवन लक्ष्य प्राप्त हो जाएगा ? नहीं, अकेले शारीरिक स्वास्थ्य से क्या होगा । इससे भी अधिक महत्व तो मानसिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य का है। इनके अभाव में शारीरिक शक्ति का उसी तरह दुरुपयोग होता रहेगा जैसे रावण, दुर्योधन आदि ने किया । स्वार्थ, मोह, लोभ के आगे संसार में कुछ दिखाई ही न देगा । सारी शक्ति इसी में लगेगी कि संसार में जो कुछ भी है वह सारी संपत्ति हमें मिल ही जाए। सारी सुख सुविधाएं हमारे ही अधीन हो जाएं । पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा के वशीभूत होकर संसार में दूसरों का शोषण करने की प्रवृत्ति बढ़ेगी । सर्वत्र लूट-खसोट, मार-पीट का वातावरण बनेगा। शारीरिक शक्ति का प्रयोग इसी रूप में होगा कि जिसकी लाठी उसी की भैंस । तृष्णा में फंसा हुआ व्यक्ति न तो स्वयं सुखी रह सकेगा और न दूसरों को सुख से जीने देगा ।

व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक जीवन में सुख, शांति, समृद्धि व संतोष प्राप्त करने के लिए शारीरिक स्वास्थ्य के साथ मानसिक, आत्मिक व आध्यात्मिक स्तर भी उत्कृष्ट होना चाहिए । इन्हीं सत्प्रयासों के आधार पर हम जीवन लक्ष्य को पा सकते हैं।

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु
वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम् ।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्च-
तस्त्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम ॥

(अथर्व वेद ५/३/१)

भावार्थ-विश्व संग्राम में विजय के लिए शरीर पुष्ट और मजबूत होना आवश्यक है । दुर्बल शरीर में वह शक्ति व तेज नहीं होता जिससे शासन और नेतृत्व किया जा सके ।

संदेश–मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । पारस्परिक सहकारिता और उदारता के भावनात्मक सद्‌गुणों से वह विभूषित है । एक दूसरे को अपना बौद्धिक और क्रियात्मक सहयोग देकर वह ज्ञान, अनुभव, साधन, उत्पादन, चिंतन एवं विकास के अनेकानेक द्वार खोल लेता है और प्रगति के पथ पर बढ़ सकता है । परंतु प्रत्येक व्यक्ति ऐसा नहीं कर पाता । समाज में दुष्ट, दुर्गुणी व दुराचारी प्रवृत्ति के लोग भी रहते हैं जो एक दूसरे को सहयोग देना तो दूर उलटे हानि पहुंचाने का ही उपक्रम करते रहते हैं। कुविचारों, कुसंस्कारों और कुप्रथाओं को ही बढ़ावा देते हैं और सर्वत्र अराजकता फैलाते रहते हैं । सरकार कुछ अपराधियों को दंड दे सकती है, आर्थिक प्रगति के कुछ साधन भी जुटा सकती है परंतु व्यक्तिगत मूढ़ता एवं दुष्टता को, सामाजिक भ्रष्टता एवं अस्त-व्यस्तता को मिटा सकना उसके बूते की बात नहीं है ।

प्रजातंत्र में व्यक्ति और समाज सुधार का दायित्व लोकसेवियों का होता है । उन्हीं को इस मोर्चे पर समाज का नेतृत्व करना होता है । वही व्यक्ति, समाज व राष्ट्र का स्तर ऊपर उठाने में समर्थ हो सकते हैं । इसके लिए पहले अपना व्यक्तित्व उच्चकोटि का

बनाना होता है जिससे दूसरों पर उचित प्रभाव पड़ सके । स्वयं अपने आचरण के द्वारा समाज के सामने आदर्श उपस्थित करना होता है । दूसरों के कष्ट व असुविधाओं को देखते हुए स्वयं अपनी सुविधाओं में कटौती करनी होती है । सभी से शिष्टता और सभ्यता भरा मधुर व्यवहार करना, मीठे वचन बोलना, वचन का पालन करना, प्रामाणिकता की रीति-नीति अपनाना, समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों को ठीक प्रकार से निभाने का आदर्श प्रस्तुत करना होता है । समाज में व्याप्त कुरीतियों को पलटना बड़ा कठिन होता है । स्वयं अपने आचरण से समाज में स्वस्थ परंपराओं का प्रचलन करने का गुरुतर भार भी उठाना होता है । समाज को सुधारने, संचालित करने और स्वस्थ परंपराओं को प्रचलित करने के लिए सतत संघर्ष करना होता है ।

नेतृत्व की ऐसी क्षमता विकसित करने के लिए शारीरिक व आत्मिक बल की आवश्यकता होती है । शरीर हृष्ट-पुष्ट व निरोग होना सबसे महत्वपूर्ण है । गांधी जी कितने दुबले-पतले थे पर उनमें शरीर बल और आत्मबल का जो तेज था उससे सारा संसार चकाचौंध हो गया था । प्रबल आत्मशक्ति से ही वह साहस उत्पन्न होता है जो समाज में प्रचलित कुप्रथाओं से जूझने में समर्थ बनाता है । हर ओर से विरोध होता है । लोग उपहास व असहयोग करते हैं । पानी के प्रवाह से उलटी दिशा में तैरने का पुरुषार्थ करना होता है । परिपुष्ट स्वास्थ्य से ही व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों स्तरों पर सभ्य, सुव्यवस्थित लोगों की तरह भौतिक एवं आत्मिक प्रगति का सुख संतोष प्राप्त हो सकता है ।

विश्व संग्राम में विजय का यही राजमार्ग है ।

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा,
अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः पृतिबुध्यमाना,
वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥

(अथर्व वेद १२/१/६२)

भावार्थ-हे मातृभूमि ! हम तुम्हारी गोद में पलते हैं और तेरी ही गोद में आरोग्यकारक पदार्थ प्राप्त करते हैं । इसलिए समय आने पर तेरे लिए बलिदान देने से भी पीछे न हटें ।

संदेश-माता तो हमें केवल जन्म ही देती है पर यह मातृभूमि तो हमारा लालन-पालन, पोषण, रक्षण सभी कुछ करती है । यही हमें रहने के लिए आश्रय प्रदान करती है । अन्न, जल, वायु, फल, औषधि, वनस्पति, पशु, धन सब हमें इस स्नेहमयी मां से ही मिलता है । इसके स्वास्थ्यकारी संरक्षण में रहकर ही हम शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति करते हैं । वास्तव में हमारे जीवन का सारा आधार ही इस मातृभूमि पर है । इसके अपार उपकारों की कोई सीमा ही नहीं है और इस मातृ-ऋण को चुकाने का प्रयास करना हमारा कर्तव्य है ।

हे परमेश्वर ! हम 'प्रतिबुध्यमान' हों, उत्तरोत्तर अधिक ज्ञानवान हों, आत्म जागृति से युक्त हों और मातृभूमि के प्रति अपने दायित्वों का तन-मन-धन से निर्वाह करते रहें ।

इस धरती माता के प्रति हमारा एक कर्तव्य तो पर्यावरण संतुलन बनाए रखने का है । हम हर प्रकार के खनिज, वनस्पतियों व औषधियों का धरती से दोहन करते रहते हैं पर उसके पोषण की ओर ध्यान ही नहीं देते । यही नहीं, चारों ओर तरह-तरह की

गंदगी फैला कर दिन-रात और भी अधिक प्रदूषण फैलाते रहते हैं। हमारे इस अज्ञान पर, स्वार्थपूर्ण आचरण पर धिक्कार है। धरती माता के प्रति यह घोर पाप है और हमें तत्काल इसका प्रायश्चित करना चाहिए। यह समय की पुकार है जिसे अनसुना करके हम स्वयं अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मार रहे हैं। वृक्षारोपण और वृक्षों का संरक्षण धरती पर जीवन रक्षा के लिए सबसे आवश्यक तत्त्व हैं। इस तथ्य की अवहेलना करके हम स्वयं ही अपने सर्वनाश को आमंत्रित कर रहे हैं।

मातृभूमि की रक्षा में प्राणों को हंसते-हंसते बलिदान कर देना भारत के राष्ट्रभक्तों की गरिमामय परंपरा रही है। परंतु आज के राजनेता, धर्माचार्य, बुद्धिजीवी सभी स्वार्थ में अंधे होकर देश को लूटने और बेच देने में भी नहीं हिचक रहे हैं। हमारा कर्तव्य बोध कब जागृत होगा ? कब हमें सद्बुद्धि आएगी और हम अपना सर्वस्व मातृभूमि के श्री चरणों में समर्पित करने को उद्यत होंगे ? भावनात्मक नवनिर्माण की आवश्यकता का महत्व समझने वाले और उसके लिए कुछ त्याग-बलिदान करने की हिम्मत रखने वाले ही मातृभूमि का यह ऋण चुका सकते हैं। जिनके अंतःकरण में देश भक्ति, समाज सेवा, परमार्थ एवं लोकमंगल के लिए कुछ करने की उमंग भरी भावनाएं लहरा रही हों, ऐसे ही नर रत्न अपना जीवन धन्य करते हैं और अपने समय की महत्वपूर्ण भूमिका संपादित करते हैं।

राष्ट्र को आज ऐसे सपूतों की आवश्यकता है जो धार्मिकता के सहारे भावनात्मक नव निर्माण की दिशा में जुट सकें, गृहस्थ में रहते हुए भी साधु-ब्राह्मण की परंपरा को निभा सकें। इसी से